सौन्दर्य-तत्त्व

[मूल बँगला से अनूदित सौन्दर्य-शास्त्र]

मूल-लेखक
सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

●

रूपान्तरकार तथा भूमिका-लेखक
आनन्दप्रकाश दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

ग्रंथ-संख्या	२२१
प्रथम संस्करण	सं० २०१७ वि०
मूल्य	३२-००
प्रकाशक तथा विक्रेता	भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
मुद्रक	लीडर प्रेस, इलाहाबाद

समर्पण

स्वर्गीय आत्मा को
सादर
कृतांजलि

हमारी योजना

'सौन्दर्य तत्त्व' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का बीसवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी वाङमय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं---एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे---जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे वे ग्रन्थ जिनका अनुसंधान के साथ---उसके सिद्धांत और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ---प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं---(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्य-शास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, तथा (७) काव्य-कला (होरेसकृत)। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं---(१) मध्य-कालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधा-वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिली-शरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता तथा (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन

ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। (१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, तथा (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम वर्ग का ही आठवाँ प्रकाशन है। बँगला के प्रसिद्ध तत्त्वविद् डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के इस प्रसिद्ध ग्रन्थ के हिन्दी रूपान्तर के साथ हमारी योजना अब यूरोपीय भाषाओं के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। रूपान्तरकार इस शास्त्र के मर्मज्ञ हैं और बँगला-साहित्य में उनकी अच्छी गति है। हमारा विश्वास है कि प्रस्तुत अनुवाद से हिन्दी काव्यशास्त्र के विद्यार्थी को चिंतन के लिए एक नई दिशा प्राप्त होगी।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

—नगेन्द्र
(अध्यक्ष)

अनुक्रम

प्रस्तावना	..	..	१
भूमिका	..	..	५
धन्यवाद तथा क्षमा-याचना	..	..	५९
पहला अध्याय	..	..	६५
दूसरा अध्याय	..	..	९८
तीसरा अध्याय	..	..	१५४
उपसंहार	..	..	२२८
पारिभाषिक शब्दावली	..	..	२७९
नामानुक्रमणिका	..	..	२८२
शुद्धि-पत्र	..	..	२८७
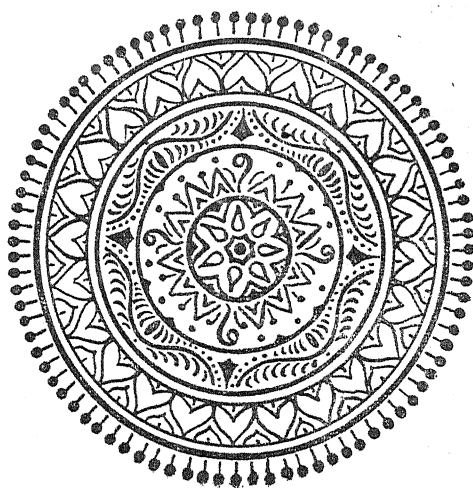
प्रस्तावना

स्वर्गीय प्रो० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त विश्व के एक प्रमुख दार्शनिक तथा भारतीय दर्शन और साहित्य के मान्य विद्वान् थे। कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस की ओर से पाँच खण्डों में प्रकाशित उनका 'भारतीय दर्शन का इतिहास' नामक ग्रंथ भारतीय दर्शन के प्रति उनकी एक विशिष्ट देन है। भारत के प्रमुख दार्शनिक मतों के अतिरिक्त साहित्य तथा आयुर्वेद सम्बन्धी उनके विशेष अध्ययन का परिणाम अनेक अँग्रेजी तथा बँगला ग्रंथों में प्रकाशित हो चुका है। विशेषतः एक दार्शनिक के रूप में ही अधिक ख्यात होने पर भी उनका अध्ययन केवल दर्शन-शास्त्र तक ही सीमित न था। ज्ञान की शाखाओं-प्रशाखाओं के अध्ययन के प्रति अदम्य पिपासा के साथ ही उनमें अद्भुत कार्य-क्षमता भी विद्यमान थी। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था। उनकी इन विशेषताओं और भिन्नमुखी रुचि के फलस्वरूप ही उनका ज्ञान-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। वे कहा करते थे कि जीवन के आरंभिक वर्षों में संस्कृत भाषा और साहित्य तथा विज्ञान में उनकी समान रुचि थी। एक ओर वे संस्कृत भाषा की सांगीतिकता से प्रभावित थे और दूसरी ओर जीव तथा शरीर-विज्ञान, कला और साहित्य के प्रति भी उनकी आजन्म एक-सी रुचि बनी रही। इसी कारण जहाँ उन्हें एक ओर गंभीर ज्ञान था वहाँ दूसरी ओर जीवन-सम्बन्धी समस्याओं के प्रति उनमें उदार और गंभीर अन्तर्दृष्टि भी थी। अपने अगाध पाण्डित्य तथा अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर ही वे अपने स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना में सफल हुए। उनकी प्रबल इच्छा थी कि वे विभिन्न दार्शनिक मतों तथा तत्त्वज्ञान, तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और समाजशास्त्र सम्बन्धी समस्याओं पर अन्य विचारकों के मतों की आलोचना के प्रकाश में दो खण्डों में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते। अपने देश के दर्शन का इतिहास प्रस्तुत करना भी वे अपने जीवन का पुण्य कर्त्तव्य मानते थे। इसी कर्त्तव्य के निष्ठापूर्वक परिपालन के कारण वे अपनी इच्छा को क्रियात्मक रूप न दे सके और जीवन के अन्तिम क्षणों तक 'भारतीय दर्शन का इतिहास' का पाँचवाँ

खण्ड लिखते रह गये। दुर्भाग्यवश उन्हें यह अवसर ही न मिल सका कि वे अपनी वर्षों की साधना को लिखित रूप दे सकें।

अँग्रेजी तथा बँगला की अनेक रचनाओं में वर्षों तक उनके निबंध प्रकाशित होते रहे हैं। उन स्फुट निबन्धों को संकलित करके उनके विचारों को सूत्र-बद्ध किया जा सकता है। श्री म्यूरहैड तथा राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित 'कांटम्पोरेरी इण्डियन फ़िलासफ़ी' में 'डिपेण्डेण्ट इमर्जेन्स' शीर्षक लेख में उन्होंने अपने दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की है और बँगला में तद्विषयक अनेक लेख लिखे हैं। उनकी मृत्यु के उपरान्त ला जर्नल प्रेस, इलाहाबाद से उनकी पुस्तक 'दि रिलीजन एण्ड रेशनल आउटलुक' का प्रकाशन हुआ है। इसमें उन्होंने धर्म और सदाचरण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस प्रकार अनेक स्थलों से उनके विचार एकत्र किये जा सकते हैं।

बँगला भाषा में वे 'सौन्दर्य-तत्त्व' की सन् १९४०-४१ में ही रचना कर चुके थे। इसमें उन्होंने पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों के सौन्दर्य संबंधी विचारों की विशद व्याख्या सहित अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रथम अध्याय में उन्होंने प्राचीन भारतीय सौन्दर्य-शास्त्रियों की धारणाओं का स्पष्टीकरण करते हुए सौन्दर्य का गंभीर और मार्मिक विवेचन किया है। इसके साथ ही उन्होंने अपने मौलिक विचारों को भी प्रस्तुत किया है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें समस्त प्रचलित धारणाओं को आत्मसात् करके उन्हें मौलिक रूप में उपस्थित करने की अद्भुत क्षमता थी। अन्य अध्यायों में क्रोचे, कांट, रस्किन, टॉल्सटॉय तथा बॉमगार्टन प्रभृति विद्वानों के विचारों की स्पष्ट और सुबोध आलोचना करते हुए उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं। चतुर्थ अध्याय में कला तथा कला-बोध के संबंध में भारतीय-दृष्टि का बहुत ही रोचक वर्णन किया गया है। भारतीय दर्शन के अधिकारी विद्वान् होने के नाते वे शताब्दियों से प्रचलित भारतीय दर्शन-वेत्ताओं के विचारों को सफलतापूर्वक उपस्थित कर सके हैं। उन्होंने भारतीय कला के प्रसंग में सौन्दर्य-विषयक मूल भारतीय विचारों और तत्वों की सुस्पष्ट व्याख्या की है। बँगला भाषा में यह अध्याय पृथक् रूप में 'प्राचीन भारतीय चित्रकला' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इटली में भारतीय कला पर दिये गये उनके व्याख्यान, जो उनकी मृत्यु के उपरान्त भारतीय विद्या-भवन, बम्बई से 'फण्डामेंटल्स आव इण्डियन आर्ट' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं, इसी पर आधारित थे। उनके इस प्रकार यत्र-तत्र बिखरे हुए विचारों को उनकी जीवनी में एकत्र करने की आवश्यकता है। उनकी शिष्या और धर्मपत्नी के रूप में उनके जीवन और सिद्धान्त-विषयक इस पुण्यकार्य की पूर्णता का उत्तरदायित्व मुझ पर है।

इसी बीच श्री आनन्दप्रकाश दीक्षित, प्राध्यापक गोरखपुर विश्वविद्यालय, ने उनके इस ग्रंथ का हिन्दी रूपान्तर भी उपस्थित कर दिया है। इस प्रकार के ग्रंथों के अनुवाद करते समय पाठकों की सुबोधता के लिए मूल पुस्तक में व्यक्त विचारों के दार्शनिक रहस्य और पारिभाषिक शब्दावली के मर्म को ग्रहण करने और शब्दानुवाद मात्र से बचकर चलने की जिस सावधानी की आवश्यकता है, उसकी ओर मैंने दीक्षित जी का ध्यान पहले ही आकर्षित कर दिया था। मुझे आशा है कि उनके द्वारा किया गया यह अनुवाद इस विषय में रुचि रखनेवाले पाठकों के लिये लाभदायी सिद्ध होगा।

डॉ० दीक्षित ने जिस उत्साह तथा आदर के साथ इस कठिन कार्य को पूरा करने और हिन्दी पाठकों के हितार्थ इस महत्वपूर्ण ग्रंथ को सुलभ बनाने का प्रयत्न किया है, उसके लिए वे सराहना के पात्र हैं। अपनी अस्वस्थता में भी उन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य को मनोनिवेशपूर्वक सम्पादित किया है, इसके लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देती हूं। इस प्रकार के महत्वपूर्ण कार्यों के पूरे हो जाने से जो आत्मतोष होता है, वही उनका पारितोषिक भी होता है।

दर्शन विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

—सुरमा दासगुप्त

भूमिका

पाश्चात्य विचार

भारतवर्ष में काव्य को लेकर जिस प्रकार अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार योरोप में कला की चर्चा के साथ सुन्दर की चर्चा भी अनिवार्य और विशद रूप से हुई है। योरोप में हुई सुन्दर की अत्यधिक चर्चा के कारण मैक्स-मूलर जैसे भारतीय-साहित्य के जानकारों ने भी कभी-कभी यह कह दिया है कि भारत में सौन्दर्य की चर्चा ही नहीं हुई है। प्रस्तुत ग्रंथ में डॉ० दासगुप्त ने सौन्दर्य-विषयक योरोपीय मतों की भारतीय मतों के सांकेतिक निर्देश के साथ विशद रूप से आलोचना-पर्यालोचना की है। भूमिका-भाग में हम उनके विवेचन का सार उपस्थित करते हुए भारतीय दृष्टि की अपनी ओर से कुछ विशेष चर्चा करना चाहते हैं।

सौन्दर्य-विवेचन के प्रधानतः दो मुख्य आधार माने गये हैं। विभाव और आश्रय, ज्ञेय और ज्ञाता, प्रमेय और प्रमाता। कला और काव्य का सम्बन्ध वस्तुजगत् से है और साथ ही स्रष्टा की आत्मा से भी। उसके एक कोने को वस्तुजगत् दबाये हुए है और दूसरे को कलाकार। विवेचकों के किसी पक्ष ने कभी विभाव या वस्तु को आधार मानकर सुन्दर को वस्तुगत मान लिया है और कभी प्रमाता या स्रष्टा पर ध्यान जमा लेने पर उसके अन्तर से ही सुन्दर का नाता जोड़ दिया गया है। कभी बाह्य की प्रधानता रही है और कभी आन्तर-बोध की। कभी वस्तुजगत् में ही सुन्दर की प्रतिष्ठा कर दी गई है और कभी उसे आन्तर-सत्य के रूप में प्रस्तुत करके आध्यात्मिक दृष्टि से आलोचना का विषय बनाया गया है। इस सम्बन्ध में मध्यम-मार्ग का अनुसरण करने वाले विचारकों की भी कमी नहीं रही है। मुख्यतः सौन्दर्य-विषयक चर्चा चार दिशाओं में हुई है ––

१––केवल रूपाकार में सुन्दर की खोज।

२––वर्ण-सौन्दर्य तथा उपयोग-सौन्दर्य का अन्वेषण।

३––मानस-सौन्दर्य की शोध।

४––नैतिकता और ईश्वरीय-शक्ति की स्वीकृति में सुन्दर की खोज।

बाह्य रूप अथवा आकार के अन्वेषकों ने प्रायः सम्मात्रा (सिमेट्री), सुव्यवस्था (ऑर्डर), विविधता (वैराइटी), एकरूपता (यूनीफॉर्मिटी), औचित्य (प्रोप्राइटी), जटिलता (इंट्रीकेसी), संगति (हारमोनी), प्रमाण-बद्धता या आनुगुण्य (प्रोपोरशन), संयम (मॉडरेशन), व्यंजना (सजेशन), स्पष्टता (सिम्प्लीसिटी), मसृणता (स्मूथनेस), कोमलता (टेण्डरनेस), तथा वर्ण-प्रदीप्ति (कलरिंग) आदि को प्रमुख स्थान दिया है । वस्तुतः इन उपकरणों का उपयोग काव्येतर कलाओं में ही प्रमुख रूप से होता आया है, किन्तु किसी सीमा तक काव्य में भी उसे न तो अलभ्य ही कहा जा सकता है न उपेक्षणीय ही । उदाहरणतः, सम्मात्रा, प्रमाणबद्धता या सुव्यवस्थादि का जितना महत्व वास्तुकला में है उतनी ही उसकी उपयोगिता काव्य में भी स्वीकार की जा सकती है । सम्मात्रा समान अंगों की समानुरूपता के रूप में एक ऐसा गुण है जिसका वास्तु-चित्रादि में विशेष महत्व है । एक मूर्ति का एक हाथ अत्यन्त छोटा अथवा अत्यन्त बड़ा, दूसरे की अपेक्षा अत्यधिक मोटा या पतला बना देने से सुरुचि की जैसी हानि होती है, वह सबकी अनुभूत है । इसी प्रकार एक व्यक्ति की एक आँख हाथी के समान और दूसरी उससे दुगुने-तिगुने आकार की हो तो निश्चय ही उसमें सौन्दर्य का दर्शन न होगा। तात्पर्य यह कि सौन्दर्य की सिद्धि के लिए किन्हीं दो एक से अंगों में समानरूपता या समानप्रमाणता का होना आवश्यक है । किन्तु सम्मात्रा और प्रमाणबद्धता में भेद है । प्रमाणबद्धता, सम्मात्रा से व्यापक है। जहाँ सम्मात्रा एक ही प्रकार के दो अंगों में समानरूपता की आवश्यकता सिद्ध करती है, वहाँ प्रामाणबद्धता पूर्ण शरीर के विभिन्नांगों में सम-विभाजन और सन्तुलित प्रमाण का आश्रय लेती है । यथा, किसी बौने की नीचे लटकती बाहुएँ, उसके छोटे-से मुख पर लम्बी नाक और उसका उन्नत भाल किसी की भी सौन्दर्य-सुरुचि को नहीं उभारते । अतः दोनों गुणों की पृथकता स्वतः सिद्ध है । काव्य में इन दोनों का उपयोग अलंकारादि के प्रयोग में होता है । साम्य-वैषम्य पर आधृत अलंकारों का प्रयोग इसी बात का प्रमाण है कि दो समान वस्तुओं अथवा दो विरोधी विषयों में भी अनुरूपता हो सकती है । उपमादि का आधार सम्मात्रा ही है । इसी प्रकार सर्गों तथा अंकों के विकास-विस्तार, इतिवृत्त और कल्पना के सम्मिश्रण के मूल में प्रमाणबद्धता का हाथ है ।

इन दोनों के समान ही संगति तथा सुव्यवस्था का भी महत्व है । चित्रादि में रेखा, रंग, आकृति आदि का प्रयोग परस्पर ऐसा होना चाहिए जिससे एक के द्वारा व्यक्त होनेवाले भाव की दूसरे के द्वारा पुष्टि और वृद्धि होती हो । यही संगति है ।

परस्पराश्रयी होकर आनेवाले ये तत्व चित्र की प्रभावशालिता को बढ़ा देते हैं। चित्र में रंगानुकूलता, संगीत में लयानुकूलता तथा नर्तन में गत्यनुकूलता का नाम ही संगति है। इस अनुकूलता का महत्व इसलिए है कि इसके कारण सहृदय या सामाजिक में तदनुकूल भावोद्बोध अथवा संवेदना की जागृति में सफलता प्राप्त हो जाती है। प्रमाणबद्धता और संगति में यही अन्तर है कि उसमें अनुपात होकर भी संगति के समान संवादित्व नहीं रहता। संगति, सदृश और विरोधी तत्वों की योजना, दोनों प्रकार से सिद्ध हो सकती है। इन्द्रधनुष के विविध रंग तथा विसदृश रंगों वाली किसी की वेश-भूषा में भी एक संगति का संवादात्मक प्रभाव रहता है। अतः संगति सदृश तथा विपरीत दोनों को अपना मानकर चलती है, परस्पर संवाद ही उसका वास्तविक लक्ष्य होता है। इसी प्रकार सुव्यवस्था का भी महत्व है। इधर-उधर पड़े हुए सामान को देखकर सभी अप्रसन्न होते हैं और व्यवस्थित रूप में रखा हुआ सामान न केवल नयनरंजक ही होता है, बल्कि विशेष उपयोगी भी सिद्ध होता है। उल्टी-सीधी ईंटें जोड़कर भी मकान बन सकता है और सुव्यवस्थित रूप में उन्हें रखकर भी। किन्तु, इनमें से दूसरे में जितने सौन्दर्य और जितनी उपयोगिता का लाभ होगा, वह पहले में नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिन रंगों से चित्र बनता है, उनमें बिना कोई व्यवस्था रखे उनको एक साथ छींट देने से चित्र अंकित नहीं होता, अन्यथा एक बालक भी सिद्ध चित्रकार हो सकता। काव्य में भी कथा-संयोजन, शब्द-संघटन आदि में इस व्यवस्था का आश्रय लेना आवश्यक होता है।

कभी-कभी वैचित्र्य अथवा वैविध्य भी सौन्दर्य का उत्पादक होता है। वैचित्र्य की स्वीकृति हमारे यहाँ भेदकातिशयोक्ति अलंकार तथा अद्भुत एवं भयानक रसों में दिखाई देती है। उपवन में खिले हुए विविध रंग वाले फूल किसका मन नहीं हरते। संगीत में स्वर-लहरी का वैभिन्य कानों के लिए प्रायः अमृत बन जाता है। और यदि उस अनेकत्व में भी एकत्व की सिद्धि हो जाय तब तो उसका मर्म-प्रभाव और भी बढ़ जाता है। जितना ही जीवन में वैविध्य है, उतना ही वह हमें आकर्षित करता है। एकरूपता जीवन के प्रति विरसता उत्पन्न करती है, किन्तु इस वैविध्य में भी जीवन की एकता की सिद्धि होती है, अतः उसका महत्त्व और भी अधिक है। इसी प्रकार अनेकविध घटनाओं की काव्य-वर्णना जहाँ हममें वैचित्र्यजन्य आनन्द उत्पन्न करती है, वहाँ वैचित्र्य में निहित उद्देश्य की सिद्धि से तृप्तिपूर्ण आनन्द भी होता है। मनुष्य के अंगोपांग पृथक् रूप में जिस वैचित्र्य की सिद्धि कराते हैं, उससे भले ही कभी-कभी कोई सौन्दर्यानुभूति न हो, किन्तु

उसकी समग्रता में हमें अवश्य ही अपने ऐश्वर्य, अपनी शक्ति और अपनी सत्ता आदि का बोध आनन्ददायी होता है।

विविधता अथवा वैचित्र्य की सौन्दर्यानुभूति कभी-कभी विरोध के आधार पर भी होती है। उदाहरणतः, किसी चित्र में छाया-प्रकाश के रंग आकर्षक पार्श्व-भूमि तैयार करते हैं। इसी प्रकार गोरे रंग पर काली साड़ी की हृदयाकर्षकता भी छिपी नहीं है। काव्य में विरोधमूलक अलंकारों का यही उपयोग है। यह विरोध सुख-दुःख के रूप में जीवन में क्रिया का संचार तो करता ही है, उत्साहादि का प्रसारक भी होता है। इसी में जीवन का वास्तविक रूप खिलता है। अतः वैचित्र्य तथा अनेकत्व में एकत्व, दोनों का सौन्दर्यानुभूति में योग रहता है।

इनके अतिरिक्त कभी सारल्य और कभी वक्रता भी सौन्दर्य को उपस्थित करते हैं। सहज ही ग्राह्य होने वाली वस्तु निश्चय ही मन पर प्रभाव जमाती है। इसके विपरीत कभी-कभी यदि वक्रता का सहारा लिया जाय तो वह भी पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करती है। इसीलिए अभिधा मात्र के आगे बढ़कर लक्षणा और व्यंजना को काव्य में प्रतिष्ठा दी गयी है। कुन्तक ने तो वक्रोक्ति की प्रधानता-सिद्धि के लिए सबको उसी के अन्तर्भूत कर लिया है। सारांश यह कि उक्त सभी साधनों में सौन्दर्य की सिद्धि कराने की किसी-न-किसी रूप में सामर्थ्य अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं।

रूपाकार में सौन्दर्य ढूँढ़ने की यह प्रवृत्ति सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ मानकर चली है, अतः इसकी सारी खोज वस्तु तक ही सीमित रही। सौन्दर्य का किसी प्रकार अनुभवकर्त्ता से भी कोई आन्तरिक सम्बन्ध है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में यह मत चुप ही रहा। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि वस्तु स्वतः सुन्दर होती है तो कोई वस्तु किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर या सुन्दरता-निरपेक्ष क्यों लगती है? क्यों एक व्यक्ति अपनी कुरूपा पत्नी को भी सुन्दर ही समझ कर सुखी रह लेता है और क्यों कोई दूसरा उसे देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगता है? क्यों एक व्यक्ति के द्वारा की गई व्यवस्था दूसरे व्यक्ति की आँखों में खटकने लगा करती है? क्यों सभी व्यक्ति एक ही वस्तु को देखकर एक-सा सुख नहीं उठाते या उसके प्रति एक-सी विरक्ति प्रदर्शित नहीं करते? 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' अथवा 'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्', मतवैषम्य के सूचक ये वाक्य हमारे यहाँ क्यों प्रचलित हो गये हैं? ऐसा लगता है कि सौन्दर्य की व्याख्या इन प्रश्नों के रहते हुए केवल वस्तुनिष्ठ दृष्टि से कभी पूर्ण नहीं हो सकेगी। सम्भवतः, इसी प्रकार के अनेकानेक प्रश्नों का विचार करते हुए ही योरोप में दूसरा मत प्रयोग-सौन्दर्य अथवा साहचर्य-

वाद के रूप में आया। जेफ्रे, एलीसन तथा बेन नामक विद्वानों ने साहचर्यवाद की प्रतिष्ठा करके वस्तुनिष्ठ दृष्टि की त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया। साहचर्यवाद को समझाते हुए जेफ्रे महाशय का कथन है कि* सौन्दर्यानुभूति का प्रमुख आधार हमारे द्वारा अनुभूत पूर्वकालीन भावों की अनुकूलता-अननुकूलता है। अर्थात् जिन वस्तुओं का हमसे किसी समय साहचर्य रहा है वे किसी-न-किसी प्रकार हमारे भावों और हमारी संवेदनाओं को उभारते रहे हैं। वे संवेदनाएँ सुखात्मक अथवा दुःखात्मक, रागात्मक अथवा द्वेषात्मक, किसी भी प्रकार की हो सकती हैं। किसी वस्तु को सुन्दर या असुन्दर कहते समय हमारे विचारों के मूल में उन्हीं भावों या संवेदनाओं का पुनःस्मरण काम करता दीख पड़ता है। अर्थात् किसी वस्तु का हमें सुन्दर या असुन्दर प्रतीत होने का कारण यह है कि उससे हमें किसी प्रकार की अनुकूलता-प्रतिकूलता का ऐसा स्मरण हो आता है जो हमारे सुख या दुःख को जगा देता है। वस्तु स्वतः सुन्दर नहीं है। इस अर्थ के अतिरिक्त प्राध्यापक रा० श्री० जोग ने इस मत का एक गौण अर्थ भी ग्रहण किया है कि दो वस्तुओं में यदि समानरूपता नहीं हो तो भी हमें उनमें से एक सुन्दर और दूसरी असुन्दर ज्ञात होने लगती है। यथा, किसी स्त्री को माथे पर सौभाग्य-तिलक लगाये देखने के पश्चात् यदि हम किसी बिना तिलक वाली स्त्री को देखें तो दूसरी हमें असुन्दर ज्ञात होगी। हमारे यहाँ सौभाग्य-बिन्दी न लगाना इसीलिए विधवा का लक्षण माना जाता है अथवा कन्या का।

साहचर्यवाद में अंशतः सत्यता होते हुए भी सर्वांशतः सत्यता नहीं है। यदि ऐसा होता तो पूर्वकाल में कृष्ण के रहते गोपिकाओं को जो कुंजें मादक प्रभाववाली लगती थीं उन्हीं के सम्बन्ध में वियोग की अवस्था में उन्हें विरोधी प्रकृति की क्यों लगतीं? दूसरे, ऐसी अवस्थाओं में जब कि हमें किसी भी प्रकार का सुखदुःखादि नहीं रहता कोई सुन्दर वस्तु हमारी दृष्टि में आ सकती है और अन्यकारण निरपेक्ष अवस्था में भी उससे सुख उत्पन्न हो सकता है। सात रंगों में से कोई एक रंग किसी विशेष को क्यों अधिक सुखद लगता है, इस सम्बन्ध में भी साहचर्यवाद से कोई समाधान न हो सकेगा। अतः साहचर्यवाद का महत्त्व इतना ही माना जा सकता है कि वह अनुकूल परिस्थिति में भाव का प्रकर्ष कर सकता है और प्रतिकूल परिस्थिति में या तो दुःखद भाव को कुछ कम कर सकता है या सुखद भाव में कुछ न्यूनता ला सकता है। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह दृष्टि एकांततः विभाव का तिरस्कार कर सकी है। क्योंकि साहचर्य द्वारा जागृत सुखद अनुभूतियाँ भी

* सौन्दर्यशोध आणि आनन्दबोध, पृ० ३१।

तो विभाव को ही उद्दिष्ट करके उत्पन्न होता है, उससे पृथक् किसी कल्पना-लोक में उनकी सत्ता नहीं जान पड़ती। साहचर्यवाद कोई सार्वकालिक तथा सार्वजनीन नियम नहीं बन सकता।

प्रथा और स्वभाव के आधार पर सौन्दर्य-कल्पना का भवन निर्मित हो सकता है या किन्हीं अंशों में हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। हम अपने यहाँ की प्रथाओं की तुलना में प्रायः दूसरे देशों की प्रथाओं का उपहास करते पाये जाते हैं। अपनी प्रथाओं और रूढ़ियों के पालन के लिए हममें से अनेक लड़ाई-झगड़ा करने से भी नहीं झिझकते और उनको तोड़ने पर कितनों को जाति-च्युत कर दिया जाता है अथवा किसी अन्य प्रकार से दण्डित किया जाता है। प्रथा के पालन का आग्रह वस्तुतः उसके प्रति सुन्दरता की भावना के कारण होता जान पड़ता है। जिस काम को हम अच्छा या सुन्दर समझते हैं, उसे करने पर उतारू ही नहीं रहते, दूसरे को भी वैसा करने के लिए बाध्य करते हैं। इसी प्रकार स्वभाव भी सुन्दरता-असुन्दरता का निर्णय करने में कारणस्वरूप सिद्ध होता है और उपयोग-अनुपयोग भी सुन्दर-असुन्दर का विवेक जागृत करते हैं। कभी-कभी हम किसी वस्तु को केवल उपयोगी जानकर ही उसे सुन्दर मान लेते हैं और कभी-कभी अनुपयोगी—चाहे वह केवल हमारे लिए ही अनुपयोगी हो—वस्तु को भी असुन्दर कहकर तिरस्कार कर देते हैं। हानिप्रद वस्तुएँ तो सदा कुरूप ही मानी जाती हैं, किन्तु वही वस्तु यदि एक के लिए हानिकर न हो तो उसके साथ कभी-कभी उपयोगी होने की भावना भी उसे सुन्दर कहला देती है। यथा, सपेरे के लिए सर्प भी आर्थिक दृष्टि से उपयोगी है, अतः उसके विषदन्त होने पर भी सपेरा उसके बहुरूपों में सुन्दरता का आरोप कर सकता है, भले ही वह दूसरों के लिए हानिकर ही हो। वह जब तक सपेरे के हाथ में रहकर हमें हानि नहीं पहुँचाता तबतक हममें से भी अनेक उसकी सुन्दरता की चर्चा कर सकते हैं, जो उपयोग-निरपेक्ष रहकर भी उसके हानिहीन होने के कारण ही की जाती है। अभिप्राय यह है कि प्रथा, स्वभाव, संस्कार, उपयोग, हानि-राहित्य आदि कई आधारों पर वस्तु में सौन्दर्य खोजने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु इन सब के मूल में विभाव का विचार किसी-न-किसी रूप में काम करता ही रहता है, अतः इस प्रकार के सभी दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ ही कहे जायेंगे।

इन दृष्टियों से पूर्णतया सन्तुष्ट न हो पाने पर कुछ विचारकों ने सौन्दर्य की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। ये लोग सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ गुण न मानकर मन को सौन्दर्यानुभूति का अधिष्ठान और सौन्दर्य को मानस मानते हैं। दूसरी

और कुछ ऐसे विचारक हैं जो ईश्वर को ही सर्वगुणसम्पन्न मानकर उसे सम्पूर्ण प्रकृति में व्यापक मानने के कारण उसके गुणों को भी उसमें व्याप्त मानते हैं और इस प्रकार उसकी सौन्दर्य-सत्ता को ही वस्तु के सौन्दर्य का कारण मानते हैं। कुछ दूसरे विचारक प्रमाता और प्रमेय के एकत्व में सौन्दर्य की सिद्धि मानकर चले हैं और कुछ नैतिकता को ही सौन्दर्य का मापदण्ड मानते हैं।

सौन्दर्य को मानस माननेवालों में क्रोचे का मत विशेष उल्लेखनीय है। वह ज्ञान को दो प्रकार का मानते हैं। एक, अन्वीक्षाप्रसूत सामान्यावलम्बी तथा दूसरा, कल्पनाप्रसूत विशेषावलम्बी। अन्वीक्षा-निरपेक्ष ज्ञान ही विशेष ज्ञान या इंटुइशन है। अन्वीक्षा के विरुद्ध इसे ईक्षावृत्ति कहा जा सकता है। इसी का परिणाम है, प्रकाश। यह प्रकाश पंक्ति-पंक्ति या शब्द-शब्द में रहकर काव्य में प्रकाशित होता है। इसी प्रकार रंगादि का प्रकाश अन्य कलाओं में प्रकाशित होता है। इसी ईक्षावृत्ति के आधार पर अभिव्यक्ति की पूर्णता-अपूर्णता का विचार करना चाहिए। ईक्षावृत्ति अथवा संकलपात्मक अनुभूति की पूर्णता के प्रभाव से अभिव्यक्ति भी स्वतः पूर्ण होती है। प्रकाशभंगी ही सौन्दर्य का प्राण है। विषयवस्तु मात्र को सुन्दर न कहना ही उपयुक्त होगा। अभिव्यक्ति में उपस्थित होनेवाला वस्तु का स्वरूप वास्तविक स्वरूप से भिन्न होता है, क्योंकि वह कल्पना-प्रसूत होता है। अतः बहिर्वस्तु को महत्व नहीं दिया जा सकता। इन्द्रियज रूपादिबोध तो केवल वीक्षावृत्ति के परिणामस्वरूप ही सिद्ध होता है। अतएव बहिर्वस्तु को सुन्दर कहा जाय तो समझना चाहिए कि वस्तु की सुन्दरता को स्वीकार नहीं किया जा रहा है, अपितु लाक्षणिक प्रयोग मात्र से काम लिया गया है। सारांश यह कि सौन्दर्य कल्पनामूलक अन्तर्व्यापार मात्र है। कल्पना द्वारा विधारण, संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन होने पर ही हमारे चित्त रूपी पट पर प्रकृति का वह रूप अंकित होता है, जिसे हम सुन्दर कहते हैं। प्रकृति स्वतः सुन्दर नहीं है। इसी प्रकार काव्य को सुन्दर कहने का भी यही अर्थ है कि उसके छन्द आदि नहीं बल्कि कल्पना में भासित उसके अर्थ ही सुन्दर हैं।

डॉ० दासगुप्त ने प्रस्तुत ग्रंथ के द्वितीय अध्याय में विस्तार से क्रोचे के मत को समझाया है और उसकी आलोचना की है। क्रोचे का मत है कि आत्मा की रचना में चार वृत्तियों का संयोग रहता है। यह चार वृत्तियाँ क्रमशः १.वीक्षामूलक, २.विधिमूलक ३. अन्वीक्षामूलक तथा ४. योगक्षेममूलक कही जा सकती हैं। इन वृत्तियों का स्वरूप ऐसा मिश्रित और प्रायः एकसाथ चलने वाला होता है कि इनके पार्थक्य और क्रम को जानना संभव नहीं होता। अतएव इन्हें असंलक्ष्यक्रम कहा

जा सकता है, तथापि अक्रम नहीं। हमें सौन्दर्य का बोध वीक्षाव्यापार द्वारा ही होता है, अतएव उसे केवल कल्पनामूलक अन्तर्व्यापार कहना उचित होगा। किसी शब्दादि को सुनकर हमारी अन्तर्वृत्ति उसी के अनुरूप जागृत हो जाती है और उस अर्थ के अनुरूप व्यापारवती होने लगती है। इस प्रकार से व्यापारवती कल्पना में भासित वस्तु ही यथार्थतः सुन्दर कहलाती है। अभिप्राय यह कि दृष्ट रूप कल्पना का संग पाकर भिन्न रूप और मूर्ति धारण कर लेता है। उसकी उस दृष्ट रूप से नितान्त पृथक् सत्ता स्थापित हो जाती है और द्रष्टा को सौन्दर्यबोध के समय बाह्याभ्यन्तर का द्वैतबोध नहीं होता। आन्तरिक होने के कारण ही सौन्दर्य की कोई निश्चित रूपरेखा दे सकना या सौन्दर्यबोध के लिए कोई नियम निश्चित कर सकना सम्भव नहीं है। वह तो व्यक्ति-व्यक्ति के अपने संस्कारों और अपनी-अपनी वीक्षावृत्ति पर निर्भर है। जो वस्तु, इसीलिए, एक व्यक्ति को सुन्दर लगती है, वही दूसरे को कभी-कभी कुत्सित भी लगा करती है। स्वयं भिन्न स्थितियों में एक ही व्यक्ति चन्द्रमा को शीतल या दाहक मान लिया करता है।

क्रोचे वीक्षावृत्ति को अन्वीक्षानिरपेक्ष मानते हैं। उनका कथन है कि यद्यपि किसी चित्र को देखते समय अन्वीक्षालभ्य व्यापारों की सत्ता बनी रहती है, तथापि चित्र का वास्तविक आनन्द हम उसकी समग्रता या उसके अखण्ड भाव में ही ले पाते हैं, अन्वीक्षालब्ध अंग-प्रत्यंग के भिन्नता-ज्ञान में हमें आनन्द नहीं आता। यही अखण्डभाव वीक्षावृत्ति की स्वतन्त्रता का द्योतक है, यही इंटुइशन है । वस्तुतः इस प्रकार का आन्तर-दर्शन ही यथार्थ दर्शन है और यह वस्तु-निरपेक्ष होता है। क्रोचे के अनुसार वीक्षावृत्ति के द्वारा गृहीत संस्कृत, परिष्कृत रूपों में ही सौन्दर्य होता है और वीक्षावृत्ति स्वतः भावोन्मुक्ति का द्वार खोज लेती है। इंटुइशन या दर्शन के साथ ही एक्सप्रेशन या अभिव्यक्ति उपस्थित हो जाती है। इस रूप में वीक्षावृत्ति का प्रयोग वस्तूपधायक भी है और अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशोपधायक भी। प्रकाशोपधायक वृत्ति में आकर्षण बना रहता है, जिसके परिणामस्वरूप आनन्द की उपस्थिति होती है। इस प्रकार ज्ञानांश, ह्लादांश तथा प्रकाशांश तीनों युगपत् भाव से प्रतीत हुआ करते हैं। इसीलिए इस प्रतीति को असंलक्ष्यक्रम कहा गया है । वस्तु की इस प्रकार की स्थिति के कारण ही क्रोचे केवल रूपाकार या फार्म को सौन्दर्य का प्राण मानते हैं। अन्तर्वृत्ति के महत्व को सहज ही किसी फोटो और चित्र की तुलना के द्वारा जाना जा सकता है। फोटो में वीक्षावृत्ति का संयोग न होने के कारण ही उसमें चित्र का-सा सौन्दर्याकर्षण नहीं होता। इसी आधार पर क्रोचे, कांट तथा हेगेल कला को अध्यात्म-बोध मानते हैं।

दर्शन एक विशेषात्मक विज्ञान है जो जीवन के सामान्यात्मक ज्ञान से भिन्न है। इंटुइशन या अखण्ड अनुभूति ही सार्थक होती है, पर्सेप्शन या दृष्ट-ज्ञान विच्छिन्न तथा अर्थविहीन होता है। इंटुइशन के बल पर विज्ञान में भी सौन्दर्य उत्पन्न हो सकता है। कवि का विदग्ध से इसी इंटुइशन के आधार पर अन्तर जान पड़ता है। विदग्ध में शिल्प-चातुर्य का अभाव उसे कवि से पृथक् सिद्ध करता है। वस्तुतः रचना के समय कवि बहिर्सत्ता पर ध्यान ही नहीं देता, बल्कि उसकी अन्तरात्मा कामना से बल पाकर संयुत वेग के साथ कला के रूप में प्रकाशित हो जाती है। कवि की रचना दूसरे शब्दों में उसी का आत्मसाक्षात्कार है, उसी का आत्म-प्रकाश है। इस आत्मप्रकाश के अभाव में केवल युक्तियों से कला का सर्जन नहीं किया जा सकता। कवि की यही निर्विकल्प अवस्था सर्जन के लिए महत्वपूर्ण है, यही समस्त ज्ञान, इच्छा आदि का आदि-उपादान है। पाठक या दर्शक कला में स्वयं कलाकार, उसके रचयिता के ही दर्शन करना चाहता है। क्रोचे की धारणा उपयोगितावादी सैद्धान्तिकों के विपरीत यह है कि हम कलाकृति के द्वारा किसी उपदेश-ग्रहण की कामना नहीं करते, बल्कि अत्यधिक कल्पना में ही रमण करना चाहते हैं। काव्यपाठ के समय हम चाहते तो यह हैं कि वह हममें प्रेरणादायक तीव्र भावसंवेग उत्पन्न कर सके। जिस काव्य से हम इन भावसंवेगों को इस रूप में ग्रहण नहीं कर पाते, हमारे लिए वह काव्य ही हीन ज्ञात होने लगता है और उसके रचयिता को हम एक हीन कलाकार के रूप में ही देख पाते हैं। व्यक्तित्व के प्रकाशन में ही कलाकृति और कलाकार की सार्थकता है, भावों की प्रच्छन्नता में नहीं। इंटुइशन का प्रभाव स्वतःस्फूर्त रूप में इसीलिए व्यक्त हुए बिना नहीं रहता। इस तरह विचार करें तो सभी कलाएँ दो प्रकार की सिद्ध होंगी—१. रूपविधायक भी और २. व्यक्तित्वविधायक भी।

क्रोचे कला मात्र को एकात्मक मानते हैं, अतएव उनके लिए इस प्रकार का प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है कि इंटुइशन मानने पर कला में वस्तु और रूप को अलग कैसे समझा जाय। दोनों में भेद मानने वालों के लिए उनमें ऐक्य की स्थापना भी कठिन होगी, किन्तु कला को एकात्मक मान लेने पर इस प्रकार की कठिनाई उपस्थित न होगी, ऐसा क्रोचे का विश्वास है, क्रोचे की धारणा है कि भावसंवेग आत्मस्थ अवस्था है और केवल स्वयं-प्रकाश ज्ञान ही नाना आत्मावस्थाओं को प्रकट करता है। डॉ० दासगुप्त की ओर से इस सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा गया है कि भावसंवेग को आत्मावस्था मान लेने पर प्रकृति का तिरस्कार करके केवल एक 'आह' में भी विशाल काव्य की कल्पना के समान ही क्रोचे की

यह कल्पना भी है। न एक 'आह' मात्र काव्य है और न वस्तु-निरपेक्ष भावसंवेग ही सम्पूर्णतया सफल और प्रभावोत्पादक होगा। वस्तुतः स्वयं क्रोचे भी पहले इसी विचार के थे कि ऐच्छिकवृत्ति या इमेजिनेशन के द्वारा उपस्थापित सामान्य संसर्गवर्जित मूर्त्त छवि को कलात्मक या वैक्षिक कहते हैं, किन्तु बाद में वे केवल स्वच्छन्दवाही कल्पना (फैन्सी) को ही भावसंवेग का प्रकाशक मान बैठे। उनका विचार है कि कलाकार मूर्त्त छवियों को चित्त रूपी दर्पण में आँक लेता है और समय आने पर अपनी ध्यानशक्ति के द्वारा उन्हें प्रकाशित कर देता है। अतएव वैक्षिक सृष्टि नित्य होती है।

क्रोचे की इस प्रकार की धारणाओं में परस्पर विरोधी बातें दिखाई देती हैं। डॉ० दासगुप्त ने इस संबंध में अनेक प्रश्न उपस्थित किये हैं, जिनका यहाँ संकेतात्मक उल्लेख ही पर्याप्त होगा। क्रोचे के सिद्धान्तों में सबसे बड़ा अन्तर्विरोध तो यह है कि उन्होंने वीक्षा-व्यापार को आन्तरिक मानकर भी बहिर्जगत् के प्रभावों की धारणा को वैक्षिक मान लिया है। इस स्थल पर कई प्रश्न उपस्थित किये जा सकते हैं। यथा, यदि अन्तःव्यापार को भी बहिःसंस्कार की आवश्यकता है तो उसे निरपेक्ष अनुभूति कैसे कहा जा सकता है ? आन्तर मान लेने पर संस्कारों की सहायता किस रूप में मिल सकती है ? यदि बहिःस्पर्श स्वीकार न करें तो आन्तरिक व्यापार को तन्निरपेक्ष कहने में ही क्या हानि है ? स्वयंप्रकाश ज्ञान की विद्यमानता में बहिःस्पर्श या संस्कार की आवश्यकता ही क्या है ? क्या स्पर्श मात्र की सृष्टि स्वयंप्रकाश ज्ञान से होती है ? क्रोचे ने स्वयंप्रकाश ज्ञान में ध्यान-बल से वस्तु-स्पर्श का ग्रहण, वर्जन तथा पोषण तो स्वीकार किया है, किन्तु उसमें विभिन्न-जातीय स्पर्शों की सृष्टि नहीं मानी है। यद्यपि क्रोचे अलौकिकता का विरोध करते हुए भी संस्कारों का विशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्द्धन स्वीकार करते हैं और उसे वीक्षा-कार्य मानते हैं, किन्तु उन्होंने यह संकेत नहीं किया कि यह विशोधन आदि किस प्रणाली या किस उद्देश्य से सम्पन्न होता है। इसी प्रकार उन्होंने इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया कि यदि संस्कार बाह्य मात्र है तो आन्तरिक वृत्ति से उसका संबंध किस प्रकार घटित होता है, दोनों के सम्मिलन की संभावना किस प्रकार उत्पन्न होती है ? वास्तविक बात तो यह है कि वीक्षावृत्ति के पूर्व संस्कारों का ज्ञान नहीं होता और क्योंकि क्रोचे के ही शब्दों में वे स्वरूपतः भिन्न हैं, अतः उन्हें महत्त्व नहीं दिया जा सकता। परन्तु बिना वीक्षा-प्रयोग के तो उनकी भिन्नता का भी ज्ञान न होगा और भेद होने पर वे सामान्यधर्मयुक्त होने के कारण अन्वीक्षा से संबंध रखने लगते हैं। क्रोचे के मत में यह दूसरा अन्तर्विरोध है कि वे संस्कारों में परिवर्तन

स्वीकार करके एक ओर यद्यपि उनकी प्रकारान्तर से पूर्व सत्ता मान लेते हैं, तथापि वीक्षा के अभाव में अन्वीक्षा संभव नहीं मानते। इस रूप में संस्कारों का यह स्वरूप ही स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे आन्तरिक हैं अथवा बाह्य। आन्तरिक क्रिया बाह्यवस्तु में परिवर्तन नहीं ला सकती। अतः एक ओर उन्हें बाह्य नहीं कहा जा सकता और दूसरी ओर वीक्षा-अन्वीक्षा से अनुत्पन्न होने के कारण वे आन्तर भी नहीं कहला सकते।

क्रोचे निर्विकल्प स्थिति की कल्पना करके भी भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति संभव मानते हैं। प्रश्न यह है कि नियमतः अखण्ड को जान लेने पर अंगों का भी बोध हो जाया करता है और तभी हम किसी वस्तु को उसके अनुकूल नाम देते हैं, किन्तु यदि वीक्षावृत्ति के द्वारा हमें सामान्य संसर्गवर्जित रूप में ही बोध होता है तब तो स्पष्ट ज्ञान की द्योतक भाषा का प्रयोग भी संभव नहीं है। ऐसी दशा में इंट्युइशन का अनिवार्य परिणाम अभिव्यक्ति कैसे माना जा सकता है ? क्रोचे के मत का वैचित्र्य यह भी है कि वे वेदना, भावसंवेग तथा अन्तरानुभूति को आत्मावस्थाएँ तो मानते हैं परन्तु वीक्षावृत्ति तथा भावसंवेग को पृथक् मानकर भावसंवेग की आन्तरिकता का तिरस्कार कर देते हैं। यदि वीक्षाव्यापार आन्तरिक है तो भावसंवेग से उसकी भिन्नता कैसी ? इसी प्रसंग में वीक्षावृत्ति, संस्कार तथा भावसंवेगों को लेकर कई प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। जैसे, जो आन्तर-व्यापार भावसंवेग निरपेक्ष रहकर अन्तःसंस्कारों का परिष्कार करता है, वही संवेगों से सम्बन्धित परिष्कृत प्रमा (कन्सेप्ट) को कैसे जन्म दे सकता है ? यदि भावसंवेग आत्मावस्था के द्योतक हैं तो विशुद्ध एवं परिष्कृत अन्तःसंस्कार भी उसी की अवस्था कैसे हैं ? यदि हैं तो तब आन्तर-व्यापार भावसंवेग-निरपेक्ष रूप में अन्तःसंस्कारों का परिष्कर्त्ता न माना जायगा। यदि वीक्षा-गृहीत मूर्त्त छवि इन्द्रिय-ज्ञान के परिष्कार पर आधारित है तो वह भी आत्मावस्था नहीं हो सकती, न इन्द्रिय-ज्ञान पर आधारित वैक्षिक व्यापार के परिणाम ही आत्मा की मूल अवस्था माने जा सकते हैं। इसी प्रकार भावसंवेगों को आत्मा से निस्यूत प्रवाह मानने पर उसकी भी एक वृत्ति की कल्पना कर लेनी पड़ेगी। फिर वीक्षा से उसका क्या और कैसा सम्बन्ध रह जायगा ? तथा भावसंवेग एवं व्यक्तित्व में परस्पर क्या संबंध है ? इन प्रश्नों के उत्तर भी क्रोचे की विचार-सरणि से भली प्रकार नहीं मिल पाते।

क्रोचे कला को भावसंवेगात्मक मानते हुए उसे व्यक्ति-वैशिष्ट्य-हीन मानते हैं। वे उसे सामान्य अनुभूति मानते हैं, किन्तु सामान्य ज्ञान में भी विशेष की विद्यमानता, समष्टि में व्यष्टि की उपस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

क्रोचे इस संबंध में कोई निर्देश करते नहीं जान पड़ते। इसी प्रकार वे केवल फैन्सी या स्वच्छन्दवाही कल्पना पर ही कला की सत्ता आधारित मानते हैं, किन्तु मनन-व्यापार के अभाव में केवल स्वच्छन्द कल्पना से कोई कला-रूप उपस्थित करना संभव नहीं जान पड़ता। कलाकृति की संगठनात्मक विशेषताएँ उस कृति-विशेष में बिना मनन-व्यापार के अंकुश के आती नहीं जान पड़तीं। क्रोचे कलाकृति में वस्तु तथा स्वरूप के समन्वय का तिरस्कार करते हैं और वस्तु को अज्ञेय संस्कार मात्र मानते हैं। वे वस्तु को जैवप्रवृत्ति मूलक मानते हैं। वस्तु ही ज्ञान-कारण है और उसी के कारण नाना भेद उपस्थित होते हैं, फिर भी विषय का अस्फुट-सा आभास मानकर भी क्रोचे उसके विषयत्व या ज्ञेयत्व की धारणा का तिरस्कार करते हैं। स्वरूप या फार्म उनके विचार से कूटस्थ होता है और विषय का स्वरूप अनिश्चित है। साथ ही फार्म एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यापार है। किन्तु क्रोचे ने इस बात पर विचार नहीं किया कि जो वस्तु व्यापारात्मक है वह कूटस्थ अथवा अपरिवर्तनीय भला कैसे हो सकती है ?

क्रोचे की एक और भ्रान्त धारणा है कि विषय तथा स्वरूप केवल एक नवीन रूप धारण कर लेते हैं और हमें उनका पृथक्-बोध नहीं होता। डॉ० दासगुप्त का कथन है कि हमें क्रमशः विषय का आभास होने पर उसे ज्ञेय बनानेवाले उसके स्वरूप का आभास भी होता है और तदनन्तर दोनों का पार्थक्य जान पड़ता है। यदि इस प्रक्रिया को स्वीकार कर लें तो विषय अज्ञेय रह ही नहीं जायगा। वीक्षा-यापार का संबंध स्वरूप से माना गया है। स्वरूप विषय-हीन नहीं होता, अतएव यदि स्वरूप से विषय-ज्ञान स्वीकार करें तो क्रोचे की यह धारणा भी असंगत प्रतीत होगी कि विषय का परिष्कृत रूप उपस्थित होता है, क्योंकि वैसी दशा में वस्तु का स्वरूप ही बदला हुआ दिखाई देगा और प्रतीति भ्रामक होगी।

क्रोचे ने बताया है कि आत्मा की विकासावस्थाएँ हैं, कामना, इच्छा, क्रिया। तीनों की एकलयता में आत्माभिव्यक्ति स्वरूप धारण करती है और इसी क्रम से सत्य गतिशील रहा करता है। हम सदैव संभाव्यमान से संभूति की ओर तथा संभूति से संभाव्यमान की ओर बढ़ते रहते हैं। इस प्रकार कलाकार के भावसंवेगों की अभिव्यक्ति के समय वस्तुतः उसकी इच्छा तथा क्रिया की ही अभिव्यक्ति होती है। इसी से हमारे आन्तरिक गतिशील सत्य का पता चलता है, अतः वस्तु और भावसंवेग अभिन्न माने जाने चाहिये। इस संबंध में डॉ० दासगुप्त ने चार प्रश्न उपस्थित किये हैं। १—भावसंवेग की इच्छा तथा क्रिया के साथ एकता का कारण स्पष्ट नहीं किया गया। २—ऐक्य को ही वस्तुसत्य तथा तत्वस्वरूप नहीं माना जा

सकता। ३–वह तत्त्व स्वयंप्रकाशज्ञान द्वारा कैसे ग्रहण कर लिया जाता है ? तथा ४–यदि स्वयंप्रकाशज्ञान का संबंध स्वयं असामान्य विषय से है तो भावसंवेग, इच्छा अथवा क्रिया से उसकी अवच्छेदकता कैसे स्वीकार की जा सकती है ?

क्रोचे वीक्षावृत्ति से पूर्व संस्कारों की सत्ता स्वीकार न करके एक प्रकार की गड़बड़ी में पड़ गये हैं। सौन्दर्यसृष्टि के वस्तुतः तीन स्तर माने जा सकते हैं : अस्पष्ट संस्कार, अनुभूति तथा बहिर्निरूपण। क्रोचे के अनुसार अनुभूति संस्कारों को जितने ही परिष्कृत रूप में धारण करती है, उतना ही सौन्दर्यसृष्टि का कृतित्व सिद्ध होता है। परन्तु, क्रोचे बहिर्जगत् को स्वीकार नहीं करते तो बहिःस्पर्शों की सत्ता ही मानना अनुचित होगा। क्रोचे के अनुसार विचार करें तो स्पर्श केवल कलाकार के अन्तर में स्थित होंगे। उस आन्तरिक स्पर्श का वर्णादि के रूप में बाह्य प्रकाशन और उनका सहृदय में संक्रमण दोनों ही बातें उस समय तक व्यर्थ रहेंगी जब तक उनकी बहिस्सत्ता न मान ली जायगी, क्योंकि किसी की आन्तरिक स्थिति की किसी अन्य के द्वारा अनुभूति निराधार रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। आधार ही मानना है तो बहिस्सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। बहिस्सत्ता मानने पर ही पाठक और कलाकार की अनुभूति में एकता स्थापित हो सकेगी। ऐसी दशा में क्रोचे को न चाहते हुए भी संस्कारों की अनुभूति से पूर्ववर्तिता स्वीकार करनी पड़ेगी। पाठक के मन में कवि के समान संस्कार होंगे तब तो उसकी अनुभूति वैसी होगी, तभी वह कवि की अनुभूति से परिचित होगा। केवल अनुभूति का स्वरूप जान लेने से संस्कार का बोध संभव नहीं है।

इसी प्रकार तनिक काव्य-व्यापार पर ध्यान देने से क्रोचे का यह सिद्धान्त भी ध्वस्त होता दिखाई देता है कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति कहलाती है। काव्य में शब्द-शोधन व्यापार का विशेष महत्त्व है। यदि शब्द-शोधन को मानें तो केवल अनुभूति ही अभिव्यक्ति नहीं ठहरती, विचार आकर उसका पथ रोक लेते हैं और विवेक उसे रास्ता दिखाता है। इस रूप में यह मानना ही उचित होगा कि अनुभूति शब्द-शोधन की पूर्ववर्तिनी है और वही अभिव्यक्ति नहीं है। कवि के साथ पाठक के चित्त को भी महत्त्व दे देने पर, उसे सत् मान लेने पर काव्यादि की भाषादि के रूप में बाह्य सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। यदि क्रोचे को यह काव्यादि की बाह्य सत्ता स्वीकार हो तो प्रकृति की बाह्य सत्ता को स्वीकार कर लेने और उसे सत् मान लेने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

एक बड़ी आपत्ति क्रोचे के मत के सम्बन्ध में यह भी है कि यदि केवल अभिव्यक्ति में ही सौन्दर्य मान लिया जायगा तो भिन्न-भिन्न कृतियों में परस्पर

श्रेष्ठत्व की स्थापना करना संभव न होगा। जब सभी अभिव्यक्तियाँ सुन्दर मान ही ली गईं तो फिर क्या वाल्मीकि 'रामायण' और क्या साधारण काव्य या वाक्य ? दोनों ही उस अवस्था में समान महत्त्वशाली हैं। किन्तु सामान्यतः जन-समाज अथवा सहृदय-समाज में सभी कृतियों को कभी भी समान महत्त्व नहीं मिला है। सभी कलाकारों में एकसी सामर्थ्य नहीं होती, सभी अपनी भावनाओं को समान भाव से व्यक्त नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त सारी अभिव्यक्तियाँ सुन्दर ही हैं तो असुन्दर क्या है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न क्रोचे के सिद्धान्त के विरोध में उठाये जा सकते हैं, और उठाये गये हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रायः सभी दृष्टियों से क्रोचे के विचारों में अनेकमुखी अन्तर्विरोध जान पड़ते हैं और इस प्रकार सौन्दर्यशोध के संबंध में वे कोई मान्य सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं कर पाते। फिर भी क्रोचे को इतना महत्त्व तो मिलना ही चाहिये कि उन्होंने इस प्रसंग में संकीर्ण नियमों से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कला को भौतिक जगत से ऊपर उठाकर उसे आध्यात्मिक स्वीकार किया है और उसमें मूलतः ज्ञान, सिसृक्षा तथा वेदना की सत्ता स्वीकार की है।

कला की आध्यात्मिकता पर बल देकर ही क्रोचे ने भूल की है। वास्तविकता तो यह है कि कला एक ओर जितनी ही आध्यात्मिक है दूसरी ओर उतनी ही भौतिक भी है। वह न इस जगत् से पूर्णतया छूट पाती है और न किसी अलौकिक आध्यात्मिक प्रदेश से ही नितान्त संलग्न है। बिना जागतिक विषयाधार के उसकी रचना संभव नहीं है और बिना आध्यात्मिक कल्पना-व्यापार के उसका पुनर्नवीकरण न हो सकेगा।

सौन्दर्य को ईश्वरीय शक्ति से सम्बन्धित मानने वाले विचारकों के प्रतिपादन में स्वभावतः नैतिकता, मंगल अथवा विशुद्धिकरण आदि भावनाओं का सम्मिश्रण हो गया है। ईश्वर को सत्, चित् और आनन्द अथवा सर्वगुणोपेत मानने के कारण इस प्रकार का सम्मिश्रण भी स्वाभाविक ही था। इस सम्बन्ध में प्लेटो, प्लाटीनस, टॉलसटाय, रस्किन, बर्क, शेफ्ट्सबरी, श्लेगेल आदि अनेक लेखकों के मत उल्लेखनीय हैं।

प्लेटो सौन्दर्य को तत्त्वज्ञान का साधन मानते थे और उसे मंगलविधायक कहते थे। उनका विचार है कि सौन्दर्य गंभीर प्रेमानुभूति के साथ-साथ चित्त की विशुद्धि में भी सहायक होता है। सौन्दर्याराधना के परिणामस्वरूप मनुष्य दिव्य-दृष्टि की चरम सीमा में उपनीत होकर यथार्थ तत्त्वदर्शी के रूप में परमशक्ति तथा

परममैत्री का अनुभव करता है। किसी शक्ति विशेष के प्रभाव से व्यक्ति इस उदात्तता को उपलब्ध करता है। अतः प्लेटो के मतानुसार सृष्टि के चेतन-आइडियल तथा प्रतीयमान--फिनोमिनल--नामक दो भेद किये जा सकते हैं। चेतन जगत् में ही प्रतीयमान जगत् के सौन्दर्य का मूल रूप प्रतिष्ठित है। यह चेतन जगत् विकास-ह्रास तथा आदि-अन्त से हीन एकरूप और परमतत्त्व है जिससे सभी वस्तुओं को सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। अतः एक ही व्यापक सत्ता का प्रसार सब जगह हो गया है। तत्वान्वेषी व्यक्ति इसी एकता का ज्ञान लाभ करके यथार्थज्ञान प्राप्त करता है और भेदभावना को भुला देता है।

प्लेटो के समान प्लोटीनस परमशक्ति के शिवरूप पर बल देता है। वह उसी से बुद्धि का उदय मानता है और इसी को आत्यन्तिक सौन्दर्य मानकर इसी की गति से संसार की समस्त वस्तुओं में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा मानता है।

टॉल्सटाय तो अपने नैतिक दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध ही हैं। वे कला के तीन ही लक्षण मानते हैं: १. सहज संक्रमण, २. व्यापकता और ३. सहानुभूति प्रेरकता। कलाकृति के द्वारा मनोरंजन की सिद्धि मानने वाले सिद्धान्त की वे घोर प्रतारणा करते हैं और धर्मबुद्धि के निवेश को ही कला की वास्तविक कसौटी मानते हैं। अतः उनके विचार से नैतिक विवेक जागृत करने वाली कलाकृति ही सुन्दर कहलाने योग्य है [1]।

रस्किन कला के उद्देश्यों में विशुद्धिकरण, नैतिकता तथा धर्मबुद्धि-निवेश को मुख्य मानते हैं। वे कला के द्वारा धर्म, अर्थ और मोक्ष की सिद्धि में विश्वास प्रकट करते हैं [2]। उनका विचार है कि सौन्दर्य केवल इन्द्रियसंवेदन रूप सुख अथवा अन्वीक्षामूलक मनन मात्र नहीं है, अपितु विषयालम्बन-जन्य मनःआह्लाद के फलस्वरूप हमें भगवान् का कर्तृत्व-बोध होता है। उसके प्रति हमारा मन भक्ति और कृतज्ञता से भर जाता है। इसी पूर्णता का नाम है, सौन्दर्य [3]।

रस्किन सौन्दर्यानुभूति में नैतिकता को विशेष प्रयोजनीय मानते हैं। वे सौन्दर्य के टिपिकल तथा वाइटल या बाह्य तथा आभ्यन्तर भेदों का वर्णन करते हुए व्यक्ति अथवा वस्तु के बाह्य गुण को बाह्य सौन्दर्य तथा न्याय-संगत जीवनयापन के साथ उत्पन्न होनेवाले सुखबोध को आभ्यन्तर कहते हैं। सुन्दर वही है जिससे व्यक्ति-चित्त में इष्टसिद्धिजनित नैतिक आनन्द की प्राप्ति हो, साथ ही परिदृश्यमान वस्तु

---

१. ह्वॉट इज आर्ट, पृष्ठ १८९
२. लेक्चर्स ऑन आर्ट, पृष्ठ ४३–४४
३. मॉडर्न पेण्टर्स, भाग २, पृ० १६

ऐसी हो कि वह हमारा आलम्बन बन सके। इस प्रकार सौन्दर्य ही पवित्रता-अपवित्रता का भी विभाजक बन जाता है। प्रकाश ही सौन्दर्य है। यह प्रकाश पवित्रता और आन्तरिक शुद्धता का द्योतक है। जिस प्रकार हीरक प्रकाशित होता है और साथ ही अपने आलोक से दूसरी वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही जिस कला में नैतिकता का प्रकाश-रूप सौन्दर्य है वह उस सौन्दर्य को औरों तक प्रसारित करती है। ईश्वर स्वतः प्रकाशमान होने के साथ ही प्रकाशक भी है, अतः सौन्दर्य की पूर्ण परिणति तो उसी में है। उसी परमसुन्दर से सबकी सुन्दरता है। यह संसार उसी की सन्निविष्ट सत्ता के कारण सुन्दर कहा जा सकता है। इसीलिए इसका तिरस्कार उचित नहीं है। साथ ही एक और बात भी स्मरणीय है, वह यह कि जिस प्रकार सुन्दर परमपुरुष पूर्ण है उसी प्रकार सांसारिक सौन्दर्य की खोज भी पूर्णता में ही हो सकती है। समग्रता ही सौन्दर्य की जननी है। समग्र अवयवों के मध्य से वस्तु की आनन्दस्फूर्ति की पूर्णता का विकास ही सुन्दर कहलाता है। प्राणगत सौन्दर्य का विकास चक्षु द्वारा होता है, अतः जिन विषयों से उनका आन्तर सौन्दर्य चक्षु को प्रतिभात नहीं होता उन्हें ही हम कुत्सित कह देते हैं। इसी कारण कठोरता को असुन्दर तथा कोमलता को सुन्दर कहने की चाल पड़ गई है। अभिप्राय यह है कि सुन्दरता आन्तर धर्म तथा नैतिक धर्म के सामंजस्य या सम्मिलिन द्वारा ही उपस्थित होती है।

ईश्वरीय शक्ति और उसी के भौतिक प्रसार के प्रति विश्वास रखकर सौन्दर्य की व्याख्या करने वालों में रीड और ज्वायफ्रे भी हैं। रीड हमारे मनःस्थित ज्ञान और हमारी इच्छाशक्तियों को ईश्वरीय शक्तियाँ मानकर उन्हें मूलतः सुन्दर मानता है और ज्वायफ्रे सौन्दर्य को किसी अदृश्य शक्ति की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। उस अदृश्य शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम हैं भौतिक उपकरण। इस प्रकार ज्वायफ्रे के मत से सुन्दर, सुखद और उपयोगी यह तीनों तीन बातें हैं। तीनों को सापेक्ष अथवा पर्याय मानना अनुचित होगा।

नैतिकता-सिद्धान्त का प्रतिपादन एक और ढंग से भी हुआ है। शिलर महोदय ने जड़, नीति तथा क्रीड़ा नामक तीन जगतों की कल्पना करके मानव-व्यवहार का क्षेत्र निश्चित किया है। इनमें अन्तिम अर्थात् क्रीड़ा-जगत् निर्बन्ध है और इसी में मानवात्मा स्वतन्त्र रहकर कर्म में प्रवृत्त होता है। यह शेष दोनों जगत् का समन्वय-स्थल है। यही सौन्दर्य की भूमि है। आनन्द का क्षेत्र भी यही है। इसी प्रकार लाउत्स और विक्टर कज़िन ने क्रमशः सत्, नियम तथा इष्ट-बुद्धि लोक अथवा भौतिक, नैतिक और मानसिक सौन्दर्य की कल्पना की है। लाउत्स

सत् लोक में ही इष्ट-बुद्धि का समावेश मानता है और नियम-लोक उसके लिए एक साधन मात्र है। सौन्दर्य इन्हीं तीनों के समन्वय में दीख पड़ता है। सौन्दर्य व्यापकता में है। अतः वह हमारी व्यापक आत्मा को आनन्दित करता है और सुख के समान वैयक्तिक प्रभाव मात्र उत्पन्न करके नहीं रह जाता। कज़िन द्वारा कथित मानसिक सौन्दर्य ही प्रधान सौन्दर्य है और वही दो अन्य अर्थात् नैतिक एवं भौतिक सौन्दर्य के रूप में छाया हुआ है। भौतिक सौन्दर्य इसी नैतिक सौन्दर्य पर आधारित है और नैतिक सौन्दर्य भी मानसिक सौन्दर्य से ही रूप पाता है। सारांश यह कि नैतिकता का सौन्दर्य से अविभाज्य सम्बन्ध माना जा सकता है।

काण्ट नामक प्रसिद्ध विद्वान् भी नैतिकता और आध्यात्मिकता में विश्वास रखते हैं। वे भी प्लेटो के समान ही सौन्दर्य का परिणाम विशुद्धिकरण मानते हैं। वे कहते हैं कि प्राकृतिक सौन्दर्य में शुद्धात्मा द्वारा ही मनोनिवेश हो पाता है। ऐसे व्यक्ति को आदर्श तथा शुद्ध आचरण वाला ही कहना चाहिए। आदर्श के अतिरिक्त विषयवस्तु में तो ऐसी कोई अन्तर्निहित शक्ति नहीं है जो सामान्य जन को एक ही समय में तथा समान रूप से प्रभावित कर सके।[1]

काण्ट ने सौन्दर्यबोधजन्य आनन्द के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसकी विलक्षणता का प्रतिपादन किया है। वह सामंजस्य-बोध जनित आनन्द को ही सौन्दर्य-बोध जनित आनन्द मानते हैं। उनका विचार है कि वस्तु का अवलम्बन करके ही आनन्द व्यक्ति-साक्षिक रूप में प्रस्तुत होता है। व्यक्ति-साक्षिक होकर भी यह सर्वसाक्षिक तथा साधारणतया ग्राह्य होता है। इसे न तो इन्द्रिय-सुख ही कह सकते हैं और न नैतिकवृत्ति की परिस्फूर्ति मात्र ही। इन्द्रिय और अतीन्द्रिय का मिलनक्षेत्र ही सौन्दर्य का क्षेत्र है। इसे ज्ञानात्मक न कहकर भावसंवेगात्मक कहना ही उचित होगा। यह एक विशिष्टजातीय अनुभूति है, जिसके सम्बन्ध में यह कह सकना असम्भव है कि यह किस वृत्ति अथवा किस रूप के सामंजस्य से उपस्थित होती है। इस प्रकार स्रष्टा तथा दृश्य में अज्ञात सामंजस्य द्वारा फलीभूत वेदना ही सौन्दर्यवेदना है। उसे सर्वसाक्षिक कहने का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु एक को अच्छी लगेगी वह दूसरे को भी वैसी ही लगनी चाहिए। अतएव वह एकसाक्षिक होते हुए भी सर्वसाक्षिक ही है। इस दृष्टि से यह आनन्द भौतिक सुख से विलक्षण है, क्योंकि भौतिक सुख नियमतः व्यक्तिगत मात्र रहता है, एक व्यक्ति का सुख सभी को—कुछ अपने सम्बन्धियों को छोड़कर—सुखी नहीं बनाता। जिस वस्तु से सभी को आनन्द नहीं मिलता वह कभी भी सुन्दर नहीं कही जा सकती।

१. क्रिटीक ऑव जजमेंट, अनुवादक मेरेडिथ, पृ० १५७

जब किसी वस्तु को उपलक्ष्य करके एकान्तभाव से व्यक्तिगत नियन्त्रण-शून्य होकर तथा स्वार्थ-रहित स्थिति में आनन्द उद्भूत होता है, तब उस वस्तु को हम आनन्द का विषय कहते हैं और उसके आनन्ददायी धर्म की कल्पना करने लगते हैं।[1]

काण्ट ने प्राकृतिक जगत् तथा अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में विचारों की पीठिका उपस्थित करते हुए सौन्दर्यबोध और जागतिक सुख-बोध की तुलना करके इन दोनों को पृथक् सिद्ध किया है । उन्होंने 'क्रिटीक आव प्योर रीज़न' ग्रंथ में बताया है कि हम प्राकृतिक जगत् के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से दर्शन, इतिहास आदि का सहारा लेकर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं । हमारे ये विचार व्यक्तिगत रूप से बाहर दीखने में असंख्य हो सकते हैं, तथापि आन्तरिक रूप से ये परस्पर सम्बद्ध रहते हैं । यहाँ तक कि दो भाव परस्पर विशेष्य-विशेषण के रूप में हो सकते हैं। हमारे व्यक्तिगत विचार भी सामान्य विचार हो सकते हैं। उदाहरणतः, मनुष्य मरण धर्मा है, यह विचार व्यक्तिगत होने के साथ ही सामान्य भी है । इन्द्रियबोध के साथ ही देश या काल के रूप में विषयवस्तु प्रकट होती है। इसी से उसका स्वलक्षण-स्वरूप निश्चित होता है । बाह्यवस्तु अज्ञात माया से आवृत रहती है, अतएव बाह्यजगत् की सत्ता का स्वरूप नितान्त अज्ञात है। यहाँ तक कि हमारे ज्ञान लोक में जिसकी अनुभूति होती है, कभी-कभी उसकी बहिस्सत्ता नहीं होती । हममें एक प्रकार की रीज़न या अलौकिक अनुभूति नाम्नी वृत्ति होती है, जिसके कारण हम आत्मा की निरपेक्ष, स्वाधीन तथा स्वतन्त्र सत्ता अंगीकार करने को तैयार हो जाते हैं । ज्ञान-धारा मानो माया है, अतः ज्ञान-प्रक्रिया से बाह्य-जगत् के सम्बन्ध में निर्देश नहीं मिल पाता। हमारा अन्तर्जगत् ज्ञान तथा इच्छा के योग से संगठित होता है और इच्छा में ही हमारी स्वतन्त्रता, हमारी बाधाहीन प्रवृत्ति का संकेत मिलता है । स्वतंत्रता को बाधाहीन क्रियाप्रवृत्ति अथवा निरपेक्ष कहने का अभिप्राय यह है कि हम किसी उद्देश्य को ध्यान में न रखकर भी अपनी आन्तरिक क्रियाप्रवृत्ति को बाह्य जगत् में व्यक्त कर सकते हैं। बाह्यजगत् में इच्छा या प्रवृत्ति को कार्य रूप में व्यक्त कर पाने का अभिप्राय है कि अज्ञात बाह्य जगत् के साथ हमारे अन्तर की अभिव्यक्त इच्छा या क्रिया-शक्ति का गहरा सम्बन्ध है। अर्थात् बाह्याभ्यन्तर का सामंजस्य घटित होता रहता है। फिर भी हमें उस सामंजस्य का बोध नहीं होता। काण्ट ने इस ज्ञान का स्वरूप समझाने के लिए 'क्रिटीक आव प्योर जजमेण्ट' ग्रन्थ की रचना की और उसमें स्वाधीनताबोध को इन्द्रियबोध तथा विषयबोध से पृथक् सिद्ध करते हुए उसे

१. हिस्ट्री ऑव ऐस्थेटिक्स, बोसांके, पृ० ५१–५६

निर्विषय, आत्मनिष्ठ, अतीन्द्रिय तथा विषयस्पर्शहीन बताया। वे आत्मशक्ति के प्रसार को ही जगत् मानते हैं। बाह्य जगत् को मूलरूप अतीन्द्रिय सत्ता तथा अन्तर्जगत् में स्वतंत्रताबोध की अज्ञात सत्ता में ये ऐक्य स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि इच्छाशक्ति को बाह्य जगत् के अनुकूल बनाया जा सकता है। बाह्य जगत् अन्तर्जगत् का साधन है और अन्तर्जगत् उसका साध्य। जब हम इसी ऐक्य को जान लेते हैं तो हमें प्राकृतिक रूप में फैली एकता में आनन्द आने लगता है। यही साधारण प्रयोजनसिद्धि-निरपेक्ष सौन्दर्यबोध का आनन्द है। यह सौन्दर्यानन्द होकर भी वस्तु के रूप पर आधारित रहता है। निष्प्रयोजन होने के कारण यह व्यक्तिनिष्ठ होकर भी सर्वनिष्ठ हो जाता है। इसका स्वरूप कुछ ऐसा है कि यह जजमेण्ट की संश्लेषात्मक या समीक्षावृत्ति के अवयव-अवयवी भाव से, अण्डर-स्टैंडिंग या बुद्धि के विश्लेषात्मक रूप से, आइडियल आव रीज़न या अतीन्द्रिय अनुभव के समष्टिबोध तथा सुख अथवा मंगल के परिणामी आनन्द से भिन्न और अज्ञात आदर्श को पूर्ण करनेवाला होता है। सुखबोध या श्रेयबोध दोनों उपयोगितावादी दृष्टियाँ हैं और इनमें व्यक्तिगत प्रयोजन-सिद्धि का साहचर्य अवश्य रहता है, किन्तु सौन्दर्यानन्द इन सबसे पृथक् रूप का है। विकल्पवृत्ति या फैकल्टी आव इमैजिनेशन तथा बुद्धिवृत्ति या अण्डरस्टैंडिंग दोनों ही इसमें सम्मिश्र भाव से रहती हैं। यह ऐन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय के सम्मिलन से उपस्थित होता है। यद्यपि भाव-संवेगात्मक होने के कारण इसे व्यक्तिनिष्ठ अथवा आभ्यन्तरीण कहा जाता है, किन्तु केवल इसी आधार पर उसे वेदनात्मक, ज्ञानात्मक अथवा बोधात्मक नहीं कह सकते। सौन्दर्यानन्द एक प्रकार का दर्शनानन्द है जिसमें प्राप्ति-अप्राप्ति-हीन केवल किसी वस्तु के दर्शन से आनन्द उपलब्ध होता है। वस्तु को उपलक्ष्य करके भी सौन्दर्यानन्द वस्तु-निरपेक्ष आन्तरिक आनन्द होने के कारण ही आध्यात्मिक आनन्द भी कहा जाता है। यह केवल वस्तु-निरपेक्ष ही नहीं काण्ट के मत से द्रष्टा-निरपेक्ष भी होता है। इस प्रकार काण्ट का विचार है कि केवल उपलक्ष्य के कारण वस्तु को सुन्दर कहते हैं और विषयीभूत धर्म को सौन्दर्य। काण्ट का विश्वास है कि नीति और सौन्दर्य दोनों व्यक्तिनिष्ठ होने के साथ ही सर्वनिष्ठ भी होते हैं, क्योंकि जो वस्तु या नीति की बात एक के लिए सुन्दर या उचित है वही दूसरे के लिए भी होती या हो सकती है। भला-बुरा लगना तो इन्द्रिय-रुचि पर निर्भर है, किन्तु सौन्दर्यानुभव में एक प्रकार की निश्चिन्तता रहती है कि जो हमें सुन्दर लग रहा है, वही दूसरे को भी सुन्दर लगेगा। सौन्दर्य में धर्म-धर्मी जैसे सम्बन्ध का ज्ञान नहीं रहता अतएव वह अन्वीक्षा से सम्बन्ध नहीं रखता। सौन्दर्य की इस

निरपेक्षता की स्वीकृति में टॉमस एक्वीनस तथा हचसन मेन्डेलसन और नेटेल्टन आदि भी कांट के साथ हैं।

कांट की विशेषता यह है कि उन्होंने सौन्दर्य को प्रात्यक्षिक ज्ञान का पूर्ववर्ती आभ्यन्तरीण व्यापार बताया है। उन्होंने सौन्दर्यबोध-वेदना को एकान्ततः बाह्य-कारण निरपेक्ष और व्यक्तिगत रुचि-निरपेक्ष माना है । वह सर्वजनवेद्य और सर्वनिष्ठ होती है तथा आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होती है । विकल्पवृत्ति तथा बुद्धिवृत्ति के सामंजस्य में ही अन्तःकरण का रूप उद्‌भासित होता है। कांट तथा मेरेडिथ, दोनों आनन्द के पूर्व सुन्दर की उपस्थिति स्वीकार करते हैं।

कांट से पूर्व भी लेसिंग तथा विंकलमन ने कला का उद्देश्य निष्प्रयोजन आनन्द ही माना था, किन्तु उनका अधिक समय एक-दूसरे के विपरीत चित्रादि कला से साहित्य को या साहित्य की अपेक्षा चित्रादि कलाओं को श्रेष्ठ सिद्ध करने में ही लगा। लेसिंग का ध्यान जड़-सौन्दर्य पर ही लगा रहा, जिसके कारण उन्होंने काव्य को भी उसी दृष्टि से परखा और काव्य तथा चित्रादि में केवल इतना अन्तर स्वीकार किया कि काव्य जिस वस्तु का वर्णन करता है, चित्रादि उसी को अंकित करके गतिमय दिखा देते हैं। लेसिंग आदि का ध्यान कांट द्वारा निरूपित बातों की ओर गया ही नहीं था और वह केवल संगति में ही सौन्दर्य मानते रहे, फिर चाहे वह संगति कुत्सित वस्तु की ही क्यों न हो वह उनके लिए सुन्दर ही प्रतीत होती थी। इस प्रकार न तो उनके लिए सुन्दर, असुन्दर या सुन्दर और कुत्सित का ही भेद रह गया न उन्होंने तारतम्य-भेद से उनके परिवर्तन पर ही ध्यान दिया। उन्हीं के समान विंकलमन केवल मनुष्य के शरीर-संस्थान को प्रधान मानकर चले। लेसिंग से उनका मतभेद यही है कि उन्होंने मनुष्यकृत प्रकृति-अनुकरण में भी सौन्दर्य स्वीकार कर लिया है। भाव-परिस्फूर्ति को दोनों ही सौन्दर्य का विरोधी मानते हैं। विंकलमन का विचार है कि आत्मा के विविध भावावेगों के प्रसार के कारण देह में विकार उपस्थित होता है और उससे सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इन्हें रूपाकार में ही सौन्दर्य मानने वालों की श्रेणी में ही रखना ठीक होगा।

इसके विपरीत कांट अन्तर्जगत् के साथ बहिर्जगत् के सामंजस्य को महत्त्व देते हैं और मानते हैं कि किसी वस्तु की सुन्दरता के बोध के समय हमें ऐसा लगता है कि हम जिसे अब तक अपने अन्तर्लोक में अनजाने भाव से खोजते रहे, वही यहाँ प्रकट हो गया है। सौन्दर्य के सम्बन्ध में मतवैषम्य केवल इन्द्रियजधर्म के सम्बन्ध में मत-वैषम्य से उत्पन्न होता है । कांट के इस मत के विपरीत बर्क की उपस्थिति यह है कि हम सभी इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय के विषय को एक ही रूप में ग्रहण करते

हैं। जिसे आप नीला कहते हैं वह मुझे भी नीला ज्ञात होता है। दूसरी ओर हम किसी वस्तु को सुन्दर बताते हुए केवल इन्द्रिय-बोध के आधार पर अपना मत व्यक्त नहीं करते, बल्कि उसके साथ ही हमारी युक्ति, हमारा ज्ञान और हमारी बहुदर्शिता भी व्यवहार में लाई जाती है। इसी कारण सौन्दर्यबोध और सौन्दर्य के सम्बन्ध में इतना मतभेद दीख पड़ता है। यह हमारी बुद्धि की अनेकरूपता और उसके स्तरभेद का ही परिणाम है । कांट सौन्दर्यबोध को प्रत्यक्ष ही नहीं परोक्ष-ज्ञान से भी अलग मानते हैं। उनकी धारणा है कि सभी मनुष्यों में अन्तर्लोक की क्रिया एक ही प्रकार की होती है और अन्तर्लोक के साथ बहिर्लोक के सामंजस्य संगठन में भी सभी व्यक्तियों में एकरूपता रहती है, जिसके फलस्वरूप सौन्दर्यानन्द की अभिव्यक्ति भी एकरूप होती है । तात्पर्य यह है कि कांट के मतानुसार सौन्दर्य के सम्बन्ध में मतभेद सम्भव ही नहीं रह जाता।

इन मतों के अतिरिक्त दो अन्य मत और उल्लेखनीय जान पड़ते हैं। एक मत है बर्नार्ड बोसांके का और दूसरे के प्रतिष्ठाता हैं—हेगेल । बोसांके सुन्दर को ऐन्द्रिय या कल्पित रूप में प्रकाशित वस्तु-धर्म मानते हैं और आनन्द को उसका अवच्छेदक धर्म नहीं मानते । सौन्दर्य की सृष्टि उनके विचार से विभेद में भी ऐक्य की धारणा के कारण होती है । यथा रेखादि के सामंजस्य में अनेक वर्तुल या सरल रेखाएँ भी सौन्दर्याधायक सिद्ध हो जाती हैं । आनन्द न तो अनिवार्य ही है और न साधारण जनों के आनन्द की तुलना कलाकार के आनन्द से की जा सकती है । साधारण जन तो कभी-कभी उन स्थलों का आनन्द ही नहीं ले पाते, जहाँ कलाकार ने आनन्द का अनुभव किया है अथवा कभी-कभी वे विरोधी स्थलों पर आनन्द का अनुभव करने लगते हैं । अतएव प्रत्येक व्यक्ति की आनन्दानुभूति और उसके कारणों में अन्तर होने के कारण आनन्द को सौन्दर्य का अवच्छेदक धर्म नहीं माना जा सकता । दूसरे, सौन्दर्यानुभूति वस्तु पर आधारित है और विषय के अन्य-निरपेक्ष प्रणिधान से उत्पन्न होती है। इस प्रणिधान के परिणाम-स्वरूप ही दुःख भी काव्य में आनन्ददायी बन जाते हैं । वस्तुतः वस्तुस्वभाव के अनुकूल ही आनन्द उत्पन्न होता है । विशिष्ट आकार के आधार पर ही वैक्षिक या ऐस्थिटिक अनुभूति उत्पन्न होती है। एक ही वस्तु नाना आकारों में तदनुकूल अनुभूति उत्पन्न करती है, साथ ही उस समय हमें अपनी जीवनी-शक्ति का भी परिचय मिला करता है । हमारी कल्पना-शक्ति के व्यापार का प्रभाव किसी भी वर्ण या रेखा आदि में सुन्दरता की प्रतीति कराता है । बोसांके का विचार है कि सौन्दर्योपभोग में सर्जन-क्रिया कम हो जाती है और चिन्तन-शक्ति प्रधानता ग्रहण

लेती है। उनका विश्वास है कि कल्पना-वृत्ति के क्षेत्र में वस्तु का आभास उत्पन्न होने पर किसी भी वेदना की सुखात्मक अनुभूति उत्पन्न हो सकती है। इसी सुखात्मक अनुभूति को सौन्दर्यात्मक अनुभूति कहना चाहिए। सुखदायक वस्तु से हमारा आन्तरिक सम्बन्ध होता है और कल्पना के द्वारा वह परिवर्तित-परिवर्द्धित होती रहती है। सौन्दर्यानुभूति की जागृति के लिए यह आवश्यक है कि प्रकृति अथवा मनुष्य सम्बन्धी हमारे ज्ञान से हमारी कल्पना-वृत्ति उद्बुद्ध हो और उससे किसी विषय की सृष्टि होती हो। ज्ञान तथा कल्पना के योग से ही वस्तु की सृष्टि सौन्दर्यानुभूति जागृत कर पाती है। केवल प्राकृत वस्तु को सुन्दर नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार बोसांके अन्तःबाह्य सामंजस्य पर बल देते हुए उन तीनों दृष्टियों को अस्वीकार करते हैं जो या तो प्रकृति पर जड़ता का आरोप करती है या केवल गतिशील जीवन पर ध्यान देती है अथवा केवल ईश्वरीय सौन्दर्य का ही वर्णन करके रह जाती है। क्रोचे से बोसांके का यही पार्थक्य है कि क्रोचे केवल मानसिक व्यापार में ही सौन्दर्य के दर्शन करते हैं और बोसांके आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए अनुरूप रूप की आवश्यकता के विश्वासी हैं। उन्होंने मनोयोग को तो आवश्यक माना ही है, परन्तु साथ ही बाह्य वस्तु को भी गौणता प्रदान नहीं की है। क्रोचे शिल्प को अन्तःप्रकाशमूलक मानकर उसे अखण्ड और अविभाज्य मानते हैं और बोसांके उसे बहिःसापेक्ष्य स्वीकार करते हैं। क्रोचे जिस अखण्डता के कारण भाषा को भी अन्तःप्रकाशमूलक मानते हैं उसके सम्बन्ध में बोसांके का कथन है कि शब्दार्थ, जिससे भाषा की सृष्टि होती है, प्रयोग तथा संस्कार दोनों पर निर्भर है और दोनों के प्रयोग से ही काव्यसुलभ सौन्दर्य की उपस्थिति होती है। केवल कल्पनावृत्ति के व्यवहार या मानसिक अन्तर्दृष्टि से वह सम्भव नहीं है। इस प्रकार बोसांके क्रोचे की भाँति एकांगी दृष्टिकोण नहीं रखते और सामंजस्यवादी ठहरते हैं।

हेगेल ने कला के प्रति दो दृष्टियों से विचार किया है। वह कला को ऐतिहासिक पौर्वापर्य में देखना पसन्द करते थे और कला-संबंधी अन्तर्विश्लेषण पर उनका विशेष ध्यान था। इस प्रकार अन्तर्विश्लेषण के साथ-साथ बहिःविश्लेषण को स्वीकार करके हेगेल ने कला-संबंधी अपने सिद्धान्त निश्चित किये हैं। कला को वह सिसृक्षावृत्ति का परिणाम मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि कला स्वतः स्फूर्त प्रतिभा-व्यापार के द्वारा निरंतर नाना रूपों में प्रकट होती है। इन्हीं नाना रूपों के कारण उसके किसी निश्चित रूप का अभाव दिखाई पड़ता है। हेगेल का यह भी विश्वास था कि हम कला को बहिरंग साधनों से ही समझ सकते हैं। वस्तुतः

उसके पीछे एक अज्ञात प्रेरणा काम करती रहती है जो स्वतंत्र होकर भी युक्ति से परिशोध्य है और शिल्पी प्रेरणा की अवस्था में भी असम्बुद्ध नहीं रहा करता। जिस प्रकार प्लेटो ने कला को प्राकृतिक जगत् का अनुकरण मानकर प्राकृतिक जगत् की अपेक्षा उसे हीन बताया था, उसके विपरीत हेगेल ने कला को आत्मा का चैतन्य धर्म माना, अनुकरण नहीं। उनका विचार था कि कला के समान सप्राणता अन्य किसी में नहीं होती। हम जो कुछ देखते हैं, उसे कला में पुनरुज्जीवित अवस्था में प्रस्तुत करते हैं। प्राकृतिक वस्तु में किसी लक्ष्य की सिद्धि और उपयोगिता की दृष्टि विद्यमान रहती है। कला-सृष्टि के समय मन प्रयोजन-रहित हो जाता है; साथ ही विशिष्टता सम्पन्न भी रहता है। इसी कारण कला-सृष्टि को नवीन मानना चाहिए।

हेगेल प्रकृति को जड़ न मानकर उसे चित् का ससीम प्रकाश मानते हैं। प्रकृति मनुष्य के मन में प्रसार पाती है और स्वतंत्र रूप ग्रहण करके कला-सृष्टि के रूप में उपस्थित हो जाती है। सब चीजें पूर्णता प्राप्ति में ही श्रेय प्राप्त करती हैं और क्षुद्र वस्तु का चित् वस्तु से सम्मिलित और उसके आधार पर पूर्णस्वरूप धारण करना ही सौन्दर्य की सृष्टि है। इसी को कांट ने यह कहकर समझाया है कि अन्तरंग स्वरूप के साथ बहिरंग का मिलन होने पर तत्परिणामी व्यापार ही सौन्दर्य कहलाता है। दोनों की दृष्टि में केवल बाह्य रूप पर्याप्त नहीं है। इसी सम्मिलन को मानने के कारण सुन्दर में रूप और अरूप का, वस्तु और कल्पना का तथा आइडिया और फार्म का अयुतसिद्ध समवाय स्वीकार किया जाता है।

हेगेल प्राणवान वस्तु में विरुद्ध जातीय सत्ताओं की उपस्थिति के कारण विशेष सौन्दर्य मानते हैं, जो जड़ वस्तु में नहीं होता। प्रकृति में न तो स्वतः आत्मप्रसार की शक्ति है और न वह स्वतंत्र ही है। अतएव प्रकृतिगत सौन्दर्य को हेगेल कलागत सौन्दर्य की तुलना में हीन ही मानते हैं। उनके विचार से वास्तविक सौन्दर्य व्यापकता और स्वतन्त्रता में होता है। यह विशेषता कला में ही है, उसी में वास्तविक चिद्विलास है। हम उन्हीं वस्तुओं को कला के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं, जिनसे आन्तरिक स्वरूप व्यक्त होता है। कला के क्षेत्र में हेगेल नीति और उपदेश को स्थान नहीं देते। कला की व्यापकता की रक्षा के कारण ही यह नियम निश्चित किया गया है कि कलासृष्टि के लिए किसी प्राचीन प्रसिद्ध कथानक को ग्रहण करना हितकर होता है। उससे सर्व-साधारण परिचित होते हैं और इस प्रकार उसकी व्यापकता उसके ग्रहण में तुरन्त सहायक बन जाती है। इसीलिये कला में प्रकाशित चरित्रों में भी सर्वसाधारण आध्यात्मिक दशा का अंकन ही आवश्यक माना गया है।

आध्यात्मिक दशा के चित्रण का तात्पर्य है, मनुष्य के अन्तर के समस्त प्रेम, वात्सल्य घृणा तथा द्वेषादि भावों का प्रकटीकरण। इस रूप में प्रत्येक कला में वास्तव शरीर के साथ-साथ चिद्विलास का संयोग आवश्यक है। हेगेल का मत है कि इन दोनों के सम्मिलन-परिमाण में व्यक्ति की योग्यता के अनुसार अन्तर आता रहता है। कलाओं को इसी आधार पर वर्गीकृत करते हुए हेगेल ने स्थपति विद्या को निम्नतम स्थान दिया है, क्योंकि उसमें चिद्विलास उसी मात्रा में अन्य कलाओं की अपेक्षा न्यून रहता है।

सौन्दर्यतत्त्व की इस खोज के इतिहास पर समग्रतया दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यूनानी आचार्य प्लेटो से लेकर हेगेल तक अनेक रूपों में सौन्दर्य की शोध की गई है और भारतीय आलोचकों के समान कभी बाह्य आकार-प्रकार में सौन्दर्य खोजा गया है, प्रकृति में सौन्दर्य मान लिया गया है और कभी उस समस्त सृष्टि के पीछे निहित किसी अज्ञात शक्ति और अज्ञात चेतन-विलास की खोज की गई है। हम एक सिरे से छलांग मारकर दूसरे सिरे पर जा बैठे हैं। कुछ लोगों की स्थिति मध्यस्थ की-सी है, जो बहिरन्तर के सामंजस्य में ही सौन्दर्य मानते हैं। कुछ ऐसे विचारक भी हैं, जिनकी दृष्टि सौन्दर्य को नितान्त आध्यात्मिक स्वीकार नहीं करती और जो उपयोगिता आदि में ही सौन्दर्य देखते हैं। इधर फ्रायड और मार्क्स के आ जाने से फिर दृष्टि में परिवर्तन दिखाई दे रहा है और सौन्दर्य की एक सामाजिक व्याख्या में विश्वास प्रकट किया जा रहा है। साथ ही इलियट का व्यक्तिवादी सिद्धान्त भी प्रचलित है। इन दृष्टियों का उल्लेख डॉ० दासगुप्त के प्रस्तुत ग्रंथ में नहीं हो सका है, अतएव उनका विवेचन करने से पूर्व हम अब तक के विवेचन के संबंध में दो-चार बातें और कहकर ही उन दृष्टियों का विचार करेंगे।

ऊपरी तौर से देखने में ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि दार्शनिक प्लेटो और अन्तस्तत्ववादियों के विचारों में कहीं ऐक्य नहीं है, उनमें गंभीर दृष्टिभेद है, किन्तु यदि हम ध्यान दें तो दोनों में एक ही विचार की विभिन्न रूपात्मक परिणति पा सकेंगे। प्लेटो ने वस्तुतः दो प्रकार की सृष्टि मानी है। एक सृष्टि है जो काल तथा दूरी आदि से परिसीमित दिखाई देती है और जो वस्तु-जगत् के रूप में है। इसके अतिरिक्त वास्तविक सत्ताओं का एक अन्य लोक भी है। इसी लोक में सत्य, शिव, सुन्दर आदि जैसे अनेक विचारों की रूपात्मक स्थिति रहती है। यही रूपात्मक विचार ही मौलिक सत्ता हैं और जगत् इन्हीं की प्रतिकृति अथवा आभास है। यह आन्तरिक जगत् नित्य और अपरिवर्तनीय है तथा दृश्य-जगत् के संपूर्ण सौन्दर्य का कारण है। इसी आन्तरिक जगत् पर परवर्ती विचारकों ने बल दिया है। प्लेटो

की दृष्टि से भी यह बच तो नहीं सका था, किन्तु उन्होंने कला को इतने आग्रह के साथ प्रकृति की अनुकृति माना कि वे सममातृत्व और नीतिमत्ता में ही कला और सौन्दर्य की पहचान करते रह गये, उसकी अन्तरात्मा को उन्होंने भुला दिया। उन्होंने रेखा और वर्ण के सामंजस्य पर तो ध्यान दिया, परन्तु समग्र वस्तु के आन्तरिक सामंजस्य पर नहीं। आध्यात्मिक सौन्दर्य के साथ वह ऐहिक सौन्दर्य का संबंध स्थापित करने में असफल रहे। अरस्तू ने उनसे कुछ आगे बढ़कर कला को नवीन सृष्टि के रूप में मानते हुए चित्स्फूर्ति की ओर अवश्य संकेत किया, किन्तु उनके विचारों में भी बाद में आनेवाले विचारकों के समान यौक्तिकता का अभाव दिखाई देता है। अरस्तू भी गणितीय विद्या के सामंजस्य आदि में फँसकर रह गये। उनसे आगे बढ़कर कांट ने निष्प्रयोजन आनन्द में सौन्दर्य की सिद्धि मानी और हेगेल तक आते-आते गोचर पदार्थों के भ्रामक वैविध्य के मूलवर्ती बुद्धि-संगत केन्द्रीय तत्त्व और भौतिक पदार्थों के समन्वय पर ध्यान दिया जाने लगा। क्रोचे ने सहजानुभूति या स्वयंप्रकाश ज्ञान पर बल देकर ऐकान्तिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया और उसी के अनुकूल उसे तीव्र आलोचना का सामना भी करना पड़ा। क्रोचे के साथ ही बुलो का अध्यान्तरिक दूरी का सिद्धान्त तथा थियोडोर लिप्स का एम्पैथी या आत्म-प्रक्षेपण का सिद्धान्त भी उल्लेखनीय है। जिस प्रकार क्रोचे ने सहजानुभूति की स्थिति के लिए तार्किक चिन्तन या भावना तथा अन्तर्वेग के आकर्षण-विकर्षण से बचने को आवश्यक माना है, उसी प्रकार बुलो ने अपने 'अध्यान्तरिक दूरी' सिद्धान्त के द्वारा एक प्रकार की तटस्थता का अनुमोदन किया है। वह न तो किसी चित्र आदि का आनन्द लेने के लिए उसकी छोटी-से-छोटी बातों में मन को फँसाना और विचार-मग्न होना पसन्द करते हैं और न मंत्रमुग्ध हो जाना ही। दूसरी ओर लिप्स आत्म-प्रक्षेपण का निरूपण करते हुए कहते हैं कि किसी वस्तु में हम जितनी ही क्रियाशीलता के साथ लगते और उसका आस्वादन करते हैं, उतना ही हमें सौन्दर्य का अनुभव होता है। उदाहरणतः, हम किसी पक्षी को उड़ता देखकर स्वयं अपने को ही उड़ता देखने लगते हैं और इसी में हमें सौन्दर्यानुभव होता है। एक मन का दूसरे मन से एकत्व स्थापित कर लेना ही आत्म-प्रक्षेपण है और उसी में हम अपना अन्तर खोकर आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी में सुन्दरता है और यह आनन्द ही सौन्दर्य का आनन्द है। परन्तु लिप्स का यह सिद्धान्त केवल व्यवहारात्मक इच्छा-व्यापार को ही प्रस्तुत करता है, क्रोचे के विचारात्मक अनुभव को नहीं। दूसरे इन दोनों सिद्धान्तों से सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप पर तो प्रकाश पड़ता है, सौन्दर्य की परिभाषा उपस्थित नहीं होती। आन्तरिक सौन्दर्य-सिद्धान्तों के अतिरिक्त

रस्किन का ईश्वरीय सत्ता के विकास में ही सौन्दर्य का दर्शन करना एक अलग महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है और वह एक प्रकार से पूर्णता का सिद्धान्त है, जिसमें पूर्ण ईश्वर की सत्ता में ही सौन्दर्य माना गया है। यह सिद्धान्त एक प्रकार से प्रकृति में उसी ईश्वरीय तत्त्व की व्यापकता दिखाकर उसमें भी सौन्दर्य मान लेता है और हमारे अन्तःदेश को भी उसी का प्रसार मानता हुआ आध्यात्मिक सौन्दर्य की ओर संकेत और सत्य, शिव तथा सुन्दर की एक-साथ प्रतिष्ठा करता है। जब सब कुछ उसी पूर्ण का ही प्रसार है तो कोई वस्तु इनसे हीन कहाँ है, और जब वही सब में है तो नैतिकता ही सौन्दर्य का मूल्य निर्धारित करती है या सौन्दर्य नैतिक होता है, ऐसा मानने में भी कोई हानि नहीं है।

फ्रायड द्वारा प्रचारित मनोविश्लेषण-सिद्धान्त सौन्दर्यानुभूति के समय मस्तिष्क में होनेवाली किसी विशिष्ट क्रिया में विश्वास नहीं रखता और कलाकृति द्वारा उपलब्ध आनन्द को इन्द्रियजनित आनन्द से अथवा साधारण आनन्दमयी अनुभूतियों से भिन्न नहीं मानता। वह कला को जीवन से असम्बद्ध करके देखना नहीं चाहता और सौन्दर्यानुभूति की विशिष्टता स्वीकार करने में उसे यही भय है कि कला जीवन से असम्बद्ध मानी जाने लगेगी। फ्रायड ने मानसिक जीवन के चेतन और अचेतन भेद प्रदर्शित करके इस धारणा का खण्डन किया है कि चेतन ही मानसिक जीवन का मूल तत्त्व है। वह चेतन को मानसिक क्रिया के अनेक अंगों में से एक मानता है। उसकी दृष्टि में मानव-मस्तिष्क कुण्ठाओं की युद्धभूमि है और मानव के मानसिक विकास में यौन-चेतना प्रत्येक स्थिति में शैशव से ही विद्यमान रहती है। सौन्दर्य की उत्पत्ति का आधार भी यही यौन-व्यापार ही है। यौन-व्यापार हमारे अन्दर स्थिति-धारणा की बलवती आकांक्षा का सहकारी बन जाता है और हमारे सृजन-व्यापार को उत्तेजन देता है। स्थिति-धारणा की दृष्टि से ही हममें अपने उपयोग के लिये वस्तु की काट-छाँट करके उसे अपने अनुसार बना लेने की इच्छा का विकास होता है और इस विकास-क्रम में हम अनुसारत्व और उपयोगिता में ही सौन्दर्य देखने लगते हैं। इस प्रकार फ्रायडी दृष्टिकोण यौन-व्यापार से चलकर उपयोगितावाद में परिणत हो जाता है। किंतु उसका संचालन और नियंत्रण होता है यौन-व्यापार से ही। तात्पर्य यह कि मनोविश्लेषणवादी दृष्टि यौन-व्यापार को स्वीकार करके एक ओर कला को जीवन से सम्बद्ध करती है और दूसरी ओर वह उपयोगिता में ही सौन्दर्य का दर्शन करती है, जो जीवन-दृष्टि का स्वाभाविक परिणाम ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि हम कभी-कभी 'ठीक' और

'अच्छा' का प्रयोग पर्याय के रूप में भी कर देते हैं। फिर भी, जीवन से चलकर यह सिद्धान्त एक रूप में मानसिक परितोष का भी रूप धारण कर लेता है, क्योंकि जिसे वह अनुकूलता कहता है, वह आखिर मानसिक अनुकूलता ही तो है। अतएव सौन्दर्यानुभूति भी मानसिक परितोष के रूप में स्वीकार की जा सकती है। पार्थिव उपादेयता के साथ मानसिक उपादेयता का सम्मिलन, नये रूप-व्यापारों का ग्रहण और कल्पना-विधान का उससे मिश्रण नये सौन्दर्य को उत्पन्न करता रहता है। इसीलिये सौन्दर्य-चित्रों में नवीनता और विविधता पाई जाती है। प्रकृति में यत्र-तत्र अपने लिए उपादेयता के लक्षण पाकर हमने उसमें भी सौन्दर्य खोजना आरंभ कर दिया। यह कार्य मनुष्य ने आज नहीं, दीर्घकाल से आरंभ किया है। यही दृष्टि हमें सुख में जिन वस्तुओं का सुखकर अनुभव कराती है, वही दुःख में दुखदायी अनुभव उत्पन्न करती है। परन्तु इस दृष्टि का एक विशेष दोष तो यह है कि हम यौन-व्यापार को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं और मनुष्य की सत्प्रवृत्ति, उसकी स्वार्थ-निरपेक्षता और उदात्त मानसिकता की अवहेलना कर जाते हैं, साथ ही इस प्रकार उपयोगिता में ही सौन्दर्य की प्रतिष्ठा मान लेने से हम सौन्दर्य को दैशिक और कालिक रूप से हटाकर सार्वदेशिक और सार्वकालिक अथवा समष्टिगत रूप नहीं दे पाते। इस रूप में सौन्दर्य केवल व्यक्तिगत रुचि-सीमा में आबद्ध रह जाता है। हो सकता है कि जो वस्तु हमें अच्छी या सुन्दर लग रही है, वह हमारे साथ के दूसरे व्यक्ति को सुन्दर प्रतीत न हो और कभी-कभी एक के लिए कुरूप वस्तु भी उपयोगिता या साहचर्य के बल पर सुन्दर प्रतीत होने लगे। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी जहाँ दूसरों की पत्नियों को ही व्यक्ति अपनी पत्नी से अधिक सुन्दर समझा करता है, वहाँ वह अपनी कुरूप पत्नी को भी कभी-कभी दूसरों की पत्नी की अपेक्षा सुन्दर मानता देखा गया है। यह स्थिति साहचर्य या उपयोगिता के कारण ही उपस्थित होती है, किन्तु इस दृष्टि से इस बात का समाधान नहीं हो सकता कि आखिर संपूर्ण विश्व में सभी लोग गुलाब के फूल को सुन्दर क्यों स्वीकार कर लेते हैं अथवा कोई-कोई काव्यादि सर्वत्र क्यों समानरूप से सम्मानित हो जाता है। इसी प्रकार यदि केवल यौन-व्यापार में ही सौन्दर्य देखें तो ऐसी कलाकृतियों की ही प्रतिष्ठा की जानी चाहिये थी, जिनसे उसके लिए मादक प्रेरणा मिल सकती हो। इसके विपरीत देखने में तो यह आता है और बहुत लोग मानते भी हैं कि ललित कला से हमें या हमारे मानसिक जगत् को एक ऊँची-भूमि पर जाने में सहायता मिलती है, हमें वहाँ एक प्रकार का उदात्त मानसिक आनन्द उपलब्ध होता है।

मार्क्स के द्वारा व्याख्यात सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक जीवन ही हमारे मानसिक जीवन या हमारे विचारों में प्रतिबिम्बित होता है । निःसन्देह भावजगत् का सम्बन्ध मानव-मन से ही है, तथापि ससका परिष्कर्त्ता अथवा उसे समृद्धि दान करनेवाला हमारा सामाजिक जीवन होता है । भावजगत् की अनुभूतियाँ व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों धरातलों से प्राप्त होती हैं ; मार्क्सवादी का विश्वास है कि सामाजिक आधार के कारण ही हम एक-दूसरे के व्यवहार को जानते-पहचानते और एक-दूसरे के समीप पहुँचते हैं । हमारा ज्ञान ही हमारी भावानुभूति को प्रभावित करता है । किसी वस्तु से परिचित हुए बिना हम उससे प्रभावित नहीं होते, अतः सामाजिक धरातल के बिना हमारा वैयक्तिक ज्ञान अथवा हमारी निरपेक्ष अनुभूति का कोई अभिप्राय नहीं होता । हम किसी कलाकृति से जो आनन्द ग्रहण करते हैं, वह उसके भली प्रकार के ज्ञान से ही । जहाँ इस प्रकार के ज्ञान का अभाव रहते हुए भी आनन्द आने का दंभ या भ्रम प्रकट किया जाता है, वहाँ समझना चाहिये कि हमने अपने भाव आरोपित कर लिये हैं, यह नहीं है कि वस्तु में या कलाकृति में सौन्दर्य न होकर हमारे मन में है । इस धारणा के आधार पर मार्क्सवादी सौन्दर्य को सामाजिक या वस्तुगत मानता है । इसी प्रकार वह यह भी मानता है कि सौन्दर्यबोध को हमारा आर्थिक जीवन केवल प्रभावित ही नहीं करता बल्कि वह उसी का प्रतिबिम्ब है ।

इस दृष्टिकोण की इन दोनों ही बातों में पर्याप्त कमजोरी दीख पड़ती है। सौन्दर्य को केवल सामाजिक मानकर इस बात की उपेक्षा कर दी गई है कि मनुष्य की चेतना और उसके विचार केवल सामाजिक परिस्थितियों से ही संयोजित तथा संगठित नहीं होते, उनकी स्वतन्त्र सत्ता भी होती है । व्यक्ति-मन पर सामाजिक छाया तो पड़ती है, परन्तु उसका विचार करना उसके अपने ऊपर निर्भर है, व्यक्ति के चिन्तन के ढंग और उसके मानसिक विकास पर निर्भर है ; मैं जिस बात को आज की परिस्थिति में एक प्रकार से सोचता हूँ, ठीक उसी प्रकार वैसी ही परिस्थिति में रहकर भी दूसरा व्यक्ति कभी-कभी नहीं सोचता। ऐसा केवल व्यक्ति-सत्ता की पृथकता और व्यक्ति-मन की स्वतन्त्रता के कारण ही होता है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि साहित्य या कला प्रायः समाज की विकसित-अविकसित दशाओं की सूचना नहीं भी देती, अर्थात् सामाजिक विकास न होने पर भी किसी देश की कला उन्नत दिखाई दे सकती है और पर्याप्त विकसित देश की कला भी अविकसित दशा में रह सकती है । मानव-विकास के कुछ क्षेत्र अत्युन्नत और कुछ अनुन्नत रह सकते हैं। इसी प्रकार सामाजिक-जीवन का प्रभाव तभी स्वीकार

किया जा सकता है, जब यह सिद्ध किया जा सके कि मनुष्य ने जिस दिन से सामाजिक ढंग से सौन्दर्य को जाना केवल उसी दिन से सौन्दर्य का अस्तित्व माना जा सकता है। किन्तु ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैसी दशा में प्राकृतिक सौन्दर्य के अस्तित्व में शंका उत्पन्न हो जायगी और यह सिद्ध करना कठिन होगा कि मनुष्य के मानने से पूर्व प्रकृति में सौन्दर्य था ही नहीं। वास्तविक स्थिति तो यह है कि इसके विपरीत विकासवादी डार्विन आदि मानते हैं कि पशु-पक्षियों में भी आदि-काल से रंगों और स्वरों आदि के प्रति एक प्रकार की प्रशंसात्मक आकर्षणशीलता पाई जाती है। वे भी इनसे प्रभावित होकर एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। उसे केवल इन्द्रिय-बोध कहकर नहीं टाला जा सकता। इस प्रकार सामाजिक जीवन से भी पूर्व मनुष्य में ही नहीं मनुष्येतर जगत् में सौन्दर्य की परख और सौन्दर्य की स्थिति रही है, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। सही तो यह कहना होगा कि सौन्दर्यबोध की प्रवृत्ति के विकास का पता तो थोड़ा-बहुत लगाया भी जा सकता है, किन्तु सौन्दर्य की उत्पत्ति का पता नहीं लगाया जा सकता। सामाजिक जीवन ने सूर्य और चन्द्रमा, कलकल निनादिनी सरिताओं और सुविकसित पुष्पों के सौन्दर्य को युगों से एक-सा सराहा है। युगीन परिस्थितियाँ बदली हैं, परन्तु इनकी सराहना करने से कोई नहीं चूका। इससे जान पड़ता है कि सामाजिक नहीं सौन्दर्य वस्तुगत होता है और उसे ग्रहण करने की व्यक्ति की अपनी संस्कारगत एक प्रवृत्ति होती है, जिसमें युगीन परिस्थितियों से कुछ परिवर्तन आ जाने पर भी कुछ स्थायित्व होता है। आर्थिक परिस्थितियों को ही श्रेय देना भी एक प्रकार की भूल ही है। आर्थिक स्थिति हमारी विचारधारा को प्रभावित करती है या कर सकती है, इसमें सन्देह नहीं, तथापि एक तो मनुष्य में ऐसा आत्मिक बल है जो उसे अपनी परि-स्थितियों पर विजय प्राप्त करने में सहायता देता है और बराबर इतिहास से इसका प्रमाण मिल भी सकता है, दूसरी ओर यदि व्यक्ति की आर्थिक परिस्थितियाँ ही उसकी साहित्य-कला-सृष्टि में प्रतिबिम्बित होती हैं तो मार्क्स तथा एंजेल्स आदि के सम्पन्न जीवन का प्रतिबिम्ब ही उनकी कृतियों में पड़ा होता और वे आज इस रूप में सिद्धान्त-विशेष के प्रचारक न दिखाई देते, जैसे आज सिद्ध हुए हैं। वस्तुतः उनके जीवन से सिद्ध तो यह होता है कि मानवीय-चेतना मनुष्य की अपनी परि-स्थितियों की दासी नहीं है और न मानव-मन जड़ दर्पण मात्र ही है। इस सम्बन्ध में यदि यह आरोप किया जाय कि मार्क्स आदि की सम्पन्नता और सामाजिक जीवन के प्रति उनके विचारों के सम्बन्ध में उपरिलिखित मत इसलिए ठीक नहीं है कि मार्क्स आदि की वे व्यक्तिगत परिस्थितियाँ थीं और उन्होंने उन्हीं पर विजय प्राप्त

करके तत्कालीन समाज-जीवन की दिशा में ही अपने विचारों को प्रवाहित किया, उसी से वे प्रभावित हुए और इससे उल्टे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य वैयक्तिक धारणाओं को छिन्न-भिन्न करके सामाजिक-जन-मानस की एकसूत्रता से ही प्रभाव ग्रहण करता है, उसी से प्रेरित होता है, तो भी नितान्त रूप से यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आर्थिक परिस्थितियों से त्रस्त मनुष्य भी न तो गुलाब के फूल को असुन्दर कहता है, न संगीत के स्वर या कोई कलाकृति ही उसे भद्दी जान पड़ने लगती है। किसी की अत्यन्त सुन्दर साड़ी देखकर हम अपनी दीनता में चाहे उस व्यक्ति के प्रति अनुदार भावनाओं से भर उठें, किन्तु यह तो नहीं कहते कि यह असुन्दर है, कुत्सित है। बल्कि सच तो यह है कि हमारी घृणा के पीछे भी उस सौन्दर्य को प्राप्त कर लेने की विवश छटपटाहट रहती है, उसके लिए लालच रहता है। ठीक ऐसे ही जैसे किसी गठे शरीर, उभरे वक्ष और गौर वर्ण युवती को देखकर कोई दरिद्र रोगिणी अपना मुँह उसकी ओर से मोड़ ले तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह कोई असुन्दर वस्तु देख रही है, अपितु इस प्रकार वह अपनी दुर्दशा में उसके सौन्दर्य की असह्यता ही प्रकट करती है। तात्पर्य यह कि सौन्दर्य का आकर्षण-तत्त्व सभी परिस्थितियों में स्थायी रहता है और सभी में रहता है, इस अर्थ में तो वह सामाजिक है और मनुष्य या समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ उसमें सुन्दर के प्रति भी कभी-कभी विरक्ति भर देती हैं, इस अर्थ में वह आर्थिक ढाँचे से प्रभावित भी होता है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य की चेतना की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है या वह केवल आर्थिक पहलू से सुन्दर-असुन्दर का निर्धारण करता है और सुन्दर की कोई सार्वकालिक या सार्वदेशिक एक मूलगत स्थिति बिल्कुल है ही नहीं।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि योरोप में सौन्दर्य की चर्चा की चाहे कितनी भी दीर्घ परम्परा क्यों नहीं दिखाई देती, तो भी इतना मानने में कोई हानि नहीं है कि इस परम्परा में किसी वैचारिक एकता की खोज करना व्यर्थ है। सुन्दर की खोज में विद्वानों की एक लम्बी पंक्ति प्रवृत्त अवश्य हुई है, किन्तु सुन्दर का स्वरूप निर्धारित करने में कोई सर्वमान्य ढंग से सफल नहीं हो सका। लम्बी नामावलि, जिसमें से यहाँ केवल प्रमुख का ही नामोल्लेख किया गया है, को देखते हुए और उनके विचारों पर ध्यान देते हुए गेटे के शब्दों में यही कहा जा सकता है "ब्यूटी इज इनएक्सप्लीकेबल, इट इज ए होवरिंग, फ्लोटिंग एण्ड ग्लिटरिंग शैडो, हूज आउटलाइन एल्यूड्स द ग्रास्प ऑव डेफिनिशन" अर्थात् सौन्दर्य का स्वरूप निश्चित करना और समझाना सम्भव नहीं है, वह एक तरल,

भंगुर और अमूर्त आभास-सा है, जिसे परिभाषा की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। बात यह है कि हम सौन्दर्य की परिभाषा करने चलते हैं तो अपनी अनुभूति को टटोलने लगते हैं और अपनी अनुभूति को खोजते हैं तो स्वभावतः अपनी सीमाओं में घिरकर केवल वैयक्तिक धारणा ही प्रस्तुत कर पाते हैं। सुन्दर का सम्बन्ध हमारी अनुभूति से इतना अधिक है कि उस ओर बिना गये हम रह ही नहीं पाते। अनुभूतियाँ सामान्यतः हमारे इन्द्रियबोध पर निर्भर करती हैं, किन्तु उनका नियंत्रण, संयमन, परिष्करण और परिवर्तन-परिवर्द्धन तो हमारे संस्कार करते हैं, जो हमारे वर्तमान परिवेश और भूतकालीन परम्परा, हमारी शिक्षा-दीक्षा और हमारे मानसिक विकास की अपेक्षा रखते हैं। यह मानी हुई बात है कि इन सब में सभी समान नहीं हैं और सबकी प्रतिभा तथा सुरुचि एक-सी नहीं है, अतएव सबके विचार भी एक-से नहीं हो पाते। हमारी स्थिति सचमुच उन अन्धों की भाँति हो जाती है जो हाथी के भिन्न-भिन्न अंगों को टटोल-टटोलकर उसका आकार-प्रकार उसी रूप में निर्धारित कर रहे थे और अंशतः सत्य कहकर भी उनमें से कोई पूर्ण सत्य नहीं कह सका। सौन्दर्य के सम्बन्ध में यह कथा पूर्णतया सत्य है, और इसी तरह कविता पर भी अक्षरशः लागू है। फिर भी इस दृष्टि-भेद से हमारी समझ से इतना तो सत्य है कि सौन्दर्य के स्वरूप का विवेचन एकांगी दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता। हम केवल वस्तुगत सौन्दर्य का निरूपण करके रह जायँ और उसके द्रष्टा का विचार न करें, हम सौन्दर्य की परिभाषा प्रस्तुत करना चाहें और सौन्दर्यानुभूति का उल्लेख भी न करें, यह सम्भव नहीं है। सौन्दर्य का विस्तार-क्षेत्र केवल वस्तु-जगत् तक ही हो यह कोई सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। जब तक हम प्राकृतिक सौन्दर्य की बात करते हैं, केवल तभी तक वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के दायरे में रह पाते हैं, बल्कि वहाँ भी क्या हमारी दृष्टि उस सौन्दर्य के पीछे छिपी हुई किसी असीम शक्ति की ओर नहीं चली जाती? इसी प्रकार यदि हम कलागत सौन्दर्य की बात करने लगें तो स्वभावतः अपने विचारों को कलास्रष्टा-निरपेक्ष नहीं रख सकते। दूसरी ओर हमारे सामने उस कलाकृति का द्रष्टा भी उपस्थित रहता है। इस प्रकार सौन्दर्य-विचार के साथ सौन्दर्यबोध, सौन्दर्य-स्रष्टा और सौन्दर्य-द्रष्टा का प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है। परिणामतः हम वस्तु से व्यक्ति और व्यक्ति से अध्यात्म की सरणियों का अवलम्ब लेते हुए विचार करने लगते हैं। एक ओर उसे वस्तुनिष्ठ मानकर हम उसकी आकर्षणक्षमता, उसके आकार-प्रकारगत सौन्दर्य का पता लगाने में दत्तचित्त हो जाते हैं और दूसरी ओर स्रष्टा और द्रष्टा से सम्बन्ध मानकर आध्यात्मिक व्याख्या के प्रवाह में ब्रह्म के स्वरूप

का आधार ग्रहण करते हैं और आन्तरिक सौन्दर्य का निरूपण करते हुए कभी मन-वाणी और कर्म में भी सौन्दर्य देखते हैं और कभी सामाजिक धरातल का विचार करते हुए सत्य, और शिव से उसका गठबंधन करते हैं। इस ग्रंथ का उद्देश्य इन विचारों का विश्लेषण करना उतना नहीं है जितना विभिन्न विचारकों के मतों का इतिहास प्रस्तुत करना है। अतः हम इसी क्रम में भारतीय दृष्टि से सौन्दर्य-निरूपण का प्रयत्न करेंगे।

भारतीय विचारकः

योरोपीय विद्वानों को भले ही यह कहकर अपनी गवेषणा से आत्मतोष होता हो कि भारत में इस सम्बन्ध में कोई विवेचन नहीं किया गया, किन्तु उदारता पूर्वक ध्यान देने से यह बात किसी से छिपी नहीं रह सकती कि भारत में वेदकाल से ही सुन्दर के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण रहा है। सुषमा के इस देश के ऋषि ने उसके स्वरूप को न केवल समझा ही है, अपितु उसके भेदों पर भी ध्यान दिया है। साथ ही सुन्दर का वर्णन वेद के परवर्ती काल में केवल साहित्य-शास्त्र तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि कलाओं के प्रसंग में भी उसका विचार किया गया है। शुक्रनीति, मानसार तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं। भारतीय कवि की लेखनी चित्रांकन के लिए चित्रकार की तूलिका को पथप्रदर्शक मानती रही है और तूलिका ने साहित्य का मुँह जोहा है। महाकवि कालिदास ने निम्नलिखित श्लोक में इसी सत्य की उद्घोषणा की है। साथ ही उन्होंने सामंजस्य के उस रहस्य का उद्घाटन भी किया है, जिसके आधार पर सौन्दर्य का महल निर्मित होता है। उन्होंने सूर्य और अरविन्द को प्रस्तुत करके सौन्दर्य की सिद्धि के लिए वस्तु तथा व्यक्ति के सामंजस्य के रहस्य का सहज ही उन्मीलन कर दिया है। यथा,

उन्मीलितम् तूलिकयेव चित्रम् ,
सूर्यांशुभिरभिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याः चतुरस्रशोभी ,
वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥

पार्वती के इस स्वरूप-वर्णन में कवि ने मानो प्रकृति की विजय भी स्वीकार कर ली है।

ऋग्वेद में सुन्दर के अनेक पर्याय मिलते हैं, जिनके अर्थों के भेद पर ध्यान देने से भारत के सौन्दर्य-विषयक ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। पिशेल तथा ओल्डेनबर्ग आदि ने इन शब्दों की तालिका देने के साथ-साथ अर्थ के भेद का भी

उल्लेख किया है। कुछ शब्द इस प्रकार हैं :

१. पेशस्, २. अप्सस्, ३. दृश, ४. श्री, ५. वपुः, ६. वल्गु, ७. श्रियः, ८. भद्र, ९. भण्ड, १०. चारु, ११. प्रिय, १२. रूप, १३. कल्याण, १४. शुभ, १५. चित्र, १६. स्वादु, १७. रण्व, १८. यक्ष तथा १९. अद्भुत् आदि।

'वपुः' तथा 'यक्ष' शब्दों का प्रयोग अंग्रेजी के सब्लिमिटी या हिन्दी उदात्त के अर्थ में हुआ है, तथापि दोनों के अर्थों में भेद है। प्रथम के द्वारा आदर तथा भय की मिश्रित अवस्था, जीवन का अध्यात्म-दर्शन तथा सत् की अनुभूति अथवा उसके ज्ञान का अर्थ-बोध होता है और दूसरे के द्वारा विरोधी भावों के उद्भव तथा विषय-बोध का अर्थ लिया जाता है। 'रूप' शब्द के सायण ने दो अर्थ माने हैं : १, अतिविस्तृत रूप तथा २, बहुरूप। इसके द्वारा सौन्दर्य की व्यापकता को स्वीकार किया गया है। 'अप्सः' शब्द केवल विषयगत सौन्दर्य का बोध कराता है। इसी प्रकार मानस-शरीर अथवा अन्तर्बाह्य अवस्था का ज्ञान कराने के लिए सुन्दर के स्थान पर 'लावण्य' शब्द का प्रयोग किया गया है । ऋग्वेद में मरुत को 'शुभ' और अश्विनों को 'शुभस्पति' कहा गया है। इस शब्द को हम एकांगी रूप से केवल शैली या बाह्य शरीर का द्योतक मात्र नहीं मान सकते, क्योंकि वेद तथा लौकिक संस्कृत में इसे पवित्रता से सम्बन्धित माना गया है। अतः यह वस्तु का भी द्योतक है। इसके द्वारा अभ्यन्तर तथा बाह्य के सामंजस्य को स्वीकृति मिलती है, यही कारण है कि अश्विन्, जो साहित्य में सौन्दर्य-प्रेमी के रूप में प्रसिद्ध हैं, शुभस्पति कहे गये हैं। हाँ, 'पेशस्' शब्द को हम अलंकरण का द्योतक मान सकते हैं किन्तु, वेद में प्रयुक्त 'विश्वपेशस्', 'सहस्रप्स' तथा 'हिरण्यपेशस्' शब्द इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं, कि इनके द्वारा केवल शैली का ही विचार नहीं किया गया है। विशेषतः विश्वपेशस् शब्द तो व्यापक-सौन्दर्य का द्योतक है ही। इसी प्रकार सम्भवतः 'सहस्रपेशस्' के द्वारा सौन्दर्य के बहुविध प्रसार पर ध्यान दिया गया है। 'हिरण्यपेशस्' को यास्क उपदेशात्मकता तथा आनन्द का, आत्मा और अर्थ का समन्वय-द्योतक मानते हैं। अतः 'पेशस्' वस्तु तथा शैली के समन्वित रूप को ही प्रकट करता है।

इतना ही नहीं ऋग्वेदीय कवि ने सौन्दर्य के उत्कर्षापकर्ष में अलंकारों का कितना हाथ है, इस बात पर भी विचार किया है। एक कवि का कथन है कि प्रभा-किरण 'अशरीर' अर्थात् अरुचिकर को भी 'सुप्रतीक' अर्थात् सुन्दर बना देती है। निम्नलिखित ऋचा में 'गावः' शब्द का प्रयोग प्रभाकिरण के अर्थ में ही हुआ है :—

यूयम् गावो मेदयथा कृषंचिद् ।
अशरीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।। ६-२८-६ ।।

ऋग्वेद में कहा गया है कि अलंकार विषय को सुन्दरता प्रदान नहीं करते, अपितु विषय ही अलंकार को सुन्दर बनाता है । अलंकार सुन्दर वस्तु को भी कभी-कभी असुन्दर रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। उनका विषयानुकूल वर्णन या प्रयोग न होने पर उनसे विषय की सुन्दरता को हानि ही पहुँचती है। यथा, कभी-कभी शरीर के अननुकूल वस्त्र भी उसे असुन्दर रूप में प्रकट करते हैं—

अशरीरा तनुर्भवति। रुषति पापयामुया ।। १०-८५-३० ।।

इस प्रकार ऋग्वेदीय ऋषि के लिए वस्तु स्वयं प्रकाशमान—विरजतः—है, अलंकार उसे बिगाड़ भी सकते हैं और उसके रूपाकर्षण को अनुकूल होने पर बढ़ा भी सकते हैं। तात्पर्य यह कि ऋग्वेद के समय ही भारतीयों ने सौन्दर्य के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म विचारों को प्रकट किया है । लौकिक संस्कृत काल में भी सुन्दर के लिए शोभन, विचित्र चित्रमय के लिए पेशल, आनन्दमय के लिए रमणीय, प्रिय और रूपवान के लिए चारु, और इसी प्रकार मयूनि आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

उपनिषदों में सत्य, शिव तथा सुन्दर तीनों की अभिव्यक्ति मिली है । किन्तु, उनका क्षेत्र भौतिक सीमाओं के परे परमपुरुष अव्यक्त के अंकन का क्षेत्र है। वे आध्यात्मिकता के विचार से इन शब्दों का उल्लेख करते हैं, शास्त्रीयता प्रदान करने के विचार से नहीं। उपनिषद् का मर्म ही यह है कि वैचित्र्य और बहुविधता के मूल में उसी अपरूप की ही सत्ता जान पड़ती है। उसका रूप क्या है ? प्रकाश ही उसका धर्म है, वह रवितुल्य रूप वाला है, परमज्योति है । किन्तु, प्रकाश का भी एक धर्म है, वह है—आनन्द । प्रकाश शरीर है, आनन्द उसका जीवन, उसकी गति है।

अभिप्राय यह कि उपनिषद् में सुन्दर रूप, रस, प्रकाश तथा आनन्द से एकाकार होकर उपस्थित हुआ है। उसके रूप तथा आनन्द को द्योतन कराने के लिए ही उसे सौर तथा चान्द्र से उपमित किया गया है। इसी आनन्द को भारतीय सृष्टि का आदिकारण मानते हुए कहता है :—'आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'। इसीलिए उसने स्वीकार किया है कि परमात्मा सौन्दर्यातिशय समन्वित परम शक्तिमय है। बीजरूप में प्रतिष्ठित है। अतएव आनन्द भी एक प्रकार से सुन्दर का प्रकाश ही है । दर्शन का आनन्दमय, तात्विक दृष्टि से ब्रह्म का सत् स्वरूप,

दार्शनिक विचार से चित् और पारमार्थिक दृष्टि से आनन्द है। कला और साहित्य में उसी चिदानन्द परम तत्त्व को सुन्दर कह देते हैं। उस परम सुन्दर मनभावन को आनन्द स्वरूप कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि सुन्दर का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति ही है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वेद आदि में यदि देवताओं की पूजा धार्मिक दृष्टि से की गई है तो वैदिक भारतीय ने अपने चतुर्दिक सौन्दर्य के जिस प्रसार को देखा, जिस ज्योति ने उसकी आँखों को आकर्षित किया, जिस दृश्य से उसका हृदय पुलकित हो उठा, उस सबको उसने परम सुन्दर की सुन्दर सत्ता के रूप में स्वीकार करके उसे अपनी कल्पना और अपने हार्दिक आनन्द से मंडित कर दिया।

आगे चलकर श्रीमद्भागवत ने उसका स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में अंकित किया :—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं, तदेव शश्वन्मनसोमहोत्सवं।
तदेवशोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥

श्री मधुसूदन सरस्वती ने परमात्मा को 'सौन्दर्यसारसर्वस्व' कह कर उसके आध्यात्मिक स्वरूप को ही अंकित किया है। परमात्मा को सर्वस्व मानकर चलने वाला यह देश उसी में सब शक्तिमत्ता, सौन्दर्य, आकर्षण अथवा आनन्द आदि ढूँढ़ता है। स्पष्ट है कि भारतीय बुद्धि बाहरी रूप को भेदकर आन्तरिक सौन्दर्य की खोज में रत है।

संस्कृत साहित्य में एक ओर तो कवियों ने सौन्दर्य के अनूठे चित्र उपस्थित किये हैं और दूसरी ओर शास्त्रों में उसकी चर्चा हुई है। वाल्मीकि ने राम को कभी द्युतिमान, कभी समविभक्तांग, कभी स्निग्धवर्ण तथा कभी सुलक्षण कहकर इसी दृष्टि का परिचय दिया है। उनके द्वारा दी गई सौन्दर्य की यह कसौटियाँ प्रायः अंग्रेजी की ब्राइटनेस, सिमेट्री, कलरफुल आदि कसौटियों से मिलती-जुलती हैं। कलाओं में सौन्दर्य के पारखी भर्तृहरि ने सम्भवतः कोमलत्व, स्निग्धत्व, मृदुत्व आदि गुणों को देखकर ही नारी को सौन्दर्य का उपमान मान लिया है। किन्तु इन कवियों के बीच कालिदास तथा बाण दो ऐसी दिव्य प्रतिभाएँ हैं जिनके सौन्दर्य-निरूपण की बराबरी अन्यत्र कम ही मिलेगी। कालिदास ने सौन्दर्य के रमणीय चित्रों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसकी पराश्रय-निरपेक्षता, नित-नूतनता, पूर्णता, आकर्षकता, आनन्दात्मकता तथा आध्यात्मिकता का वर्णन भी किया है और सुन्दर की वस्तु-निष्ठता अथवा व्यक्ति-निष्ठता के सम्बन्ध में भी अपने विचार दिये हैं। बाण रंग-योजना में अद्वितीय ज्ञात होते हैं।

कालिदास ने अपने काव्यों में विभिन्न स्थलों पर सुन्दर की चर्चा की है। उनका विश्वास है कि प्रकृत्या वस्तु सुन्दर हो तो बाह्य अलंकरणों की कोई आवश्यकता नहीं है। मधुर आकृतियों का मण्डन भला अलंकार क्या करेंगे ? शकुन्तला को देख लीजिए न, वनचारी और वल्कलधारिणी होकर भी वह और-और मनोज्ञ ही लगती है। क्यों न हो, शैवाल से ढँका हुआ सरसिज भी तो स्वतः सुन्दर होने के कारण रम्य ही लगता है, कुछ धब्बों से मलिन बना हुआ हिमांशु भी तो इसीलिए सुन्दरतर लगता है कि वह सहज सुन्दर है। फिर जिस शकुन्तला को प्रकृति ने इन्हीं की भाँति जन्म से ही लुनाई भेंट कर दी वह भला वल्कल में भी क्यों न शोभित हो ? सहज सौन्दर्य कुरूपता को भी सुन्दर ही बना लेता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ शा० १।१८

कालिदास के मन में यह बात पैठ चुकी थी कि सुन्दरता यदि अनित्य उपकरणों से बनाई हुई नहीं है, स्वाभाविक है तो वह नित्य और अपरिवर्तनीय है। वह स्वतः पूर्ण है और पूर्ण होने के कारण ही सभी अवस्थाओं में अतिरस्कृत ही नहीं रहती, बल्कि शोभाधिक्य-से और-और जगमगाती रहती है । उन्होंने इसी विश्वास को बार-बार प्रकट करने की चेष्टा की है। कभी भी वह इस बात को भूल नहीं पाते।[1] किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि वे सौन्दर्य को केवल वस्तु का गुण मानते हैं। इसके विपरीत वे उसमें निहित अन्तरीण सौन्दर्य-शक्ति का दर्शन करते हैं, स्वाभाविक सौन्दर्य पर बल देना उन्हें इसी कारण आवश्यक प्रतीत हुआ। यह सौन्दर्य प्रकृतिदत्त ही नहीं है ईश्वर द्वारा प्रतिष्ठित, आध्यात्मिक और अभौतिक भी है। पार्वती का चित्र खींचते हुए उन्होंने इसी सत्य का उद्घाटन किया है।[2] साथ ही उन्होंने 'द्रव्यसमुच्चय' तथा 'यथाप्रदेशं' कहकर क्रमशः हारमोनी तथा सिमेट्री को भी स्वीकार कर लिया है। भारवि ने भी कालिदास के समान ही रम्यता को निरपेक्ष

१—सर्वावस्थासु रमणीयत्वम् आकृतिविशेषाणाम्।—शा०, ६ अंक।
सर्वावस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्णाति—शा०, २ अंक।
सर्वावस्थासु अनवद्यता रूपस्य—मालविकाग्निमित्र, २ अंक।

२—सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौंदर्यदिदृक्षयेव॥—कुमार० १।४९

मानकर ही उसका वर्णन किया है।[१] माघ की दृष्टि सौन्दर्य की नित नूतनता पर चली गई है।[२] वे रमणीयता को क्षण-क्षण परिवर्तनमान बताते हैं, किन्तु इसलिए नहीं कि वह क्षणस्थायी है, बल्कि इसलिए कि उसका अन्तर्हित सौन्दर्य छायाप्रकाश के खेल खेलता रहता है। जितना-जितना हम उसका अन्वेषण करते हैं, उतना ही वह खिलता और निखरता चला आता है। यही परिवर्तन का आकर्षक रहस्य है।

इन कवियों का विश्वास था कि स्वाभाविक सौन्दर्य, जो आन्तरिक होने के साथ ही बाहर भी छलकता है, अपनी निकाई में अद्वितीय तथा निरन्तर नावीन्य उत्पन्न करने वाला होता है।

साहित्य-शास्त्र में सौन्दर्य की विभिन्न रूप से चर्चा की गई है। अलंकार, रीति, गुण, औचित्य, ध्वनि तथा रसादि कितने ही सिद्धान्त काव्य के स्वरूप का अंकन करने के लिए सामने आए और उन्होंने किसी-न-किसी रूप में सौन्दर्य का भी विचार कर लिया। और भी कुछ न हुआ तो कम-से-कम उद्दीपन का स्वरूप-वर्णन करते समय ही हारमनी या प्रोपोर्शन की चर्चा आ गई। यथा, उज्वल-नीलमणि के लेखक श्रीमद्रूपगोस्वामी ने अंग-प्रत्यंग के यथोचित सन्निवेश, सुश्लिष्टता आदि को सौंदर्य कहा है[३] और बिना भूषित किये भी अंगों का भूषितवत् प्रतीत होने को रूप माना है।[४] इसी प्रकार गुणों के वर्णन में सौन्दर्य के कई उपकारकों का विचार कर लिया गया प्रतीत होता है। हमारे यहाँ जिसे श्लेष गुण कहा गया है उसका लक्षण है मसृणता, अर्थात् जहाँ अनेक पद भी एक के ही समान भासित हों वहाँ श्लेष गुण माना जाता है। इस मसृणता को हम स्मूथनेस कहें तो अनुपयुक्त न होगा। इसी प्रकार अवैषम्य रूप समता नामक गुण को सिमेट्री, उक्ति-वैचित्र्य रूप माधुर्य को वैराइटी, ओज को इंट्रीकेसी, अर्थविमलता रूप प्रसाद को सिम्प्लिसिटी एवं दीप्त-रसत्व रूप वाली कान्ति को कलरफुलनेस कह सकते हैं। इसी प्रकार औचित्य में भी फिटनेस, प्रोप्राइटी, राइटनेस तथा एप्रोप्रिएटनेस का अन्तर्भाव सहज ही हो जाता है। किन्तु वस्तु-निष्ठता की एकांगी दृष्टि ने इन मतों के विकास का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। काव्यात्मा की खोज करते-करते हमारे यहाँ के आलंकारिक

१—न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्।—किराता० ४।२३

२—क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः।—शिशु० ४।१७

३—अंगप्रत्यंगकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टः सन्धिबन्धः स्यात्तत् सौन्दर्यमितीर्यते। उ० नी०, उद्दीपन प्रकरण १९

४—अंगान्यभूषितान्येव केनचिद् भूषणादिना।
येन भूषितवत् भाति तद् रूपमिति कथ्यते। वही, १५

चमत्कार पर जाकर रुके और सभी विधानों में चमत्कार का चमत्कार प्रसरित हो गया। क्षेमेन्द्र ने औचित्य से ही चमत्कार का उदय स्वीकार कर लिया, क्योंकि औचित्य के अभाव में काव्य में उस मनोज्ञता के उदय की आशा नहीं की जा सकती जो सहृदय को आकृष्ट कर सके। यही औचित्य रस का भी जीवित है, अतः उस चमत्कार की सिद्धि का रस से घनिष्ट सम्बन्ध है।[1] चमत्कारहीन काव्य उसी प्रकार अनाकर्षक मान लिया गया जिस प्रकार यौवन से भरपूर होते हुए भी लावण्य-हीना नायिका अनाकर्षक ही बनी रहती है।[2] क्षेमेन्द्र ने 'चमत्कृति' के लिए जिस उपमा से काम लिया है उसी सिद्धि में लावण्य शब्द का प्रयोग उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ। अतएव चमत्कार का सम्बन्ध लावण्य से है, और लावण्य का सम्बन्ध सुन्दर से है। अतएव चमत्कृति का सम्बन्ध भी सुन्दर से ठीक बैठता है। दूसरी ओर इस चमत्कार के दश विभागों में दो के 'अविचारित रमणीय' तथा 'विचार्यमाण, रमणीय' नामक भेद भी इस बात के द्योतक हैं कि चमत्कृति का सम्बन्ध जैसा लावण्य से है वैसा ही रमणीय से भी। रमणीयता के सम्बन्ध में जहाँ अन्य बातें कही गई हैं वहाँ 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' के द्वारा रमणीयता का प्रयोग क्षण-क्षण परिवर्तनमान नूतनता के अर्थ में भी किया गया है। अतएव यदि 'चमत्कृति' और 'रमणीयता' परस्पर पर्याय हैं तो कहा जा सकता है कि सौन्दर्य का पश्चिमी विद्वानों पर कथित 'नावीन्य' नाम गुण भी हमारे यहाँ स्वीकृत है।

'चमत्कार' शब्द कहीं काव्यास्वाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और कहीं आश्चर्य के उत्पादक गुण के रूप में। १४वें शतक के मध्य 'चमत्कार चन्द्रिका' के लेखक विश्वेश्वर ने 'चमत्कार' को आह्लाद का ही पर्याय स्वीकार किया है और उसके गुण रस, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या तथा अलंकृति नामक सात आलम्बन माने हैं।[3]

१—औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।। औ० वि० च०

२—एकेन केनचिद अनर्घमणि प्रभेण काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते लावण्यहीनमिव यौवनमंगनानाम्। कवि० क० ३।२

३—चमत्कारस्तु विदुषामानन्द-परिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शैयामलं कृतिम्।।
सप्तैतान्नि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः। भारतीय साहित्यशास्त्र—उपाध्याय, भाग २, पृ० ३५८

हमारे यहाँ चमत्कार को रस का सार कहा गया है (रसे सारश्चमत्कारः)। जिसका अभिप्राय यह है कि चमत्कार और आनन्द का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। चमत्कार को नवीनता का पर्याय मानने से उसके अनन्तत्व, अमेयत्व अथवा अखण्डत्व आदि की रहस्यमयी अनुभूति ही रसानुभूति कहलाती है। चमत्कार की नवीनता का अर्थ यही है कि वह अनन्त, अमेय, अखण्ड और अभूतपूर्व है। यदि चमत्कार सुन्दर का पर्याय है तो सौन्दर्य की अनुभूति को भी रस की अनुभूति के समान ही अनन्त, अमेय, अखण्ड आदि के रूप में मानना चाहिए। यह व्यवहार लोकसिद्ध है कि जिस वस्तु को हम सुन्दर कहते हैं उसकी थाह हमारी बुद्धि नहीं लगा पाती। मन के आनन्द को हम भाँप नहीं सकते। जितना-जितना हम उसे निहारते हैं उतना ही सौन्दर्य छलकता आता है और उतना ही अथाह प्रतीत होने लगता है। ठीक ही कहा है :—

ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि
त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई।

सौन्दर्य नवीन ग्रन्थियों का सृजन करता हुआ, संस्कार रूप ग्रन्थियों को सुलझाता हुआ चलता है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादन के द्वारा संभवतः सौन्दर्य के इसी लक्षण की ओर संकेत किया है कि वस्तु के दर्शन से हमारे हृदय में नवीन-नवीन भावनाओं और प्रेरणाओं का संचार इसी प्रकार होता चला जाता है जिस प्रकार घण्टे के निनाद का अनुरणन दीर्घ काल तक हमारे कानों में गूँजता रहता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'चिदावरण-भंग' की चर्चा करके मानो इसी रहस्य का उद्घाटन किया है। चिदावरण-भंग हमें मोह-निद्रा से छुड़ा कर उस रहस्य की अनुभूति कराता है जिस रहस्य का सुख अनिर्वचनीय है। लौकिक सुख जिसके पास तक नहीं फटकता, जहाँ बुद्धि का प्रवेश नहीं हो पाता, बुद्धि का प्रसार जहाँ रुक जाता है, वहीं से उसका लोक आरम्भ होता है। बुद्धि हमें व्यक्तिगत सम्बन्धों में लगाती है और चिदावरण भंग हो जाने पर हम उन व्यक्तिगत संबंधों से मुक्त हो जाते हैं। एक विशेष प्रकार की विश्रान्ति, एक विशेष प्रकार का लय अथवा समाधि-सुख हमें अनुभव होने लगता है। इस प्रकार हमारे यहाँ 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग साधारण नहीं आध्यात्मिक अर्थों में हुआ है। इसके द्वारा हम आत्मा की पहचान करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ चमत्कार या सौन्दर्य अनुभूति के रूप में स्वीकार किया जाता है। दृश्यवस्तु का तिरस्कार न करते हुए भी वह वस्तु हमारे लिए व्यक्तिगत सम्बन्धयुक्त मात्र नहीं रह जाती।

पण्डितराज द्वारा कथित चमत्कार जनित आनन्द सामान्य आनन्द नहीं है। अतएव उसे 'जाति-विशेष' कहने की आवश्यकता हुई। "पुनः पुनः अनुसन्धानात्माभावनाविशेषः" पंक्ति में भावनाविशेष शब्द के द्वारा विशेष संस्कारोद्‌बोध की ओर भी संकेत कर दिया गया है। अर्थात् सौन्दर्यबोध के साथ उत्पन्न होने वाले संस्कारों का मूर्त रूप आवश्यक है। भावों का मूर्त रूप ही सौन्दर्य है। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध के दो पक्ष हैं। एक ओर उससे पुरातन संस्कार आन्दोलित होते रहते हैं और दूसरे नितनूतन आकर्षण और अनुसंधान की प्रवृत्ति बढ़ती चली जाती है। तात्पर्य यह कि रमणीयता का रहस्य पार्थिव ही नहीं, उसके साथ-साथ आध्यात्मिक भी है। पार्थिव वस्तु-जगत और सहृदय की आत्मा का सम्मिलन ही सौन्दर्य की वास्तविक भूमि है। दोनों के इस समन्वय के आधार पर यह कहना ही उचित होगा कि भाव के अभाव में वस्तु सुन्दर नहीं रहती और वस्तु के अभाव में सौन्दर्य अशरीरी हो जाता है, अर्थात् संस्कार-मात्र रह जाता है।

सौन्दर्य के लिए हमारे यहाँ आलंकारिकों ने 'चारुत्व' शब्द का प्रयोग भी किया है। वे अलंकार को 'चारुत्वहेतु' कहते हैं। 'अलंकारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः'। वामन ने 'सौन्दर्यमलंकार' कह कर चारुत्व, सौन्दर्य और अलंकार तीनों को मानो एक कर दिया है। अभिनव ने अलंकार को 'विच्छिन्तिप्रकार' कहा। इस प्रकार इन तीन के साथ विच्छित्ति और मिल गया। साथ ही 'वैचित्र्य-मलंकारः' की घोषणा के कारण 'वैचित्र्य' भी सुन्दर के क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया। रसवादी होते हुए भी मम्मट ने यह स्वीकार कर लिया था कि रस के अभाव में भी यदि अलंकार का प्रयोग उचित रीति से हो तो काव्य में वैचित्र्य की सत्ता बनी रहती है। इस प्रकार इन लेखकों ने अलंकार के अन्तर्गत 'वैराइटी' और 'ब्राइटनेस' को स्वीकार कर लिया।

भारतीय साहित्यशास्त्र में सौन्दर्य का विशद विचार कुन्तक ने प्रस्तुत किया। कुन्तक वाचक और वाच्य, वाक्य और अर्थ की समग्रता को ही काव्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में वे 'यूनिटी ऑव एक्सप्रेशन एण्ड लैंग्वेज' को स्वीकार करते हैं, केवल 'एक्सप्रेशनिज्म' को नहीं। जहाँ अर्थ का चमत्कार हो किन्तु भाषा-सौष्ठव न हो, भाषा-विन्यास हो परन्तु अर्थ-सौन्दर्य न हो, वहाँ वे काव्य नहीं मानते। यों शब्द-विन्यास भी अपने-आप में कम महत्त्वपूर्ण अथवा कम सुन्दर नहीं है, क्योंकि कोई अर्थ न भी समझे तो भी अच्छे काव्य के वाक्य-विन्यास मात्र में ऐसा सौन्दर्य होता है कि वह संगीत के समान ही हृदय को आह्लादित कर देता है। वे काव्य-सौन्दर्य के लिए 'सौभाग्य' और 'लावण्य' जैसे दो शब्दों का प्रयोग करते हैं।

सौभाग्य छन्दोमयी वाणी के अन्तरीण धर्म को प्रकट करता है और लावण्य उसके बाह्य की सुन्दरता का संकेतक है। कुन्तक सौन्दर्य को विषयीगत मानते हैं। शब्दादि का महत्त्व काव्य में इतना ही है कि वह हृदय की कल्पना को उत्तेजित कर देते हैं। अतएव सौभाग्य के लिए लावण्य की महत्ता भी कम नहीं है। लावण्य का आधार पाकर ही सौभाग्य प्रस्फुटित होता है। फिर भी काव्य के सौन्दर्य को पद, वाक्यार्थ आदि से पृथक् ही समझना चाहिए। काव्य के अन्तरंग को समझने वाले व्यक्ति को उसके शब्दार्थ मात्र समझने वाले व्यक्ति से निश्चय ही भिन्न प्रकार का पानक-आस्वाद के सदृश आस्वाद होता है।[1] अतः विद्वानों ने सहृदय की योग्यताओं का उल्लेख किया है। विषय की सत्ता सौन्दर्यानुभूति में एक विशेष महत्त्व रखती है अवश्य, किन्तु उसका आनन्द का उपभोक्ता सहृदय ही वस्तुतः सौन्दर्य की सिद्धि करता है। विषयी में ही सौन्दर्य की भावना निहित है।

रस-विचार के अन्तर्गत अनुभूति के रहस्य का उद्घाटन करते हुए सुन्दर के मर्म तक भी भारतीय पहुँचे हैं। रसानुभूति सिद्धान्त में आध्यात्मिकता की पुट देकर हमारे विवेचकों ने उस परम सुन्दर आनन्दमय का अवगुण्ठन हटाकर उसके सौन्दर्य की मूर्ति अंकित की है। साथ ही भौतिक पदार्थों में निविष्ट चेतना और सुन्दर की अभिव्यक्ति की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित हुआ है।

रस की निष्पन्नता में जितने महत्त्वपूर्ण भाव हैं, उतने ही विभाव भी आवश्यक हैं। विभाव के अभाव में भावोद्बोधन की कल्पना ही हमारे यहाँ नहीं की गई है। अतएव वस्तु की सत्ता को रसवादी स्वयंप्रकाशज्ञान के ज्ञानी क्रोचे की भाँति तिरस्कृत नहीं करता। उसके विचार से सौन्दर्य हमारे सामने तब आता है, जब वस्तु हमारे भावों में रम जाती है और एक ऐसी साधारणीकृत स्थिति में पहुँच जाती है जहाँ व्यक्तिगत राग-द्वेष की सीमाओं का उल्लंघन होकर शुद्ध अनुभूति रह जाती है। रसवादी इस स्थिति के लिए सत्वोद्रेक को महत्त्व देता है और इस

१—अपर्यालोचितेप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतबद्धृदयाह्लादं तद्विदां विदधातियेत्॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।
यत् किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम्॥
शरीरेजीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम्।
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम्॥
यस्मात् किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम्।
सरस्वतीं समभ्येति तदिदानीं विचार्यते॥ वक्रोक्ति जीवित १-१४-२०

बात में विश्वास रखता है कि प्राकृतिक रूप में मनुष्य उदात्त वृत्तियों की ओर ही आकर्षित हुआ करता है। व्यावहारिक जगत् में भी यह देखा जाता है कि स्वयं कुत्सित वृत्तियों का शिकार व्यक्ति भी अपनी सन्तान को उन्हीं वृत्तियों से प्रभावित होते नहीं देखना चाहता। इस मान्यता के कारण ही रसवादी आलोचक इस रहस्य को समझा सकता है कि काव्य में वर्णित जुगुप्सित दृश्य तथा क्रोधादि वृत्तियों के वर्णन उसे क्यों रसावह और आनन्ददायी प्रतीत होते हैं और इसी रहस्य की अवहेलना कर देने के कारण पाश्चात्य विचारक करुण आदि प्रसंगों से मिलनेवाले रस के रहस्य को नहीं समझ पाता। इसके साथ ही रसवादी एक और काव्यास्वादयिता के लिए संस्कार-भूमि की आवश्यकता स्वीकार करता है, जो परम्परया अथवा जन्मान्तर से उसे प्राप्त हैं, उसकी पैतृक सम्पत्ति हैं और जो तत्कालीन समाज से उसे मिल सकते या मिलते हैं अथवा वह उन संस्कारों को स्वीकार करता है, जिन्हें अन्य लोग मूलप्रवृत्ति क्रोधादि का नाम दे सकते हैं और इस भाँति मानवीय धरातल पर मनुष्य-मनुष्य की एकता सिद्ध करता है। इस रूप में न केवल वह मनुष्य की एकता की ओर ही संकेत करता है, अपितु प्राणिमात्र के चित्त की एकता स्वीकार करता है और काव्य-पाठक की काव्यानुशीलनादि योग्यताओं की अनिवार्यता पर बल देकर उसे साधारण प्राणिमात्र से श्रेष्ठ अथवा उच्च-स्तर का सिद्ध करता है। अभिप्राय यह है कि काव्यानुशीलन आदि से सहृदय का चित्त निर्मल होता है, वैशद्यपूर्ण बनता है, उसे काव्यभूमि की जीवन-भूमि से एक विशेष पृथकता समझ में आती है, काव्यगत वर्णनों की विशेष रीति-नीति का ज्ञान होता है और इस प्रकार अपने वैयक्तिक संस्कारों को सामाजिक-स्तर पर ले जाने का अवसर प्राप्त होता है। यही परिष्कृत वैयक्तिक संस्कार शुद्ध सात्विकता ग्रहण करके पाठक के चित्त को ऐसी सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित कर देते हैं जहाँ स्वार्थ-शून्य होने के कारण वह निर्बाध भावानुभूति में मग्न हो जाता है। मग्नता में ही आनन्द है, निश्चल सुख है। जहाँ किसी प्रकार की चंचलता या विकलता नहीं, वहाँ समभाव में सुख ही मानना चाहिए। यह रहस्य है रस के आस्वाद का, जुगुप्सित से भी आनन्दावाप्ति का। विचारपूर्वक देखें तो पता चलेगा कि रसवादी के द्वारा वर्णित यह मग्नता की स्थिति विभाव अर्थात् विषय-जन्य होकर भी कई सीढ़ियाँ पार करके शुद्ध आध्यात्मिक स्थिति बन जाती है और एक प्रकार से यही स्व-स्थता या स्वस्थता की स्थिति है। स्वस्थता में ही सुख है, इसे समझाने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान रखने की बात यह है कि रस-दृष्टि न तो विषय का तिरस्कार करती है और न आध्यात्मिक अनुभूति में अविश्वास ही प्रकट करती है। निश्चय ही वह

सौन्दर्य के प्रति एकांगी दृष्टि नहीं है। प्रो० हैवेल ने ठीक ही कहा है कि भारतीय दृष्टि सप्रयत्न होकर सुन्दर की खोज नहीं करती, बल्कि उसका मुख्य प्रयत्न ऐसे वैचारिक स्तर को पा लेने का रहता है जहाँ वह सीमित के माध्यम से असीम को उपलब्ध कर सके और भौतिक सौन्दर्य की मूलधारा को आध्यात्मिक सौन्दर्य की धारा से प्रवहमान सिद्ध कर सके।[1]

रस का संबंध भारतीय विचारकों ने एक ओर ब्रह्म और ब्रह्मास्वाद से जोड़ दिया है तथा दूसरी ओर रमणीयता से। ब्रह्म की चर्चा, जैसा हम पहले ही बता चुके हैं, अनेक सौन्दर्य-कल्पनाओं के साथ हमारे यहाँ हुई है। अतएव उससे संबंधित रस का स्वाभाविक संबंध सौन्दर्य से सिद्ध होता है, दूसरे रमणीयता से संबंध रखने के कारण भी रस-सिद्धान्त सौन्दर्य-सिद्धान्त का स्थानीय बन सकता है। ब्रह्म की विभूति का वर्णन सच्चिदानन्द के रूप में किया गया है और रस का वर्णन सत्वोद्रेक की सीमाओं में किया जाता है, इस रूप में रस-सिद्धान्त केवल सुन्दर की ही नहीं सत् और चित् या सत् और शिव की भी व्याख्या करता है। रस्किन ने इसी दृष्टि को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। भारतीय चिन्तक तो सर्वत्र ब्रह्म का ही रूप व्यक्त देखता है। वह उसका स्वरूप 'रसो वै सः' कहकर रस-रूप बताता है और रस को 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' या 'परब्रह्मास्वाद सचिव' मानता है। ब्रह्म का स्वरूप आनन्द भी है, 'आनन्दो ब्रह्मेति', अतएव रस यदि ब्रह्मास्वाद सचिव है तो आनन्दरूप भी है। इस प्रकार रसवादी के लिए सौन्दर्यानुभूति स्वाभाविक रूप से आनन्दानुभूति भी सिद्ध हो जाती है।

रस-विचारकों के अतिरिक्त हमारे यहाँ साहित्य तथा कलाओं को एक धरातल पर प्रतिष्ठित करके उनके रस, नाद आदि की भी ब्रह्म के रूप में कल्पना की गई है। साहित्य और कला की यह समानता जैसी भर्तृहरि की पंक्ति 'साहित्य संगीत कला विहीनः' से स्पष्ट है, वैसी ही दण्डी की दशकुमारचरितोक्त अष्टम उच्छ्वास की इस पंक्ति से भी है:—'बुद्धिश्च निसर्गपट्वी कलासु नृत्यगीतादिषु

१—इण्डियन आर्ट इज़ नॉट कन्सर्न्ड विद द कान्शस स्ट्राइविंग आफ्टर ब्यूटी एज़ ए थिंग वर्दी टु बी सौट आफ्टर फॉर इट्स ओन सेक, इट्स मेन एनडैवॅर इज़ ऑलवेज़ डाइरेक्टेड टुवर्ड्स द रियलाइज़ेशन ऑव एन आइडिया, रीचिंग थ्रू द फाइनाइट टु द इनफाइनाइट, कन्वीन्स्ड आलवेज़ दैट, थ्रू द कान्स्टेण्ट एफर्ट टु एक्सप्रेस द स्पिरिचुअल ओरिजिन ऑव अर्थली ब्यूटी, द ह्यूमैन माइण्ड विल टेक इन नो मोर एण्ड मोर ऑव द परफेक्ट ब्यूटी ऑव डिवनिटी।"—हैवल, आइडियल्स आव इण्डियन आर्ट, पृ० ३२

चित्रेषु काव्यविस्तरेषु प्राप्त विस्तारा।' भारतीय के लिये जिस प्रकार रस ब्रह्म है वैसे ही शब्द भी ब्रह्म ही है, भाषाॐकार की अभिव्यक्ति है, व्याकारण नित्यस्फोट और परमतत्व तथा कलाएँ ब्रह्म की अभिव्यक्ति और प्राप्ति के साधन हैं। उसकी सारी शक्ति ब्रह्म के खोजने में लगी है और परिणामतः उसने उसे सर्वत्र प्राप्त किया है। अतः उसकी सारी विद्याओं का सारतत्त्व मानो ब्रह्मप्राप्ति ही है, रास्ता कोई भी हो। रसमार्ग इन समस्त मार्गों में उसकी अत्यधिक समीपता की अनुभूति करानेवाला है और उसके सौन्दर्य और आह्लादकारी रूप का साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठाता है। सौन्दर्य की दृष्टि से रस-विचार सौन्दर्य को विषयगत और विषयीगत दोनों मानता है और सामाजिक उपादानों को भी आध्यात्मिक स्थिति के साथ समान महत्व प्रदान करता है। वह रीझनेवाले तथा रिझानेवाले दोनों की स्वीकृति में विश्वास रखता है और सौन्दर्यानुभूति को एक उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करके लौकिक अनुभूति से उसकी पृथकता प्रदर्शित करता है। व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा करके वह सामाजिक रुचि उत्पन्न करता है। वस्तुतः रस-सिद्धान्त सौन्दर्य की आनुमानिक व्याख्या नहीं उसकी अनुभूतिप्रधान व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसीलिए हृदय-संवाद ही 'रस-चर्वणा' कहलाया है। और जैसा कि डॉ० आनन्दकुमार-स्वामी ने दान्ते की पंक्ति 'हू पेण्ट्स ए फ़िगर, इफ़ ही केन नॉट बी इट, कैन नॉट ड्रॉ इट, उद्धृत करते हुए कहा है कि पाश्चात्य विचारकों में बिरलों ने ही इस भावना को व्यक्त किया है और वह भी अनजाने ही, किन्तु एशिया के मनीषियों ने पूर्ण जानकारी के साथ निरन्तर इस बात को दुहराया है कि कला का लक्ष्य तभी पूरा होता है जब ज्ञाता और ज्ञेय, विषय और विषयी दोनों अनुभूति के क्षणों में तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। भारत में दीर्घकाल से यही बात 'न देवो देवम् अर्चयेत्—शिवो भूत्वा शिवम् यजेत्' के रूप में कही जा रही है। योग के सिद्धान्त का यह एक साहित्यिक रूप ही है।[1] उनका तो यहाँ तक विचार है कि हमारे यहाँ कर्मकाण्ड में जिस साधना के द्वारा व्यक्ति की पवित्रता मानी गई है, वह कलाकार की पवित्रता में भी सहायक हो सकती है और सत्वस्थ स्थिति में पहुँचने के लिये आवश्यक भी है।[2] रस-विचार ने हमारे यहाँ इसी तादात्म्य तथा सत्वोद्रेक का वर्णन किया है।

हम पहले बता आये हैं कि रस तथा रमणीयता का कभी-कभी पर्याय के रूप में विचार किया गया है। भारतीय साहित्यशास्त्रियों में पण्डितराज पहले विचारक थे जिन्होंने दोनों की पृथकता की घोषणा की और 'रसः रमणीयताम् आवहति' र० गं० १।६ कहकर फिर दोनों का सम्बन्ध घटित कर दिया। इस प्रकार रस को

१—मुल्कराज आनन्द—द हिन्दू व्यू आव आर्ट, पृ० ९८ २—वही।

रमणीयता का आधारभूत मानकर उन्होंने इनके बीच के विवाद को ही प्रायः मिटा दिया है। डॉ० दासगुप्त ने अपने इस ग्रंथ के पहले अध्याय में पर्याप्त विस्तार और विशदता के साथ रस तथा रमणीयता के मूलभूत सिद्धान्तों को समझाया है और उनके पार्थक्य का दिग्दर्शन कराया है। अतएव यहाँ उसकी उद्धरणी अनावश्यक है। फिर भी इतना स्मरण रखना उचित होगा कि रमणीयता के उद्बोधक संस्कारों पर पण्डितराज भी बल देते हैं और इसके अतिरिक्त उनके पुनः पुनः अनुसंधान में चमत्कार का अवस्थान मानते हैं अर्थात् नवीनता और परिवर्तन तथा वर्द्धमान आकर्षण और मन की एकाग्रता को रमणीयता के लिए आवश्यक मानते हैं। चमत्कार की विशेषताएँ दो बताई गई हैं : १. लोकोत्तराह्लाद अर्थात् रमणीयता की अलोक-सामान्य स्थिति, लौकिक सुख-दुःखादि से उसकी पृथकता तथा २. ज्ञानगोचरता अर्थात् वस्तु या विषय पर आधारित उसके ज्ञान की इसमें उपस्थिति। सब कुछ मिलाकर रमणीयता एक ज्ञानात्मक अलौकिक और अव्याख्येय अनुभूति है जो संस्कारोद्बोध से उत्पन्न होती है और जिसमें रस हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। वस्तुतः भावक्रिया के साथ इसी ज्ञानक्रिया की उपस्थिति तथा रसेतर स्थलों में अलंकार, रीति आदि के कारण उत्पन्न रमणीयता-बोध को ध्यान में रखकर ही पण्डितराज को रस और रमणीयता में भेद मानना पड़ा और इस प्रकार उन्होंने काव्यगत सौन्दर्य को और भी व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया है।

इस विवेचन के द्वारा पण्डितराज ने प्रकारान्तर से यह भी प्रकट कर दिया है कि रमणीयता पार्थिव रूप से ही सम्बद्ध नहीं है, बल्कि सहृदय अथवा रसिक की आत्मा से भी उसका सम्बन्ध है। सौन्दर्य का सम्बन्ध जैसा जड़ जगत् से है, वैसा ही मानवात्मा से भी है। एक ओर वह पार्थिव है और दूसरी ओर आध्यात्मिक भी। रसिक के हृदय में अनुभूति जागृत् करने में ही सौन्दर्य का महत्त्व है। अलौकिक अनुभूति ही सौन्दर्य का आध्यात्मिक रूप है जो पार्थिवता के सहारे ही निष्पन्न हुआ है। इन दोनों का ऐसा सम्बन्ध है कि एक के अभाव में हम दूसरे को सुन्दर या आनन्दानुभूति का नाम नहीं दे सकते। मनुष्य अपने अन्तःजगत् के अनुसार ही बाह्यजगत् को देखता है और उसे अपने अनुकूल भावमयी बनाने लगता है, किन्तु वह अन्तःजगत् की बाह्यजगत् के संस्कारों से ही गठित होता है। अतः वस्तु और आत्मा दोनों का मूल्य पण्डितराज को स्वीकार है।

सौन्दर्य के प्रति इस विचार-शृंखला का प्रभाव भारतीय कला-दृष्टि पर भी दिखाई देता है। हम पहले कह चुके हैं कि हमारे यहाँ साहित्य तथा कला को समान

धरातल पर प्रतिष्ठित करके ही उसका विचार किया गया है। स्वाभाविक है कि साहित्य में प्रचलित मान्यताओं का प्रभाव कला-दृष्टि पर और कला-दृष्टि का प्रभाव साहित्य की मान्यताओं पर पड़ा है। दोनों में एक ही भारतीय मन व्यक्त हो रहा है। हम यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर स्वयं डॉ० दासगुप्त द्वारा " फन्डामैण्टल्स ऑव इण्डियन आर्ट " नामक पुस्तक के आधार पर भारतीय कलाकार के दृष्टिकोण को व्यक्त करना चाहते हैं।

डॉ० दासगुप्त ने स्वीकार किया है कि भारतीय कलाकार की दृष्टि सदैव आध्यात्मिक सन्देश ग्रहण करने की ओर रही है। वह यूनानियों की भाँति मनुष्याकृति देकर ही देवताओं के स्वरूप-संगठन से सन्तुष्ट नहीं हो जाती बल्कि उनसे आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करती हैं। यूनानियों की दृष्टि प्रकृतिगत सौन्दर्य को न पहचान पाई, किन्तु भारतीयों ने आदर्श सौन्दर्य को अंकित करने के लिए उसी का सहारा लिया। 'मेघदूत' के यक्ष द्वारा मेघ तथा प्रकृति की तुलना में अपने आंगिक सौन्दर्य की हीनता का वर्णन तथा 'कुमारसम्भव' में पार्वती के शरीर-निर्माण की कथा, जिसके अनुसार उनका शरीर विधाता ने समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य-सार ग्रहण करके बनाया था, भारतीयों की प्राकृतिक तथा वस्तुगत सौन्दर्य के प्रति अनुरक्ति के परिचायक हैं। पृ० १३–१४। साथ ही उनकी दृष्टि आध्यात्मिक सौन्दर्य का उद्घाटन करने में भी लगी रही है। अपनी कलाकृतियों में उन्होंने आन्तरिक सौन्दर्य का प्रस्फुरण ही उत्तम माना है। कालिदास ने दुष्यन्त की ध्यानस्थित शकुन्तला का ही चित्र अंकित कराया है। ध्यान तभी लगता है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का लोप करके भावलीन हो जाय। वह जिस चित्र को अंकित करना चाहता है, जिस भाव को व्यक्त करना चाहता है, उसी में मग्न होकर अपनी समस्त वृत्तियों को समाहित कर लेने का ही नाम है ध्यान, और यही है इंटुइशन या स्वयंप्रकाश ज्ञान। पृ० १६।

इस प्रकार दोनों दृष्टियों के समन्वय में ही भारतीय कला का प्रसार हुआ है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि आध्यात्मिकता के चक्कर में भारतीय कलाकार ने कभी भी मुख्य विषय को उसकी पृष्ठभूमि से पृथक् नहीं किया है। पृ० १६–१७। यही कारण है कि हमारे यहाँ 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' तथा 'चित्र सूत्र' आदि में आनुपातिक सन्तुलन, प्रोपोर्शन तथा रेशियो, का विचार रखते हुए ही चित्रादि अंकन अथवा शिल्प-निर्माण की विधियाँ बताई गई हैं। पृ० १९। किन्तु भारतीय कलाकार का यह दृढ़ मत था कि केवल शारीर पूर्णता के प्रदर्शन से आन्तरिक जीवन का संकेत नहीं दिया जा सकता। इसी बात को दृष्टि में रखकर

हमारे यहाँ के चित्रकारों तथा शिल्पियों ने तपस्या के उपरान्त वाले बुद्ध के चित्र अथवा उनकी मूर्तियों में उन्हें कृश शरीर, दीन और मलीन न दिखाकर दीप्तिमान मुखमण्डल वाला दिखाया है। वह केवल इसीलिए कि हमारे देश का कलाकार शारीरिक सौन्दर्य में सौन्दर्य की पूर्णता न मानकर उसे आत्मा में ढूँढ़ता था, त्याग, तपस्या, बलिदान आदि सद्गुणों से युक्त व्यक्ति कृशकाय हो सकता है, किन्तु उसमें जो एक प्रकार का तेजोबल विद्यमान रहता है, उसके आन्तरिक उल्लास की जो कान्ति बाहर उसकी सौम्य मुद्रा में प्रस्फुटित होती है, बिना उसका चित्रण किये वास्तविक प्रतिमा का निर्माण सम्भव नहीं। बुद्ध को दीन दिखाने से उनके भौतिक कष्ट का संकेत तो अवश्य दिया जा सकता है, किन्तु उनके तप-जन्य निर्मल आत्मा के वैशद्य का परिचय नहीं दिया जा सकता। फिर यह देश तो सहृदय को ही नहीं कलाकार को भी सत्वस्थ व्यक्ति के रूप में देखता है, उससे अपेक्षा रखता है कि कलाकृति की सृष्टि के पूर्व वह समस्त साधनाओं को पार करके निर्मल चित्त हो गया होगा। हर प्रकार से वह आन्तरिकता में ही सौन्दर्य की पूर्णता मानता है। डॉ० दासगुप्त ने अपनी उसी पुस्तक में भारतीय कला के सिद्धान्त समझाते हुए ईसापूर्व तीसरी शती में विरचित 'धम्म-संगनी' तथा बुद्धघोष कृत उसकी टीका के आधार पर भी इसी बात का समर्थन किया है कि कला की समस्त अभिव्यक्ति मानस की स्वतःप्रेरित क्रिया की ही अभिव्यक्ति है, वह कोई बाह्य पदार्थ नहीं है, बल्कि वह बाह्य रूप ही उसका मात्र औपचारिक प्रदर्शन है। पृ० ९२–९३। कहा जा सकता है कि बाह्य जगत् भी हमारे मानस को प्रभावित करता है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए कि जबतक कोई वस्तु हमारे चित्त-प्रवाह में लय नहीं हो जाती तबतक वह सच्चे अर्थों में कोई धारणा नहीं जगा सकती। चित्त-प्रवाह स्वतःस्फूर्त होने के साथ ही आत्म-निर्णायक भी है, अतएव अभिव्यक्ति के अन्तर्गत हम जिन्हें बाह्य पदार्थ मान लेते हैं वे उसी में लय होकर अपना रूप निर्धारित करते हैं, हमारा चित्त-प्रवाह ही उन्हें यथेच्छ रूपों में प्रकाशित करता है। अतः बुद्धघोष के शब्दों में वास्तविक चित्र नहीं मानस-चित्र का ही महत्त्व है। बाह्य रूप आन्तर रूप की ही अनुकृति मात्र है। अतः यदि कलाकार बाह्य रूप में उसे अभिव्यक्ति न भी दे तो भी वह अपने अन्तर में ही अपने उद्देश्य की संसिद्धि में सफल हो सकता है। पृ० ९४–९५। यही कारण है कि हमारे यहाँ के विचारक कलासृष्टि के समय कलाकार को समाधिदशा में पहुँचा हुआ मानने लगे। यह समाधिदशा उनकी ध्यानावस्थित तद्गत अवस्था ही है। ऐसी दशा में प्लेटो की भाँति कलाकृति को अनुकृति मात्र मानना अनुचित ही होगा। कलाकार चाहे

किसी वस्तु को उसी रूप में उपस्थित करे, तब भी वह अंकन से पूर्व उसकी एक मानस-मूर्त्ति को बना ही लेता है, जो वास्तविक के आधार पर उठी हुई होकर भी एक नवीन वैभव रखती है, किन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिए कि आन्तरमूर्त्ति को ही सत्य मानने वाले विचारक बौद्ध हैं और हिन्दू विचारकों से उनका इस बात में विचारवैभिन्य अवश्य है कि हिन्दू विचारक कलासृष्टि के समय इस समाधिदशा और आन्तरिकता को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही कला की सफलता भी इस बात में मानते हैं कि वह बाह्य रूप धारण कर सके। अभिव्यक्ति के बिना आन्तरसृष्टि उनके लिए अपूर्ण है। अन्तर यह है कि बौद्ध कला को स्रष्टा मात्र से सम्बद्ध करके देखना पसन्द करते हैं और हिन्दू विचारक स्रष्टा के साथ सहृदय की भी उपेक्षा नहीं करता। उस सृष्टि को सृष्टि ही कैसे कहें जो व्यक्त रूप धारण न कर सके, जो दूसरों के देखने में न आ सके। पृ० १००। कला भारतीयों के लिए आन्तरिक सृष्टि की अभिव्यक्ति है किन्तु यह आन्तर तथा बाह्य के संयोग से ही उपस्थित होती है। केवल सममातृत्व आदि उसके बाह्य रूप को निखार सकते हैं, जिसे हम सौन्दर्य कहते हैं उसकी उपस्थिति तो इन्हीं से हो सकती है, किन्तु लावण्य की उपस्थिति बाह्यांगों के संयोजन से नहीं आन्तरिक सद्गुणों से ही सम्भव है। लावण्य ही महत्त्वपूर्ण है, इसी की ओर 'ध्वन्यालोक' में 'प्रतीयमान अर्थ' के द्वारा संकेत किया गया है। स्त्री की शोभा उसके बाहरी वेश-विन्यास में उतनी नहीं है, जितनी उसके अंग-प्रत्यंग से फूटती आन्तरिक छटा में है। नाट्याभिनय में भी अनुभावों और अनेकानेक हस्तचालनादि क्रियाओं का महत्त्व इसलिए है कि वे मनुष्य के आन्तरिक भावों को प्रकट करते हैं और द्रष्टा को रसमग्न करते हैं, इसलिए नहीं है कि हाथ पैर चल रहे हैं। आत्माहीन शव हाथ-पैर चलाते हुए भय ही उत्पन्न करता है, रस नहीं। यदि भावप्रदर्शनहीन अंगसंचालन ही प्रस्तुत करने का ध्यान रहे तो यही स्थिति नाट्य में भी उत्पन्न हो जायगी। अतः बाह्य और आन्तर का सम्मिलित ही नहीं बल्कि आन्तर के अनुकूल बाह्य का संयमपूर्ण सम्मिलन अर्थात् रस में औचित्य की धारणा से ही हमारे यहाँ किसी कृति की सफलता निश्चित होती है। भारतीय विचार बाह्याभ्यान्तर के इसी सम्मिलन को मानकर पूर्ण सौन्दर्य की खोज में प्रवृत्त हुआ है और यही कारण है कि रस-सिद्धान्त ही काव्यानुशीलन का सर्वोत्तम सिद्धान्त मान्य हुआ तथा अलंकारादि सम्प्रदाय एकांगी बने रह गये। रस-सिद्धान्त पर ध्यान दें तो सिद्ध हो जायगा कि वस्तु-जगत् में चित् का आत्म-साक्षात्कार ही कलासृष्टि का मूल रहस्य है और उसी में उसकी सफलता निहित है। वस्तुजगत् के अनुभवों से इसी अर्थ में कलाजगत्

और उसके अनुभव भिन्न हैं, आध्यात्मिक और अलौकिक हैं। इसी में सौन्दर्य की सत्ता है।

भारतीयों की धारणा थी कि कलाकार ध्यानबल से अपने आन्तरिक रहस्य को बाह्य अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करता है और जैसे-जैसे वह उसका अंकन रंग तथा रेखाओं के सहारे करता चलता है, वे अंकित रेखादि ही उसे और ध्यानस्थ होने तथा नवीन रूप संगठित करने के लिए प्रेरक बनती चलती हैं। इनके आधार पर वह अपनी मानसिक मूर्त्ति का परिष्कार करता हुआ उसका रूप-विधान करता चलता है। क्रोचे और भारतीय विचारकों में यहीं मतभेद है। क्रोचे पहले पूर्णतया आन्तरिक मूर्त्ति के निर्माण का विश्वासी है और कलासृष्टि को उस आन्तरिक मूर्त्ति का मात्र बाह्य प्रतिबिम्ब मानता है, उसमें परिष्कार आदि की सम्भावना स्वीकार नहीं करता। चेतन बुद्धि को उसने पूर्णतया निरादृत कर दिया है। हमारे यहाँ आन्तरिकता का निरादर तो किया ही नहीं गया बाह्य उपादान का सहयोग और स्वीकार कर लिया गया है। यही कारण है कि कलाकार के लिए हमारे यहाँ अनेकानेक विद्याओं का जानकार होना आवश्यक माना गया है। पूर्ण कलात्मक सृष्टि के लिए कलाकार में तीन मुख्य सद्गुण आवश्यक माने गये हैं: १. स्वयंप्रकाश-ज्ञान, २. ज्ञान-सामान्य तथा ३. चित्त-संयम। इस प्रकार वह न केवल आध्यात्मिक पुरुष रह जाता है, बल्कि सांसारिक व्यवहार-ज्ञान के आधार पर उसके विचारों की नींव उठती है और उन्हें वह उचितानुचित ज्ञान के द्वारा, अपने विवेक के बल पर संयोजित कर देता है। कलासृष्टि हमारे यहाँ नितान्त रूप से स्वतःस्फूर्त कोई विचित्र पदार्थ नहीं है, वह सुचिन्तित, सुनियोजित और विवेकाश्रित एक आध्यात्मिक व्यापार है। इसीलिए 'समरांगण-सूत्रधार' में कलाकार की योग्यताओं में, १. प्रज्ञा, २. सूक्ष्म-निरीक्षण, ३. अभ्यासजन्य कौशल, ४. संतुलन अथवा छन्दो-ज्ञान, ५. गतिमान और स्थित्यात्मक दशाओं में प्राणिमात्र की शरीर-भंगी का ज्ञान, ६. प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा ७. आत्मसंयम एवं चरित्र को गिनाया गया है। पृ० ११८-१२१।

कलाकृति के सम्बन्ध में इस दीर्घ उद्धरणी की आवश्यकता हमें दो दृष्टियों से जान पड़ी। एक तो इससे भारतीय कलाकृति और कलाकार के सम्बन्ध में ज्ञान हो जाने से सौन्दर्य के प्रति भारतीय विचार का उन्मीलन हो गया, दूसरे डॉ० दासगुप्त के तत्सम्बन्धी विचारों की पृष्ठभूमि समझने में सहायता मिली जिससे अब 'सौन्दर्य-तत्त्व' में व्यक्त उनके विचारों के शीघ्रबोध में कठिनाई न होगी। हमारे अब तक के विवेचन का लक्ष्य केवल यह था कि हम योरोपीय सौन्दर्य-विचारकों के मतों

की तुलना में भारतीय विचारकों के विचारों को रखकर यह दिखा सकें कि दोनों में कहाँ समानता और कहाँ अन्तर है। भारतीय दृष्टि का अबतक जो यत्किंचित् वर्णन किया गया है, उससे यह अवश्य संकेत मिल जाता है कि सौन्दर्य और सौन्दर्य-बोध के प्रति भारतीय विचारक भी जागरूक रहे हैं और साहित्य तथा कला के सम्बन्ध में प्रचलित नाना पथों और सम्प्रदायों से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि उनकी दृष्टि भी योरोपीय विचारकों की भाँति सौन्दर्य की नाना वीथियों में विचरण कर चुकी है, बल्कि उनसे पहले ही कर चुकी है तथा यहाँ के कवियों ने भी उस तत्त्व को खुली आँखों परखा है और विवेक पूर्वक सन्तुलन का प्रयत्न भी किया है। अन्तर है तो यही कि यहाँ इस नाम से कोई पृथक् शास्त्र नहीं लिखा गया। यदि उन काव्यों तथा शास्त्रों में बिखरे हुए समस्त विचारों को सूत्रबद्ध किया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि योरोपीयों द्वारा उठाये गये सौन्दर्य-विषयक समस्त प्रश्नों पर भारतीय विचार का एक विशालकाय संग्रह प्रस्तुत किया जा सकता है। मूल पुस्तक की सीमाओं को देखते हुए हमने यहाँ केवल संकेतात्मक ढंग से ही काम लिया है, उन प्रश्नों पर विचार नहीं किया जो सौन्दर्य के साथ जब-तब जोड़ दिये जाते हैं, जैसे, सौन्दर्य और सत्य तथा शिव या सौन्दर्य और नीति का संबंध, सौन्दर्य तथा उदात्तता में अन्तर आदि। यहाँ केवल पूर्व और पश्चिम की सौन्दर्य-विषयक विचारधारा को ही प्रस्तुत कर दिया है। इसी क्रम में हम आगे मूल लेखक डॉ० दासगुप्त के विचारों का उल्लेख और करना चाहते हैं।

डॉ० दासगुप्त सौन्दर्य-बोध को मन की एक ऐसी विशिष्ट अनुभूति मानते हैं, जिसमें ज्ञान, आह्लाद तथा क्रियात्मक वृत्तियों का संयोग रहता है और जिसका स्वरूप-लक्षण उपस्थित नहीं किया जा सकता। कम-से-कम सौन्दर्य के सम्बन्ध में पुस्तकीय ज्ञान कोई सहायक मार्ग नहीं सुझा सकता। वस्तुतः सौन्दर्य ही क्या किसी भी अनुभूति को अनुभूति के रूप में ही जाना जा सकता है, उसके विषय में पढ़ लेने या अन्य प्रकारक ज्ञान प्राप्त कर लेने से काम नहीं चलाया जा सकता। अनुभूति पर आधारित सौन्दर्य-बोध की दुर्बोधता इसी अनुभूति के कारण यों बढ़ जाती है कि "छन्द, शब्द, भाव, अर्थ-व्यंजना प्रभृति विविध उपादानों में मिले हुए जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है, वह पानक-रस के समान अनिर्वचनीय होता है। उस उपादान-संभार के बीच कौन-सा अंश सौन्दर्य-बोध के लिए कितना उपयोगी है, इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हो सकता है।" यही कारण है कि केवल वीक्षा-शास्त्री सौन्दर्य-विवेचक नहीं बन सकता। इसके विवेचन का वास्तविक अधिकार किसी को है तो वह वैक्षिक दृष्टि संपन्न व्यक्ति को ही है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में डॉ० साहब का विचार था कि वह "केवल प्रयोजन-विहीन ही नहीं होता बल्कि वह एक प्रकार से सत्य और सत्-असत् मर्यादा-विहीन भी होता है या हो सकता है।" साधारण वृक्ष-लतादि के तथा वैज्ञानिक सत्य के ज्ञान एवं न्याय-अन्याय संबंधी सत्-असत् से वह सौन्दर्य को पृथक् मानते हैं। दोनों में सामानता है तो केवल स्वानुभववेद्यता की है। जहाँ तक आनन्द का संबंध है। उसे वे अविच्छेद्य और साधारण प्रयोजन-सिद्धि के आनन्द से भिन्न मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के 'पुनः पुनः अनुसंधान' वाक्यांश के आधार पर उनका विचार है कि सौन्दर्य-बोध के अन्तर्गत इच्छा की तृप्ति नहीं, बल्कि केवल प्राप्ति-जन्य तृप्ति रहती है। इच्छा-तृप्ति होने पर तो पुनः अनुसंधान का प्रश्न ही उपस्थित न होगा। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध के साथ इच्छा का सम्मिश्रण रहता है। अन्तर इतना ही है कि सौन्दर्य-बोध में इच्छा अन्तरंग न होकर बहिरंग होती है, अर्थात् पहले सौन्दर्य-जनित तृप्ति होती है और तब उसे दीर्घकाल तक बनाये रखने की इच्छा उत्पन्न होती है। आनन्द का कारण इच्छा की तृप्ति ही है, भले ही वह इच्छा कभी प्रकट या कभी अप्रकट अवस्था में रहती हो। अप्रत्याशित वस्तु की प्राप्ति आनन्द उत्पन्न करती है। आनन्द अप्रत्याशित वस्तु से होता है इसे स्वीकार करने का अर्थ ही है इच्छा की अप्रकट दशा में भी आनन्द स्वीकार कर लेना। अतः सिद्धांत यह मानना चाहिए कि "अपनी चेतन-अचेतन या व्यक्त-अव्यक्त आकांक्षाओं एवं कामनाओं की तृप्ति के फलस्वरूप हम आनन्द का अनुभव करते हैं।" कामनाहीन दशा में आनन्द स्वीकार करने का अर्थ होगा अपरितृप्त दशा में भी आनन्द की प्राप्ति को स्वीकार करना।

सौन्दर्य की उपलब्धि आन्तर और बाह्य दोनों कारणों से मानी जा सकती है। इच्छा या आकांक्षा को मान लेने पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि कवि या चित्रकार आदि के मन में एक प्रकार का आकांक्षा-वेग रहता है और वह उसी की अभिव्यक्ति का विभिन्न रूपों में प्रयत्न किया करता है। इसी अस्फुट, अरूप आकांक्षा को मूर्त्त रूप दे देने पर वह सौन्दर्य की सृष्टि अथवा उसके उपभोग के आनन्द से आनन्दित हो उठता है। "आदर्श के अनुरूप चित्र बनते ही जब बहिर्मूर्त्ति के साथ अन्तर्मूर्त्ति की एकता स्थापित हो जाती है तभी इस प्रयत्नसिद्धि के रूप में सौन्दर्य-सृष्टि तथा सौन्दर्योपलब्धि का आनन्द प्रकट होता है।" कवि-सृष्टि या कला-सृष्टि जाग्रत् चेतन मन की देन नहीं है, बल्कि वह उपचेतन पर पड़ी छवियों का चेतन मन के सहारे बुद्धि, ज्ञान तथा भाषा के माध्यम से अव्यक्त का व्यक्त रूप है। पण्डितराज के 'अनुसन्धानात्मा भावना-विशेषः' कहने का तात्पर्य यही है कि रूप-

रसादि के प्रत्यक्ष के कारण हमारे मन में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है और वह उपचेतन-स्थित विभिन्न अनुभवों को एकत्र करने लगता है और उद्दीपन का सहारा पाकर वही व्यक्त रूप धारण करने के लिए स्रष्टा के चित्त में एक विकलता उत्पन्न कर देते हैं, जो अभिव्यक्ति की समाप्ति पर ही समाप्त हो पाती है। यही उसकी रचनात्मक प्रेरणा है औरइसी में उसे सन्तोष मिलता है। व्यक्त रूप धारण करने से पूर्व अन्तर्यामी इच्छा का प्रवर्तन ही 'अनुसन्धान' शब्द के द्वारा संकेतित है। हाँ, प्रेरणा की मात्रा में अन्तर होने से अभिव्यक्ति की सफलता में भी अन्तर आ सकता है।

अनेक तर्कों का सहारा लेते हुए डॉ० दासगुप्त इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि "हमारे अन्तर में स्थित प्रत्येक पुरुष का एक स्वतन्त्र व्यापार चला करता है। उसी के अनुकूल विशेष आकांक्षाओं का जन्म होता है और उन आकांक्षाओं के अनुरूप विशेष वृत्तियां जन्मती हैं जिनके अव्याहत प्रयोग अथवा उनकी परितृप्ति के परिणामस्वरूप एक प्रकार का आत्मलाभ अथवा आत्मपरिचय घटित होता है। इसी आत्मलाभ से पुरुष-विशेष के विभिन्नजातीय आनन्द का जन्म होता है।" अपने स्वरूप का विस्तार अथवा पूर्व में अनचीन्हे अपने स्वरूप को भी चीन्ह लेने को ही आत्मलाभ या सेल्फ रियलाइजेशन कहते हैं। सौन्दर्यानन्द इसी प्रकार का है। हम इसे रससिद्धान्त के संबंध में समझाते हुए स्व-स्थता का नाम दे चुके हैं और रस-चर्वणा के लिए आवश्यक वीतविघ्नता से यहां कहे गये 'विशेष वृत्तियों के अव्याहत प्रयोग' की तुलना करके दोनों की समानता लक्षित की जा सकती है। साथ ही स्वयं डॉ० दासगुप्त ने जिस ध्यानावस्था का वर्णन बार-बार किया है, उसका संकेत भी उनके इस सिद्धान्त में पाया जा सकता है। इस प्रकार सौन्दर्य का बहुत संबंध हमारे उपचेतन से है और आनन्द उस बोध का परिणाम है। सौन्दर्य मात्र के साथ आनन्द सम्मिलित रहता है। सौन्दर्य स्वयं आनन्द नहीं है। सुन्दर वस्तु के साथ हमारे सम्बन्ध की स्थापना का नाम ही 'अनुसंधान' है। यही वास्तविक परिचय है और सुन्दर वस्तु के साथ दृढ़ आत्मपरिचय ही आनन्द का कारण होता है।

उपचेतन विषय-निरपेक्ष तथा केवल संस्कारमय पुरुष होता है। उसमें उपस्थित होने वाले रूप विशिष्ट स्थानकालपात्रीभाव से मुक्त होकर ही उपस्थित होते हैं। अतः उपचेतन में अन्तर्भुक्त सामान्यबोध और अन्वीक्षावृत्ति-जन्य सामान्यबोध में पूर्णतया अन्तर होता है। "सौन्दर्य के प्रत्यक्ष के समय हम जो सामान्यात्मक संस्कार उपलब्ध करते हैं, वह केवल विशिष्ट मूर्त्त विषय के रूप-रंगादि से ही संबंध नहीं रखते बल्कि उनके द्वारा भिन्न रूपात्मक उद्बुद्ध भावों से भी उनका संबंध

होता है। इस प्रकार हमारे उपचेतन में हमारा एक समष्टिगत रूप भी बना रहता है जो विशिष्ट मूर्त्त विषयों के योग से तथा भावों के सहारे निर्मित होता है। इसे हम सामान्य या साधारण प्रभाव अथवा संस्कार की संज्ञा देते हैं। सामान्य कहने का कारण है उस समय वस्तु-विशिष्टता का बोध न होना। उस अवस्था में भी हमारे भावों की विशिष्टता बनी रहती है और अनुभूतिकाल की छाप भी हमारे सामने रहती है। स्थान, काल तथा पात्र आदि की अनुपस्थिति के कारण इसे स्मृति नहीं कहते।" तात्पर्य यह कि स्थानकालपात्रादि-वियुक्त विशिष्ट संगठित संस्कार ही उपचेतन में अन्तर्भुक्त होते हैं और उनकी अभिव्यक्ति पुनः अनुसन्धानात्मक अतृप्ति जगाकर हमारे संस्कारों के उद्‌बोध के साथ एक प्रकार का आत्मपरिचय घटित करती है, जिसे सौन्दर्यबोध कहते हैं। इस सामान्यात्मक विशेष रूप का समाधान कोई सिद्धान्त कर सकता है तो वह रस-प्रक्रिया के अन्तर्गत घटित होने-वाला साधारणीकरण व्यापार ही है। इसी बात को कालिदास ने 'रम्याणि वीक्ष्य' आदि श्लोक में कह दिया है और इसी सत्य के विश्वासी होने के कारण ही अभिनव-गुप्त ने उक्त श्लोक को 'नाट्यशास्त्र' की टीका करते हुए समर्थन के लिये उद्धृत किया है।

उपचेतन के इस विशिष्टजातीय आत्मलाभ को, जिसे सौन्दर्य कहा गया है, अन्वीक्षा-वृत्ति-व्यापार के फलस्वरूप घटित परिचय से किस आधार पर पृथक् सिद्ध किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत रसास्वाद की ब्रह्मानन्द-सहोदरता का वर्णन करते हुए दिया गया है। डॉ० दासगुप्त ने इस भेद की आधारशिला का इस प्रकार वर्णन किया है: हम चर्मचक्षु से केवल रूप का दर्शन कर पाते हैं, अन्वीक्षादृष्टि से नाना प्रकार के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है और इनसे भिन्न दृष्टि-अन्तर्विलास से सौन्दर्य को ग्रहण किया जाता है। उपचेतन-स्थित देशकालवर्जित संस्कारों से उन्मीलित इस दृष्टि से हम वस्तु को प्रयोजन-निरपेक्ष अखण्ड संस्थान अथवा रेखा-वर्णादि की विन्यास समग्रता में ग्रहण करते हैं और उद्‌बुद्ध संस्कारों के साथ उसकी एकता का अचेतन परिचय प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि में विशेष सम्बन्ध या प्रकार-प्रकारीगत विशिष्टता स्पष्ट नहीं होती और किसी वस्तु को 'सुन्दर' कहने का कोई बौद्धिक कारण निश्चित नहीं किया जा सकता। सौन्दर्यबोध के समय अन्य कोई ज्ञान ही नहीं रह जाता। इसी सौन्दर्यदृष्टि को योरोपीयों ने इंटुइशन कह दिया है। इस निर्विकल्प अखण्ड उद्‌भास का लौकिक अन्वीक्षा से कोई मेल ही नहीं है। इसी कारण इसे स्वतः पूर्ण और स्वतन्त्र कहा गया है। लौकिक वस्तु पर आधारित रहने पर भी इसे लौकिक शब्दावली में

समझाना संभव नहीं है, यही इसकी अलौकिकता है।

अबतक किये गये इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० दासगुप्त का मत सौन्दर्य की समन्वयवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है और लौकिक वस्तु को आधार स्वरूप मानकर उसके आध्यात्मिक स्वरूप-ग्रहण को ही सही मार्ग मानता है। यही भारतीय मत है। यही रसमत भी है। स्वयं डॉ० दासगुप्त ने प्रथम अध्याय में कई स्थलों पर इस बात को स्वीकार किया है कि उनकी यह व्याख्या रस-सिद्धान्त से मिलती-जुलती है। रमणीयता की परिभाषा के अन्तर्गत पण्डितराज के द्वारा निश्चित किये गये निष्कर्षों का संबंध भी रस-सिद्धान्त के निष्कर्षों से मिलता-जुलता है, बल्कि हमारी समझ से जिन अलंकारादि रूपों की काव्यगत प्रतिष्ठा के लिए रस के स्थान पर पण्डितराज ने रमणीयता शब्द का प्रयोग उचित समझा उनपर उसका निर्विकल्प रूप घटित ही नहीं हो पाता और पाठक उस समाधि दशा को प्राप्त नहीं कर पाता जो डॉ० दासगुप्त को भी वांछित है। अलंकारादि तो विशिष्टतावबोधक ही अधिक होते हैं, सामान्यावबोधक कम। अतः यदि सौन्दर्य की कोई आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है तो रस-सिद्धान्त के द्वारा ही।

हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

—आनन्दप्रकाश दीक्षित

धन्यवाद और क्षमा-याचना

डॉ० दासगुप्त की प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-पाठकों के सम्मुख रखते हुए मुझे एक विशेष आत्मिक सुख का अनुभव हो रहा है। हिन्दी में इस प्रकार का कोई ग्रंथ अभी तक नहीं है। हिन्दी में सौन्दर्य-विषयक जो अति-सामान्य-सी चर्चा हुई है, उसमें इस ग्रंथ का कहीं उल्लेख तक नहीं है। न तो इतने पूर्व प्रकाशित होनेवाली पुस्तक से ही हिन्दी के पाठक आजतक परिचित हो पाये और न इस दृष्टि से किया गया कोई मौलिक प्रयत्न ही हिन्दी में सामने आया, अतएव इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद भी मूल्यवान और संग्राह्य सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। बँगला भाषा में तो इस विषय पर छोटी-मोटी एकाध और भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें इस प्रकार ऐतिहासिक और तार्किक विवेचन तो नहीं है परन्तु सौन्दर्य विषयक कुछ धारणाओं को स्पष्ट करने का अच्छा प्रयत्न अवश्य है। दूसरी ओर मराठी में इस विषय को नितान्त मौलिक चिन्तन-विषय बनाकर कई लेखकों ने ग्रंथ-रचना की है और श्री जोग, मर्ढेकर तथा बारलिंगे महोदय का नाम तो महत्त्वपूर्ण विवेचकों के बीच लिया जा सकता है। हिन्दी अभी इस विषय से अछूती-सी है। संभव है, इस अनुवाद का प्रकाशन कुछ और प्रयत्नों की प्रेरणा बन सके। मैं तो इस कार्य को समाप्त कर पाने में ही अपनी कृत-कृत्यता मानता हूँ। अपनी ओर से मुझसे जितना बना मैंने इस रूप में अनुवाद करने का प्रयत्न किया है कि कहीं भी इस महत्त्वपूर्ण विषय अथवा मूल लेखक के कथन को हानि न पहुँचे। फिर भी अनुवाद तो अनुवाद ही है, कहीं-न-कहीं खोजी लोग त्रुटियाँ निकाल ही लेंगे। मुझे विश्वास है यह मेरे लिये हितकर ही होगा मैं दूसरे संस्करण में उन त्रुटियों को दूर कर सकूँगा। इतनी बात अपनी ओर से स्पष्ट कर दूँ कि अनुवाद कार्य में मैंने पारिभाषिक शब्दों को अधिकांशतः बँगला की मूल प्रति से ही ग्रहण कर लिया है और जहाँ हिन्दी में अर्थभिन्नता के कारण कठिनाई होती, ऐसे एकाध स्थल पर उन्हें बदल भी लिया है। वाक्यों के संगठन में कहीं-कहीं मूल पंक्ति के विन्यास की ओर बहक गया हूँ। यह स्वाभाविक-सा ही था अतः शायद अनुचित प्रतीत न होगा। भूमिका के संबंध

मैं भी इतना निवेदन कर दूँ कि सौन्दर्य संबंधी अनेकानेक प्रश्नों के झमेले में न पड़कर मैंने पुस्तक की विषय-सीमा के अनुकूल केवल सौन्दर्य के स्वरूप संबंधी विचारों का ही यहाँ संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है और भारतीय चिन्तन को पर्याप्त मर्यादा के साथ प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। उसमें दिखाई देनेवाली त्रुटियाँ मेरी सीमाओं की अवबोधक होंगी। विस्तृत समीक्षा के लिए मेरी एतद्विषयक रचना "सौन्दर्य-समीक्षा" की प्रतीक्षा की जा सकती है।

इस पुस्तक का अनुवाद मैं रस-विषयक अपने शोध-प्रबन्ध के रचना-काल में सन् १९५५ में ही कर चुका था, किन्तु आत्मतोष के अभाव में उसे सम्यक् रूप तो १९५७ में ही दे सका। कुछ अपनी अस्वस्थता के कारण तब कार्य में गतिभंग होता रहा और कुछ सन् ५७ में ही इसके प्रेस में पहुँच जाने पर भी अपने प्रमादवश इसके प्रकाशन में विलम्ब कराता रहा। ईश्वरेच्छा ऐसी ही थी।

इस कार्य की सम्पन्नता का सर्वाधिक श्रेय स्व० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त की धर्मपत्नी श्रीमती सुरमा दासगुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, को है, जिन्होंने मेरी अनुवाद करने की आकांक्षा का सहर्ष अनुमोदन ही नहीं किया स्वयं अपना अमूल्य समय देकर इस अनुवाद का अधिकांश भाग पढ़ा भी और अपने सुझाव भी दिये, कठिन स्थलों को समझाया भी। प्रस्तावना लिखकर तो उन्होंने और भी गौरव दिया। सुश्री शान्ति राय, एम० ए०, लेक्चरर, राजकीय इण्टर कालेज, गोरखपुर ने, मेरे द्वारा किये गये अनुवाद की मूल पुस्तक से तुलना करके उसे परिष्कृत करने में अमूल्य सहायता दी, मेरी पत्नी श्रीमती कमला दीक्षित, एम० ए०, ने शीघ्रलिपि समान मेरे अक्षरों को सुस्पष्ट बनाया और विवेचन की गूढ़ताओं से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया। बँगला के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अक्षय-कुमार वन्द्योपाध्याय ने कृपापूर्वक अवशिष्ट कठिन स्थलों में मेरा मार्ग प्रदर्शन किया। बिना इन सबकी कृपा और सहायता के यह कार्य शायद ही पूरा होता। इन्हें धन्यवाद देकर मैं अपने हार्दिक आभार को पूर्णतया व्यक्त न कर पाऊँगा और बिना धन्यवाद दिये कृतघ्न सिद्ध हो जाने का भय है। मुझे आशा है मेरे ये सभी हितैषी मेरी हार्दिक भावनाओं को समझकर उनकी अर्द्धप्रस्फुटता में भी उन्हें सुव्यक्त समझेंगे।

इनके साथ ही यदि किसी के स्नेह की अवहेलना नहीं की जा सकती तो वे हैं डॉ० नगेन्द्र, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन की व्यवस्था अत्यन्त कृपापूर्वक अपने विश्वविद्यालय के हिन्दी अनुसंधान परिषद् की ओर से कर दी। अपने प्रिय शिष्य श्री रामदेव शुक्ल तथा श्री शिवसम्पत्ति मिश्र के साथ भाई श्री दिनेशचन्द्र शुक्ल,

एम० ए० को आशीष देना ही समुचित होगा, जिन्होंने इस कार्य में विविध प्रकार से सहयोग दिया है। इसके मुद्रण का प्रबन्ध श्री वाचस्पति पाठक जी ने बड़ी तत्परता के साथ किया है, उनकी इस विशेष रुचि के लिए कृतज्ञता ज्ञापित न करना मेरे लिए संभव नहीं है।

आशा है इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक का अनुवाद हिन्दी पाठकों को सन्तोषजनक प्रतीत होगा और लाभदायी सिद्ध होगा।

गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

—आनन्दप्रकाश दीक्षित
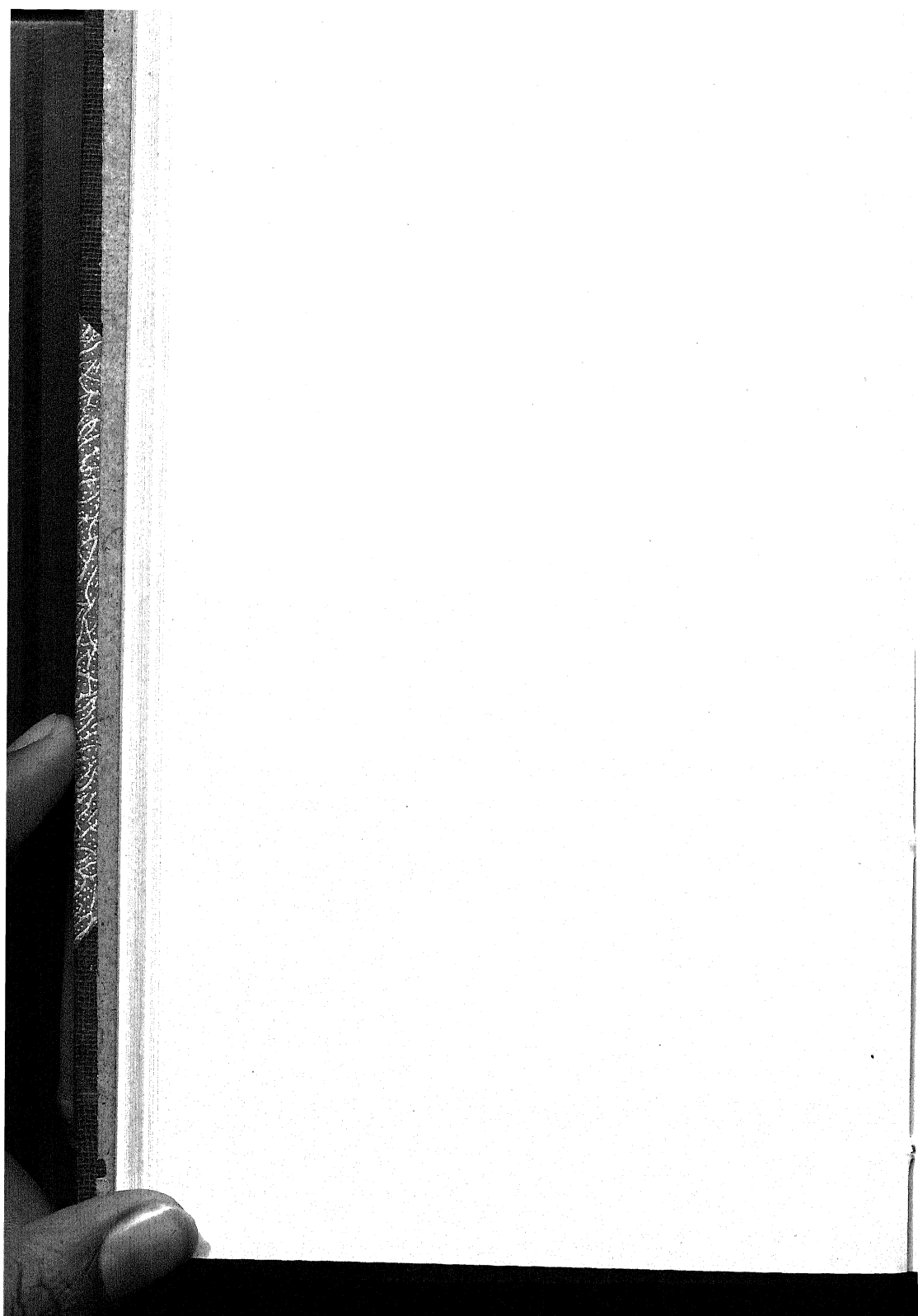
सौंदर्य तत्त्व

पहला अध्याय

सौन्दर्य के स्वरूप तथा उसके लक्षण के सम्बन्ध में हमारे देश में अभी तक कोई विचार नहीं हुआ है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रंथ 'रस-गंगाधर' में अवश्य ही रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य की संज्ञा दी थी, किन्तु वह भी रमणीयता के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई गंभीर विचार प्रस्तुत न कर सके। 'रमणीयता' शब्द का तात्पर्य समझाते हुए उन्होंने 'लोकोत्तराह्लादजनकज्ञान-गोचरता' पंक्ति का प्रयोग किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि लोकोत्तर शब्द का कोई विशेष लक्षण निश्चित नहीं किया जा सकता। हम उसे केवल अपने अनुभव के द्वारा ही समझ सकते हैं।

'लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको जातिविशेषः। कारणंच तदवच्छिन्न भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसन्धानात्मा' पंक्ति का अभिप्राय यह है कि हमारे चित्त में वासनारूप से संस्थित संस्कार ही रमणीयता कहलाने वाले चमत्कार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। अनेक संस्कारों के बार-बार प्रबोधन तथा अनुसन्धान के द्वारा ही इस चमत्कार की सिद्धि होती है। यह चमत्कार मुख्यतः दो रूपों में दीख पड़ता है। एक तो इसका स्वरूप लोकोत्तर होता है और दूसरे यह ज्ञान, आह्लाद तथा क्रियावृत्ति का संश्लिष्ट रूप उपस्थित करता है। इसे लोकोत्तर कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक प्रयोजन-तृप्ति से आनन्द होता है यह उससे विलक्षण प्रकार का है। व्यक्तिगत सुख-सुविधा से उत्पन्न व्यावहारिक जगत् के चमत्कार को इसीलिए रमणीयता नहीं कहा जा सकता। उदाहरणतः, यह पुत्रोत्पत्ति अथवा अर्थप्राप्ति के सुख के समान नहीं होता। इसे तीन बातों का संश्लेष कहने का कारण यह है कि रम-णीयता बोध के समय हममें तीन बातें बनी रहती हैं। हम किसी चमत्कारक रचना के माध्यम से अभिव्यंजित किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसके सम्बन्ध में हमारी ज्ञानक्रिया सक्रिय बनी रहती है तथा हमें आनन्द का अनुभव होता है। अभिप्राय यह है कि हमें कथित विषय का ज्ञान किसी-न-किसी माध्यम से ही होता है। इस ज्ञान के होने पर जब हमारा ध्यान अभिव्यक्ति की ओर जाता है तो मन

आह्लादित हो उठता है। और इसके परिणामस्वरूप हमारा मन उस ज्ञान को बनाये रखने में प्रवृत्त हो जाता है। यही कारण है कि पण्डितराज ऐसे चमत्कारिता धर्म को ही काव्य कहते हैं जो किसी वाक्य-विन्यास के माध्यम से अर्थ के व्यक्त होने के साथ-साथ ही व्यक्त होता है। यथा उन्होंने कहा है : "स्वविशिष्ट-जनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्वमेव वा काव्यत्वम् इति फलितम्।"

रमणीयता के उपरिलिखित लक्षण पर ध्यान देने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि पण्डितराज को सौन्दर्य के सम्बन्ध में भली-भाँति ज्ञान था। उन्होंने चमत्कार को सौन्दर्य कहा है। इसे अंग्रेजी में 'इमोशनल थ्रिल' (Emotional thrill) कहा जा सकता है। परन्तु पण्डितराज इस थ्रिल का अन्य जातीय थ्रिल से भेद जानते थे। इस भेद को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने 'जाति विशेषः' वाक्यांश का प्रयोग किया है। इस वाक्यांश के द्वारा उन्होंने यह बताना चाहा है कि रमणीयता नामक चमत्कार अन्य प्रकार के आनन्द से स्वतन्त्र जाति के आनन्द का अनुभव होता है। इसे किसी प्रत्यक्ष अथवा अन्य प्रकार के प्रमाणों के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह केवल अनुभव-वेद्य होता है। इसकी अन्य विशेषताओं की ओर संकेत करने के विचार से ही पण्डितराज ने 'पुनःपुनरनुसन्धानात्मा भावना-विशेषः' पंक्ति में 'भावनाविशेषः' अंश के द्वारा विशिष्ट उद्बोधित संस्कारों की प्रतिष्ठा की है। 'विशेष' शब्द से उनका अभिप्राय यह जताना है कि सौन्दर्यबोध के समय बोधज्ञान तथा अर्द्ध प्रस्फुटित ज्ञानच्छाया दोनों ही वास्तविक महत्त्व रखते हैं। उनका कोई-न-कोई एक विशेष रूप होता है। इतना होने पर भी यह समस्त विशिष्ट रूप परस्पर असम्बद्ध नहीं रहते। यह संस्कार तथा ज्ञान दोनों एक-दूसरे से अनुस्यूत एवं अभिन्न रहते हैं। इसी कारण इन्हें अनुसन्धानात्मा कहा गया है। पण्डितराज का अभिप्राय यह है कि सौन्दर्यबोध हमारे मन में उठने वाले भावों का ही परिणाम है। यह भाव हमारे हृदय में किसी सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य को देखकर उत्पन्न होते हैं। हमारे मन पर किसी समय बहुत पहले देखी हुई किसी सुन्दर वस्तु का एक प्रभाव अवशेष रह जाता है, जिसे संस्कार कहते हैं। इन्हीं संस्कारों के सहारे ही सौन्दर्यबोध होता है। सुन्दर वस्तु एवं सौन्दर्य की अनुभूति की हमारे अचेतन मन पर एक छाप पड़ी रह जाती है। कालान्तर में किसी वैसी ही सुन्दर वस्तु को देखते ही हमारे मन से वही अव्यक्त-चित्र उभर आता है जो अपने उस स्वरूप में हमारे लिए आनन्ददायी सिद्ध होता है। पुरानी सुन्दर वस्तु के समान ही कोई नई वस्तु देखकर उनकी अकस्मात् समानता देखकर हमारे मन में आह्लाद

जाग उठता है। इसी कारण पण्डितराज ने सौन्दर्य को अनुसन्धानात्मक कहा है। सारांश यह है कि प्राचीन प्रभावों का वर्तमान ज्ञान के साथ भावात्मक संयोग घटित करा देना ही सौन्दर्य का मूलतत्त्व है। सौन्दर्यबोध के समय होनेवाले इस भावोद्वेलन का नाम ही भावक्रिया है, जिसमें ज्ञानक्रिया के साथ-साथ ही विशिष्ट सुन्दर रूप-भेद भी उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-ज्ञान से ज्ञानक्रिया को पृथक् करना संभव नहीं है। ज्ञानक्रिया के द्वारा ही हमारा प्राचीन ज्ञान वर्तमान ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी से भावात्मक थ्रिल उत्पन्न होता है। वस्तुतः प्राचीन सुन्दरतम रूपों का वर्तमान में परिचय ही सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण कहलाता है। प्राचीनकालीन वस्तु से वर्तमानकालीन वस्तु की समानरूपता को देखकर भावात्मक थ्रिल या चमत्कार उत्पन्न होता है।

यह हो सकता है कि पण्डितराज के इस कथन में अनेक गंभीर अर्थ निहित हों, किन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में विशेष विचार अवश्य ही नहीं किया है। उनसे पहले भी जो अनेक आलंकारिक हुए हैं प्रायः उन सभी ने रसोद्बोधकता या रसात्मकता को काव्य कहा है। हमारे देश में प्रचलित वर्तमानकालीन मतों में भी रसोद्बोधकता को ही काव्यजीवित स्वीकार कर लिया गया है। एक पण्डित-राज ही ऐसे हैं जिन्होंने विशेष रूप से रस तथा रमणीयता का अन्तर स्वीकार करते हुए रमणीयता पर ही काव्य की नींव डाली है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सब प्रकार की रमणीयता के साथ रस तो हो सकता है, किन्तु ऐसे अनेक स्थल होते हैं जहाँ रस प्रधान न होकर रमणीयता या ब्यूटी ही प्रधान होती है। निश्चय ही रमणीयता की रस से पृथक् सत्ता होती है। इसीलिए पण्डितराज ने कहा है : 'यत्तु रसवदेव काव्यमिति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न। रसवदलंकारप्रधानानाम् काव्यानाम अकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। महाकवि संप्रदायस्य आकुलीभाव प्रसंगत। तथा च जलप्रवाहवेगपतनोत्पतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कोऽपि बालादिविलोसितानि च। न च तत्रापि यथाकथंचित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येव इति वाच्यम्। ईदृशो रसस्पर्शस्य गोश्चलति, मृगो धावति इत्यादौ अतिप्रसक्तत्वेन अप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वात्।' अर्थात् रसमय वाक्य को ही काव्य मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से जिन काव्यों में वस्तु-वर्णन अथवा अलंकार-वर्णन ही प्रधान होगा, वे सब काव्य काव्य न कहे जा सकेंगे। उन्हें काव्य न मानना भी इसलिए उचित नहीं जान पड़ता कि वैसा होने पर कवियों का जो संप्रदाय है, उनकी जो प्राचीन परिपाटी चली आई है, उसमें गड़बड़ी उत्पन्न हो जायगी। उन्होंने स्थान-स्थान पर जल के प्रवाह, वेग,

पतन और उत्पतन, भ्रमण, बालकों आदि की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वे सब काव्य नहीं हैं? यदि इनके समर्थन में यह कहा जाय कि ऐसे वर्णन भी उद्दीपन आदि कर सकने के कारण रस से सम्बन्ध रखते ही हैं तब तो 'बैल चलता है', 'हरिण दौड़ता है' आदि वाक्य भी काव्य होने लगेंगे, क्योंकि जगत् की जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव कुछ-न-कुछ हो सकती हैं। अतएव यह लक्षण ठीक नहीं है।

भरतमुनि ने विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होना स्वीकार किया है। उनका सूत्र है : 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' लोक से पृथकता दिखाने के लिए उन्होंने इन नये नामों को प्रस्तुत किया है। लोक में प्रचलित हेतु, कारण अथवा निमित्त आदि शब्दों का ही दूसरा नाम है 'विभाव'। वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से भावन या ज्ञापन कराने वाले कारणों को विभाव कहते हैं। विभावन का अर्थ आस्वाद योग्य बनाना भी होता है, अतः यह भी कहा जाता है कि विभाव वासना रूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायीभावों को आस्वाद योग्य बनाते हैं। इनके क्रमशः आलम्बन तथा उद्दीपन नामक दो भेद हैं। जिन व्यक्ति या वस्तु आदि विषयों को देखकर रति आदि भाव व्यक्त होते हैं वे आलम्बन तथा जिनके सहारे कोई व्यक्त भाव उद्दीप्त किया जाता है वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। उदाहरण के लिए शृंगार-वर्णन के समय यदि नायक के मन में नायिका को देखकर रति भाव की अभिव्यक्ति दिखाई गई है तो नायक के रतिभाव के लिए नायिका आलम्बन मानी जाती है। इसी प्रकार यदि उस भाव को चंद्र, चाँदनी, संध्याकालीन निर्जनता, नदी तट आदि के कारण उद्दीप्त होने में सहायता मिलती है तो उन दृश्यों को उद्दीपन कहते हैं। 'अनुभाव' शब्द से अभिनयरूप विशेष आंगिक तथा वाचिक ऐसी चेष्टाओं का बोध होता है जो आश्रय के हृदयस्थित भावों के बाहरी व्यक्त रूप होती हैं और सहृदय को उस भाव-विशेष का भावन कराती हैं। इन्हें स्थायीभाव के जाग्रत होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाला मानकर भी इनका नाम 'अनुभाव' अर्थात् पीछे होने वाला रखा गया है। इनके अन्तर्गत नायिका के हाव-भाव तथा अन्य अनेक अनुभव या चेष्टाएँ आती हैं। इसी प्रकार हमारे चित्त में अस्थिर अवस्था में रहनेवाले और स्थायीभाव के साथ वारिधि-कल्लोल सम्बन्ध से व्यक्त होने और शीघ्र ही छिप जाने वाले भावसमूह को व्यभिचारीभाव (इमोशनल कॅम्पलीमेन्ट्स) कहते हैं। यह सभी परस्पर मिलकर रस-निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। अनेक प्राचीन संस्कृत कविताओं में कभी-कभी या तो

विभावादि में से किसी एक का ही अथवा समग्र का वर्णन कर दिया गया है अथवा किसी पद में प्राकृतिक वर्णन मात्र करके काम चला लिया गया है। ऐसे भी बहुतेरे पद मिलेंगे जिनमें किसी गंभीर सत्य का उद्घाटन मात्र हुआ है। पण्डितराज का कथन है कि यद्यपि ऐसे स्थलों पर भरतमुनि के अनुसार रस-निष्पत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती, तथापि यह देखा जाता है कि जहाँ संस्कृत आलंकारिकों द्वारा कथित आठ, नौ या दस रसों की तालिका में से कभी-कभी एक भी व्यक्त नहीं होता वहाँ भी विद्वत्समाज काव्य मानकर उन पंक्तियों का समादर करता है। अतएव न तो यही कहना उचित होगा कि सर्वत्र रसोद्बोधक काव्य की ही स्थिति होती है और न यही मानना उचित है कि विभाव या अनुभाव के प्रकट होते ही काव्य उपस्थित हो जाता है। यों तो किसी ऐसे वाक्य का प्रयोग करना प्रायः असंभव ही है कि जिसमें विभावादि में से किसी का वर्णन ही न हो, फिर भी रसोद्बोधकता के स्थान पर रमणीयता को ही काव्य का तत्त्व मानना उचित होगा। इस रमणीयता में रस प्रबल भी हो सकता है और नहीं भी। ज्ञान का अंश प्रधान हो जाने पर भी रमणीय जान पड़ने वाला काव्य ही काव्य कहलाता है। उदाहरण स्वरूप, कवि ब्राउनिंग तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की अनेक कविताएँ इस श्रेणी के अन्तर्गत आ सकती हैं।

पण्डितराज ने ही ब्यूटी या सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार की थी, इसीलिए उनके सम्बन्ध में थोड़ा विस्तारपूर्वक कहना पड़ा। बहुत-से लोगों का विश्वास है कि हमारे उपनिषदों में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् कहकर ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है, किन्तु उनकी यह धारणा निर्मूल है। उपनिषद् अथवा प्राचीन दर्शन-साहित्य किसी में भी सुन्दर का स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। प्लेटो में ही सबसे पहले सत्य, शिव तथा सुन्दर की एकता सिद्ध करने का प्रयत्न दीख पड़ता है। आधुनिक काल में बॉमगार्टन (Baumgarten) ने इस मत का विशेष रूप से पोषण किया है। कहा नहीं जा सकता कि इस सौन्दर्य-भावना ने ब्रह्म-समाज की भजन-प्रणाली में किस प्रकार इतना महत्त्वपूर्ण स्थान पा लिया।

विशिष्ट सामंजस्य अथवा विशेष परिचय-बोध को ही सौन्दर्य कहते हैं, तथापि न तो इसे 'विशेषात्मक' या 'विशिष्ट बोध' कहकर ही इसका लक्षण निश्चित किया जा सकता है और न इसे लाल, नीला या हरा अथवा मधुर, तिक्त आदि बताकर ही इसका लक्षण दिया जा सकता है। प्रत्येक रंग या स्वाद दूसरे रंग या स्वाद से कुछ-न-कुछ विशेषता रखता ही है, यहाँ तक कि एक ही रंग के भी अनेकानेक भेद हो सकते हैं। जैसे, लाल के भी असंख्य भेद होते हैं। इसी प्रकार

। तथा चीनी, मधु और गुड़ की मधुरता सभी का स्वरूप परस्पर कुछ-न-कुछ भिन्न होता है। इसी भिन्नता को लक्ष्य करके ही 'विशिष्टता' शब्द का प्रयोग किया गया है। अनेक प्रकार के गुणों अथवा कारणों से निर्मित होने पर भी इन सबकी स्वतन्त्रता और विशेषता भी कुछ-न-कुछ बनी ही रहती है। इस विशेष रूप में ऐसा कोई सामान्यधर्म नहीं पाया जाता जिसके आधार पर उसके सम्बन्ध में कोई सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया जा सके। इनमें से प्रत्येक का लक्षण देते समय कहना पड़ता है कि अमुक या तो चक्षुरिन्द्रियगत है या जिह्वेन्द्रियगत है अथवा विशिष्टाह्लादजनकतावच्छिन्न जाति-विशेष है। किन्तु इस प्रकार के वर्णन द्वारा उनके स्वरूप को तनिक भी नहीं समझा जा सकता। सौन्दर्य-बोध भी मन की एक विशिष्ट अनुभूति ही है। उस बोध के साथ भी ज्ञान, आह्लाद एवं क्रियात्मक वृत्तियाँ जुड़ी होती हैं, अतएव उसका तटस्थ लक्षण तो फिर भी देना संभव है, किन्तु उसका स्वरूप-लक्षण उपस्थित नहीं किया जा सकता। सौन्दर्यबोध के सम्बन्ध में गंभीर गवेषणा करके सौन्दर्यबोध की शक्ति को नहीं बढ़ाया जा सकता। इसी कारण पीटर (Peater) ने अपने ग्रन्थ 'द रेनेसां' में कहा है : " The value of Aesthetic philosophy has most often been in the suggestive and penetrative things said by the way. Such discussions help us very little to enjoy what has been well-done in Art and Poetry.

हम सौन्दर्य-बोध की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हुए इसके विश्लेषण में प्रवृत्त होना चाहते हैं। विश्लेषण-व्यापार तर्क एवं अनुसन्धान-वेद्य होता है। अतएव आन्तरवृत्ति के विचार द्वारा विविध दार्शनिक तत्त्वों सम्बन्धी अनेक बातें प्रकाश में लाई जा सकती हैं। इस विचार के फलस्वरूप हम लोग जिस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं, उसके द्वारा किसी शिल्प या साहित्य के बहिरंग का विचार करने में सुविधा होती है। वीक्षाशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र में दक्षता न रखने के कारण ही हमें व्यक्तिगत सौन्दर्यबोध तक ही सीमित रहना पड़ता है। हम केवल अपने सौन्दर्य-बोध का ही सहारा ले पाते हैं। तर्क तथा विश्लेषण का विचार मात्र में सापेक्ष महत्त्व होता है। अतः परस्पर भाव-विनिमय के द्वारा किसी शिल्प या साहित्य का न्यायसंगत विचार करना संभव नहीं है। हम किसी शिल्प या साहित्य का मूल्य तभी निर्धारित कर सकते हैं, जब हम व्यक्तिगत मतों को तर्क एवं विश्लेषण की कसौटी पर परख लेते हैं और उनके परस्पर विनिमय पर ध्यान देते हैं। इन तर्क तथा विश्लेषण व्यापारों में ही एक स्वतन्त्र सृष्टि-व्यापार तथा स्वतन्त्र दर्शन-

व्यापार निहित रहता है। इस प्रकार यह वीक्षाशास्त्र दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र विज्ञान-धारा सिद्ध होती है। इसका स्वतन्त्र रूप तब दिखाई पड़ता है जब हम इसका उपयोग साहित्य और शिल्प का मूल्य निर्धारित करने के लिए करते हैं। इसी कारण वीक्षाशास्त्र एक ओर जिस प्रकार एक स्वतन्त्र तत्त्व का ज्ञान करानेवाला शास्त्र कहा जा सकता है, उसी प्रकार दूसरी ओर साहित्य या शिल्प का मूल्य निर्धारित करने के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है। इस कारण इसे प्रायोगिक (प्रैक्टिकल) शास्त्र भी कहा जा सकता है। वीक्षाशास्त्र के साधारण सिद्धान्त परस्पर बहुत भिन्न हैं। उनमें ऐकमत्य होने पर भी प्रायोगिक व्यवहार के समय अनेक स्थलों पर अनिवार्यतः मतभेद हो जाता है। जैसे 'अमल धवल पाले लेगेछे मन्द मधुर हवा' अर्थात् अमल धवल पाल में मन्द मधुर मारुत टकरा रहा है, इस कविता के द्वारा होने वाले आनन्द के उद्रेक के कारणों के सम्बन्ध में गुरुतर मतभेद हो सकता है।बात यह है कि छन्द, शब्द, भाव, अर्थ-व्यंजना प्रभृति विविध उपादानों में मिले हुए जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है, वह पानक-रस के समान अनिर्वचनीय होता है। उस उपादान-संभार के बीच कौन-सा अंश सौन्दर्य-बोध के लिए कितना उपयोगी सिद्ध हुआ है, इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हो सकता है। यही कारण है कि वीक्षाशास्त्र के सिद्धान्तों में पूर्ण एक मत होने पर भी किसी विशेष काव्यमय शिल्प के सम्बन्ध में उन सिद्धान्तों को लागू करने न करने के लिए मतभेद हो सकता है। केवल वीक्षाशास्त्र में निपुण होने से ही आलोचकों का काम नहीं चल सकता, अपितु उनमें काव्य अथवा शिल्प के तात्पर्य का विश्लेषण करने की क्षमता भी आवश्यक रूप में होनी चाहिए। विशिष्ट उपादान-संभार को साधारण वीक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत मानकर उनपर वैक्षिक सिद्धान्तों का प्रयोग कर सकने के साथ-साथ समालोचक में अनिवार्य रूप से विचार-शक्ति भी होनी चाहिए। जो पाठक केवल मधुपवृत्तिवाला होता है और अलस मधुपान में ही रुचि रखता है उसका चित्त भी वैसे ही स्थलों पर तृप्त होता है। दुःख की बात यह है कि जो लोग वैक्षिक विचार के लिए तनिक श्रम भी नहीं कर सकते वे केवल मधुपान के समान आनन्द में विह्वल होकर अपनी सीमाओं का उल्लंघन करते हुए अपने विचार भी प्रकट करने लगते हैं। ऐसे लोग केवल आनन्दात्मक प्रभाव को ही प्रधान महत्त्व देते हुए प्रभाववादी आलोचना में विश्वास प्रकट करते हुए साहित्य तथा शिल्प के विचार के लिए वैक्षिक तर्कदृष्टि को अनावश्यक बताने लगते हैं। वे लोग समझते हैं कि साहित्य का विचार करने की योग्यता तथा क्षमता केवल उन्हीं

ो लोग इस काम के लिए वैदिक तर्कदृष्टि का सहारा लेते हैं वे ोग्य हैं न क्षमताशाली ही। वे यह भूल ही जाते हैं कि वैदिक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति भी इसका अधिकारी हो सकता है। जब कि सचाई तो यह है कि यही व्यक्ति उसका वास्तविक अधिकारी होता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने सभी प्रबन्धों में निष्प्रयोजन आनन्द को ही सौन्दर्य का लक्षण माना है। इस प्रतिष्ठित सत्य के सम्बन्ध में अधिक विचार करना व्यर्थ है। हाँ, हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि सौन्दर्य केवल प्रयोजन-विहीन ही नहीं होता बल्कि एक प्रकार से वह सत्य-विहीन तथा सत्-असत् मर्यादा-विहीन भी होता या हो सकता है। हम लोग साधारणतः वृक्ष-लता आदि एवं वैज्ञानिक सत्य के ज्ञान को भी ज्ञान ही कहते हैं, किन्तु न तो सौन्दर्य के अन्तर्गत इस प्रकार का कोई ज्ञान होता है और न न्याय-अन्याय सम्बन्धी सत्-असत् ही प्रकट होता है, फिर भी दोनों में समानता यह है कि जिस प्रकार ज्ञान या न्याय-अन्याय का बोध स्वानुभववेद्य है उसी प्रकार सौन्दर्य-बोध भी स्वतन्त्र रूप से स्वानुभव-वेद्य होता है। सौन्दर्य तथा न्यायोन्मुख पवित्र वृत्ति में परस्पर क्या तात्विक-सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में हम अभी विचार नहीं करेंगे। हमारे देश के अनेकानेक आलंकारिकों का कथन है कि जिस सत्वगुण के उद्रेक से सौन्दर्य-रस की स्फूर्ति होती है, उसी की भिन्न प्रकार की अनुभूति से पुण्यवृत्ति और विमल ज्ञान भी जन्म लेते हैं। तीनों का एक ही उत्स है। किन्तु अभी इस प्रसंग को यहीं छोड़ दिया जाय। सौन्दर्य के साथ आनन्द का घनिष्ट सम्बन्ध है। यह आनन्द साधारण प्रयोजन-सिद्धि का आनन्द नहीं होता। इसके अन्तर्गत इच्छा की तृप्ति न रहकर केवल प्राप्ति-जन्य तृप्ति रहती है। सौन्दर्य के साथ इच्छा भी मिश्रित रहती है, जैसे, हम सुन्दर गाना सुनना चाहते हैं, सुन्दर कविता सुनना चाहते हैं, सुन्दर फूल तथा सुन्दर छवि देखना चाहते हैं। परन्तु यहाँ इच्छा अन्तरंग न होकर बहिरंग है। पहले सौन्दर्य की तृप्ति होती है तब कहीं उसे दीर्घकाल तक बनाये रखने की इच्छा उत्पन्न होती है। सौन्दर्य की तृप्ति इच्छा के परिपूर्ण हो जाने से नहीं होती, क्योंकि सौन्दर्य की तृप्ति के पश्चात् भी तृप्ति की पुनराकांक्षा बनी रहती है। यह कहना तो कठिन ही है कि सौन्दर्य से आनन्द क्यों मिलता है, किन्तु हमारे द्वारा उपभोग किये जानेवाले सभी प्रकार के आनन्द में प्रायः इच्छा की तृप्ति दिखाई पड़ती है। यह बात भी नहीं है कि यह इच्छा सदा ही स्पष्ट रहती हो या सदा ही आकांक्षा जग उठती हो। यदि हमारे पास अप्रत्या-शित अथवा अनचाहे रूप में ही कोई व्यक्ति अनेक उपहार लेकर आये या

नितान्त अचिन्तित रूप में हमारी आशातीत पद-वृद्धि हो गई हो तो ऐसे अवसरों पर अपनी किसी प्रकट आकांक्षा या इच्छा के न रहने पर भी हम आनन्द प्राप्त करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि साधारण प्रयोजन की सिद्धि के अवसर पर जब आनन्द होता है तब भी प्रयोजन या आकांक्षा सदैव स्पष्टतः प्रकट नहीं होती। अन्तर में गंभीर एवं अस्पष्ट भाव से रहनेवाली आकांक्षा की तृप्ति होने के पश्चात् उसके पुनः जाग्रत् न होने पर ही हम आकांक्षा की तृप्ति के आनन्द का अनुभव करते हैं। अपनी चेतन-अचेतन या व्यक्त-अव्यक्त आकांक्षाओं एवं कामनाओं की तृप्ति के फलस्वरूप हम आनन्द का अनुभव करते हैं। यदि कोई कहे कि हमारी चेतन और अर्द्धचेतन कामनाओं की परितृप्ति के बिना भी आनन्द प्राप्त हो सकता है या यह कहे कि उस आनन्द का कोई स्वतन्त्र कारण नहीं होता तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि हम कामना की परितृप्ति की अवस्था में भी आनन्द पा सकते हैं और अपरितृप्त दशा में भी। कारण यह है कि यदि कामनाओं की अनुपस्थिति आनन्द उत्पन्न करती है तो मनुष्य को सदा ही आनन्द प्राप्त हो सकता है, क्योंकि एक ही समय में मनुष्य में आकांक्षाएँ भी विद्यमान रहती हैं और उनके अतिरिक्त ऐसी भी हो सकती हैं जो उस काल में नहीं रहतीं। इस प्रकार आकांक्षा-अनाकांक्षा दोनों स्थितियों में ही आनन्द मानना पड़ेगा।

हमें आन्तर, बाह्य या उभय प्रकार के कारणों से सौन्दर्य की उपलब्धि हो सकती है, किन्तु सदा ही सौन्दर्यबोध न होने के कारण उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। यह माना जा सकता है कि किसी-न-किसी कारण से ही चित्त में सौन्दर्य ग्रहण करने पर आनन्द होता है। अतएव यदि कोई यह कहे कि हमारी सुप्त वासना, इच्छा या आकांक्षा सदैव किसी-न-किसी कारण की खोज में रहती है और उसके उपस्थित होते ही उस आकांक्षा-विशेष की परितृप्ति हो जाने से जो आनन्द व्यक्त होता है, उसे सौन्दर्यानन्द या सौन्दर्य कहते हैं—तो इस विचार का भी सहज ही खण्डन नहीं किया जा सकता। विशेष भावों की विशेष अभिव्यक्ति के कारण कवि का मन व्यग्र हो उठता है। आकांक्षा के इस स्वरूप को स्वीकार करते हुए ही अन्तर में स्थित एक प्रकार की गंभीर आकांक्षा की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कवि छन्द तथा वाक्य-विन्यास में उसी को प्रकट करने की चेष्टा करता है। इसी कारण वह अपनी रचना में अनेक संशोधन या परिवर्तन भी किया करता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कवि जिसे प्रकट करना चाहता है उसका एक अस्फुट, अमूर्त रूप उसके चित्त में विद्यमान रहता है। वह उसी अरूप को साकार करने का प्रयत्न करता

है। इसमें सफलता प्राप्त होने पर वह सौन्दर्य की सृष्टि अथवा उसके उपभोग के आनन्द से आनन्दित हो उठता है। अपने मन के किसी अमूर्त आदर्श को रूप देने के लिए ही चित्रकार तूलिका चलाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमूर्त आदर्श उसके मन में पूर्णतया व्यक्त रहता है या नहीं, परन्तु इतना अवश्य है कि जबतक उसका मन उस आदर्श के अनुरूप नहीं ढल जाता तबतक उसकी चेष्टा शान्त नहीं होती। आदर्श के अनुरूप चित्र बनते ही जब बहिर्मूर्ति के साथ अन्तमूर्ति की एकता स्थापित हो जाती है तभी इस प्रयत्न-सिद्धि के रूप में सौन्दर्यसृष्टि तथा सौन्दर्य की उपलब्धि का आनन्द प्रकट होता है। प्रसिद्ध है कि डा० विंची यद्यपि मोनोलिसा के चित्र को चार वर्ष तक अंकित करते रहे, तथापि उनके विचार से वह चित्र अधूरा ही रहा। इसी प्रकार राजा दुष्यन्त ने अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक शकुन्तला का चित्र अंकित किया किन्तु उसके प्रेम में दुष्यन्त के चित्त में शकुन्तला का जो अमूर्त लावण्य प्रकट हो रहा था, उसके अनुरूप वह उसे रूप न दे सका। इसीलिए उसने दुःख-पूर्वक कहा : 'तथापि तस्या लावण्यम् रेखया किंचिदन्वितम्।' इससे प्रकट होता है कि कवि या शिल्पी अपने अमूर्त आदर्श को ही मूर्त रूप में उतार लाने का प्रयत्न किया करता है।

प्रायः देखा जाता है कि शिल्पकला तथा काव्यसृष्टि के मूल में अस्फुट अनुभूति के आवेग के साथ-साथ रूपसृष्टि की भी एक विशेष हार्दिक चेष्टा रहा करती है। यों तो यह चेष्टा बहुत कुछ जाग्रत् मनोवृत्ति के आधार पर प्रकट होती है, तथापि सुप्तप्राय मनोवृत्ति के आन्तरिक पट पर ही इसका यथार्थ कार्य चला करता है। कवि या शिल्पी हृदय में उत्पन्न होनेवाली आकांक्षा को केवल युक्ति अथवा तर्क के बल पर कोई रूप नहीं दे सकता। युक्ति तथा तर्क-पद्धति में भी चित्त की गहनता में एक शक्ति परिचालित होती है। वह चेतन मन के द्वारा क्रमशः भाषा, रंग या स्वरों में फूट उठनेवाले उन रूपों के सामंजस्य का विचार करता है। उसी के अनुसार वह अन्तःप्रेरित शब्द, रंग तथा स्वर आदि के द्वारा उत्पन्न आकार या रूप को आवश्यकतानुसार ग्रहण करता है अथवा उसका वर्जन एवं परिवर्तन करता है। वह जानता है कि इस प्रकार मन के गंभीर अस्पष्ट रूप को वह जितना ही स्फुट मनोवृत्ति के रूप में व्यक्त कर पाता है, उतना ही उसका काव्य या शिल्प सफल सिद्ध होता है। अस्फुट मनोवृति में रहनेवाला छाया-रूप ही स्फुट मनोवृत्ति तथा अन्य लोगों के समक्ष साकार हो जाता है। यों तो हमारी स्फुट मनोवृति अन्तर्निगूढ़ छाया के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट रूप में नहीं जान पाती, किन्तु जब वही छाया साकार हो जाती है या मूर्त रूप धारण कर लेती है

तब हम सरलता-पूर्वक समझ सकते हैं कि यह उस छाया का ही मूर्त रूप है। इस छाया को काया के रूप में मूर्न करने और काया में छाया को पहचानने पर स्रष्टा आनन्दविह्वल हो उठता है।

यद्यपि यह बताना कठिन जान पड़ता है कि जाग्रत् मन के भीतर किस शक्ति का अस्फुट स्पन्दन होता रहता है अथवा यह कि वह छाया शब्द, रंग और स्वर के माध्यम से किस प्रकार उपयोगी स्वरूप ग्रहण करने की चेष्टा करती है या कि अरूप या ईषत्रूप की किस उपाय से सृष्टि हो जाया करती है, किन्तु यह निश्चित है कि शिल्पी मात्र को उसकी स्थिति तथा उसके स्वरूप का अनुभव हुआ करता है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है........।

एकि कौतुक नित्य नूतन
ओगो कौतुकमयी
आमि जाहा किछु चाहि बोलिबारे
बोलिते दितेछो कोइ।
अन्तर माझे वसि अहरह
मुख हते तुमि भाषा केड़े लह।
मोर कथा लये तुमि कथा कह,
मिशाए आपन सुरे।
तुमि से भाषारे दहिया अनले,
डुबाये भासाये नयनेर जले।
नवीन प्रतिमा नव कौशले,
गड़िले मनेर मत।
से मायामूरति कि कहिछे बानी,
कोथाकार भाव कोथा निलै टानि।
आमि चेये आछि विस्मय मानि,
रहस्ये निमगन।
ए जे संगीत कोथा होते उठे,
ए जे लावराय कोथा होते फुटे।
ए जे क्रन्दन कोथा होते टुटे,
अन्तर विदारन।
नूतन छन्द अंधेर प्राय,
भरा आनंदे छूटे चले जाय।

नूतन वेदना वेजे उठे ताय,
नूतन रागिनी भरे।
जे कथा भाविनि वलि सेइ कथा,
जे कथा बुझिना जागे सेइ व्यथा।
जानिना एनेछि काहार वारता,
कारे शुनो वार तरे।
के केमन बुझे अर्थ ताहार,
केह एक वले, केह वले आर।
आभारे शुधाय वृथा बार बार,
देखे तुमि हास बुझि!
के गो तुमि, कोथा रयेछ गोपने,
आमि मरितेछि खुंजि।

रवीन्द्रनाथ की इस कविता का भाव यह है कि काव्य-सृष्टि के समय जाग्रत् व्यक्त मन का आभ्यन्तर अव्यक्त मन के साथ संघर्ष चलता रहता है। इसी अन्तरस्थ मनोदेवता को कवि ने 'कौतुकमयी' की संज्ञा दी है। कवि केवल बुद्धि और विचार का प्रयोग करके चेतन मन के विचार प्रकट करना चाहता है। न जाने अन्तर में वह कौन-सी शक्ति है जो कवि के मुख से भाषा निकलवा लेती है और उसे अपनी इच्छानुकूल परिवर्तित करके अपने अनुरूप व्यवहार में लाकर कवि के जाग्रत् मन को बाँध लेती है। कवि कहता है कि जब यह आन्तर देवता स्वयं प्रकट होना चाहता है, तब कवि की जाग्रत् मनोवृत्ति उसी के प्रवाह में डूब जाती है और कवि अपनी भाषा और अपने-आप को उसी आन्तर देवता पर छोड़ देता है :

कि बलिते चाइ सब भुले जाइ
तुमि जा बला ओ आमि बलि ताइ,
संगीतस्रोते कूल नांहि पाइ,
कोथा मेसे जाइ दुरे।

कवि-सृष्टि कवि के जाग्रत् मन से बहुत कम सम्बन्ध रखती है। वह प्रायः उसकी सृष्टि नहीं होती। शिल्पसृष्टि की विशेषता यह है कि हमारा अन्तःपुरुष अपने अन्तर्निगूढ़ व्यक्तित्व के ऊपर अंकित छवियों को जाग्रत् मन के सहारे उसकी बुद्धि, ज्ञान तथा भाषा-सम्पदा को अपनाकर उन्हीं के माध्यम से अव्यक्त

मूर्तियों को व्यक्त कर देना चाहता है। इसीलिए कवि ने कहा है कि यह अन्त-र्यामी कवि की भाषा को आग में तपाकर, घनीभूत वेदना को नयनों की राह प्रकट करके जाग्रत् मन के भाव को एक ओर से दूसरी ओर खींचकर एक नवीन कौशल से एक नवीन प्रतिमा गढ़ता है। इसी सृष्टिप्रक्रिया के साथ-साथ संगीत की धारा प्रबल रूप से प्रवाहित हो उठती है, उसका लावण्य फूट उठता है और हृदय की अस्फुट व्यथा का भाव सृष्टि में प्रकाशित हो जाता है। इस अज्ञात अन्तःशक्ति के आलोड़न के फलस्वरूप नूतन छन्द, नूतन व्याख्या तथा नूतन रागिनी प्रकट हो जाती है। जाग्रत् मन में कवि जिस व्यथा का आभास नहीं पाता वही व्यथा उस समय जाग जाती है। जिस भाव के सम्बन्ध में उसने कभी सोचा भी नहीं वही भाव भाषा का सहारा पाकर अपने-आप बाहर फूट पड़ता है। यह एक विचित्र स्थिति है मानो कवि स्वयं ही नहीं जानता कि अंकित की जाने वाली मूर्ति है किसकी, जो कुछ उसने कविता में कहा है उसका वास्तविक अभिप्राय क्या है अथवा वह कथा किसे सुनाने के उद्देश्य से लिखी गई है? कवि का जाग्रत् मन एक वीणा-यंत्र के सदृश होता है। यन्त्री न जाने यन्त्र के तारों को छेड़कर अंतर में छिपी किस गम्भीर वेदना और गम्भीर प्रभाव को व्यक्त करता है कि उसी अभिव्यक्ति में समग्र जगत् की अनादि रहस्य-कथा प्रकट हो जाती है :

आमार अर्थ तोमार तत्व,
बेले दाओ मोरे अयि!
आमि किगो वीनायन्त्र तोमार!
व्यथाय पीड़िया हृदयेर तार
मूर्च्छना भरे गीत झंकार
ध्वनिछ मर्म माझे!
आमार माझार करिछ रचना
असीम विरह, अपार वासना,
किसेर लागिया विश्व-वेदना
मोर वेदनाय बाजे?
मोर प्रेमे दिये तोमार रागिनी
कहितेछ कोन् अनादि काहिनी,
कठिन आघाते ओगो मायाविनि
जागाओ गभीर सुर!

पुनः कवि कह उठता है कि वह स्वयं मानो एक प्रदीप मात्र है और वह नहीं जानता कि उस प्रदीप को जलाकर महामन्दिर के रहस्यावृत असीम अन्धकारमय गहनप्रदेश में न जाने किस अज्ञात देवता की पूजा चलती रहती है। वह यह भी नहीं जानता कि सचेतन प्रज्वलित वह्नि की भाँति उसके प्राणों में एक प्रदीप्ति क्यों प्रकट होती है और क्यों उसे उस प्रदीप्ति का ज्ञान अपनी शिराओं तक में होता रहता है ? वह नहीं जानता कि होमाग्नि के सदृश उसका यह जीवन क्यों जलता रहता है :

ज्वलेछे कि मोर प्रदीप तोमार
करिवारे पूजा कोन् देवतार,
रहस्य-घेरा असीम आंधार
महामन्दिर तले ?
नाहि जानि, ताहि कारि लागि प्रान,
मरिछे दहिया निशि दिनमान,
नाड़ीते नाड़ीते जले ?

इस गुप्त स्थल पर रहने वाला अन्तर्यामी मानो अपनी सर्जनशक्ति से कवि की ही नित्य नूतन सृष्टि करता है। इस सृष्टि-क्रिया के अतिरिक्त इसका और कोई उद्देश्य नहीं है, यह स्वयं ही सार्थक है। इसे न तो तत्व ही कह सकते हैं न अतत्व ही। न इसे अर्थ या अनर्थ ही कह सकते हैं न सत्य या मिथ्या ही। यह समस्त मापदण्ड तभी व्यवहार में लाया जाता है जबकि इससे पृथक् कोई आदर्श होता। वस्तुतः यह स्वयं ही इतना परिपूर्ण है कि इसे अलग-अलग कुछ बातें कहकर नहीं समझाया जा सकता। यह स्वयं ही आदर्श है। इसके अतिरिक्त जीवन तथा सृष्टि में अन्य कोई वस्तु परिपूर्ण नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में किसी बाहरी आदर्श का आरोप नहीं किया जा सकता :

हासिमाखा तव आनत दृष्टि,
आमारे करिछे नूतन सृष्टि,
अंगे अंगे अमृतवृष्टि
वरषि करुणा भरे।
नाहिक अर्थ, नाहिक तत्व,
नाहिक मिथ्या, नाहिक सत्य,
अपनार माझे आपनि मत्त,
देखिया हासिबे बूझि ?

इसको प्राप्त कर भी सकते हैं और नहीं भी। यही कारण है कि नित्य-मिलन में भी नित्य-विरह जाग्रत् रहता है। जब हम सौंदर्य के भिन्न-भिन्न उपादान रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमारा हृदय चंचल हो उठता है और रचनाशील चित्त भी क्रियाशील हो जाता है। वह उपचेतन के विभिन्न सक्रिय अनुभावों को एकत्र करता है। इन भिन्न रूपात्मक अनुभवों को जब उद्दीपन हमारे उपचेतन से व्यक्त करने लगते हैं तो यह शनैः शनैः और अधिक तीव्र होकर हममें एक प्रकार की पीड़ा या अनुभूति जगाते हैं जो उस समय तक बनी रहती है जब तक कि हम उसे बाहर व्यक्त नहीं कर देते। इसे कवि या कलाकार की रचनात्मक प्रेरणा कहते हैं। उसके भाव एवं विचार उद्वेलित होकर चित्त में एक विशेष विकलता या अव्यवस्था उत्पन्न कर देते हैं। उसे एक विचित्र अभाव-सा अनुभव होने लगता है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति जनित सन्तोष भी रहता है। अतः कलाकार की रचना को अभाव की सृष्टि कह सकते हैं। वह एक महत्वपूर्ण क्रिया है जिसके द्वारा कवि का व्यक्तित्व अभिव्यक्त होने के लिए विकल हो उठता है। समुद्र की फेनिल लहरियों की भाँति प्राप्ति में ही असीम अप्राप्ति भी निहित रहती है। यह अभाव अपनी समस्त पीड़ा को जाग्रत के निकट व्यक्त कर देते हैं। एक विराट् इच्छा, विराट् अन्वेषण या विराट् अनुसन्धान से सारा जीवन आन्दोलित हो उठता है :

नित्य मिलने नित्य विरह
जीवने जागाओ प्रिये।
नव नव रूपे ओगो रूपमय
लुण्ठिया लह आमार हृदय
कांदाओ आमारे, ओगो निर्दय
चंचल प्रेम दिये।

* * *

एमनई टुटिया मर्म पाथर
छुटिबे आमार अश्रु निर्भर
जानिना खूंजिया कि महासागर
बहिया चलिब दूरे।

* * *

एबारेर मत पुरिया परान
तीव्र वेदना करियाछि पान;

शिशुरा तरल अग्नि समान
तुमि ढालितेछ बुझि ।
आबार एमनि वेदनार माझे
तोमारे फिरिब खूंजि ।

यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं 'अनुसन्धान' शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं दिया तथापि पूर्वोक्त बातों के द्वारा उनके द्वारा कथित 'अनुसन्धानात्मा विशेष' का रहस्य समझ में आ सकता है !

'साधना' शीर्षक कविता में कवि पुनः कहता है कि मन में आभासित गान तथा प्रत्याशित तान-साधना को पूर्ण करते-करते ही उनका तार टूट गया। कवि स्तवहीन रह गया है। वह निजी चेष्टाओं द्वारा अपने प्राणों की आशा तथा अपने विरह को व्यक्त नहीं कर पाता। जिस प्रकार संगीतज्ञ वीणा को अपनी गोद में रखते हैं उसी प्रकार कवि का जाग्रत् मन भी गोपन देवी के द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। ऐसा होने पर ही उनकी छिन्न-भिन्न वीणा अनगाये संगीत के माध्यम से मुखरित होकर उस गोपन-पुर वासिनी के कान में उनके मन के अनुरूप संगीत ढाल देती है। हार्दिक भावों को प्रकट करने के समय कलाकार के हृदय में एक द्विविधा उत्पन्न हो जाती है। अपने चेतन मन की दशा में वहाँ शब्द, लय, संगीत आदि के माध्यम से प्रसन्नता व्यक्त करना चाहता है। वह उन विचारों को व्यक्त करना चाहता है जो किसी अनुकूल वातावरण को पाकर उद्बुद्ध हो गये हैं। किन्तु प्रयत्न करने पर भी उसकी सभी सौन्दर्यानुभूतियाँ व्यक्त नहीं हो पातीं। उसके चेतन अस्तित्व के पीछे एक अन्य अस्तित्व भी रहता है। यही उसका अभिव्यक्ति का माध्यम खोजने में सहायक होता है। इसी आन्तरिक व्यक्तित्व को 'अन्तर्यामिनी देवी' कहा गया है। इस प्रकार जहाँ चेतन मन असफल हो जाता है, वहाँ भी उसकी सृजनात्मक शक्ति या वृत्ति उपचेतन से उभरकर अभिव्यक्ति का साधन खोजने में हमारी सहायता करती है और इस प्रकार अनगाये गीतों को गाने का अवसर प्रदान करती है :

'मने जे गानेर आछिल आभास
जे तान साधिते करेछिनु आश
सहिल ना सेई कठिन प्रयास,
छिंड़िल तार ।
स्तवहीन ताइ रयेछि दांडाये साराटिक्षण
आनियाछि गतिहीना

आमार प्राणेर एकटि यन्त्र बुकेर घन
छिन्नतन्त्री वीणा ।

*   *   *

तुमि यदि एरे लह कोले तुलि
तोमार श्रवणे उठिबे आकुलि
सकल अगीत संगीतगुलि
हृदयासीना ।
छिल या आशाय फुटाबे भाषाय
छिन्नतन्त्री वीणा ।

आन्तरिक वस्तु को हम केवल प्रयत्न कर-करके व्यक्त नहीं कर सकते। आन्तरिक रूप-प्रतीति एवं सम्मिलन ही शिल्पी की प्राण-प्रेरणा है। चेतन प्राणों की इस प्रेरणा के अनुरूप ही शिल्पी का कृतित्व प्रकट होता है। Browning ने "Andrea Del Sarto" में कहा है :

I do what many dream of, all their lives
—Dream ? Strife to do and agonised to do
And fail in doing . . . .
Well, less is more, duerlzea : I am judged,
There burns the truer light of God in them,

*   *   *

Their works drop groundward, but themselves, I know,
Reach many a time a heaven that's shut to me.
Enter and take their place, there sure enough,
Though they come back and tell the world
My works are nearer heaven but I sit here...

*   *   *

All is as God overrules,
Beside, incentives come from the soul's self,
The rest avail not.

ब्राउनिंग का अभिप्राय यह है कि यद्यपि अन्तःप्रेरणा ही सौन्दर्य-सृष्टि का मूल उत्स है, तथापि इस मूल उत्स की प्रेरणा का अनुभव करते हुए भी सभी व्यक्ति उसके अनुरूप ही भाव प्रकाशित नहीं कर सकते। किसी-किसी में यह प्रेरणा अपेक्षाकृत अल्प मात्रा में होते हुए भी भावों के प्रस्फुटन में सहायक हो

जाती है और किसी में इसका अधिक-से-अधिक अनुभव होने पर भी भाव थोड़े-बहुत भी प्रकट नहीं हो पाते।

जन-साधारण तो कृति के बाहरी रूप को देखकर ही उसकी निन्दा या प्रशंसा किया करते हैं, किन्तु इन दोनों रूपों में से किसका अधिक महत्त्व है, इस बात का निर्णय केवल अन्तर्यामी व्यक्तित्व के द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार इसी आन्तरिक रूप के साक्षात्कार के द्वारा चित्रकार अथवा कवि बाह्यवस्तु को अंकित करते समय यदि अपनी गहन अनुभूति के आधार पर चित्र या शिल्प-रचना करता है तो वह चित्र या शिल्प बाह्य उपादानों, जैसे, रंग, तूलिका, आदि, का अतिक्रमण करके अलौकिक हो उठता है। बाहरी उपादान उसके भाव को व्यक्त करने के लिए तुच्छ प्रतीत होते हैं। वह उनका सहारा अवश्य लेता है किन्तु अपने आन्तरिक भावों से समुज्ज्वल करके अथवा अपनी अनुभूतियों से रंजित करके वह चित्र या शिल्प को एक अलौकिक, असाधारण रूप दे देता है। ब्राउनिंग ने ' Fra Lippo Lippi ' में कहा है :

However, you're my man, you have seen the world.
—The beauty and the wonder and the power,
The shapes of things, their colours, lights and shades,
Changes, surprises,— and God made it all!
—For what? Do you feel thankful, ah or no:
But why not do as well as say,—paint these
Just as they are, careless what comes of it?
God's works—paint anyone and count it crime
To let a truth sleep. Do'nt object His works
Are here already. Nature is complete.
Suppose you reproduce her (which you can't)
There is no advantage! You must beat her then.
For don't you mark? We're made so that we love
First when we see them painted, things we have passed.
Perhaps a hundred times not cared to see;
and so they are better painted, better to us
Which is the same thing Art was given for that,
God uses us to help each other soul,
Lending our minds out.

कवि के अनुभव के विश्लेषण अथवा नितान्त वैज्ञानिक आलोचना इन

दोनों के द्वारा हमें एक ही सत्य उपलब्ध होता है। कविवर रवीन्द्रनाथ का कथन है कि हमारी समस्त शिल्परचना में हमारे अन्तर में निवास करने वाली उसी अन्तर्यामिनी देवी की ही लीला चला करती है। गोपन अन्तःप्रदेश में स्थित अन्तर्यामिनी की सचेतना आत्मप्रकाश की चेष्टा के फलस्वरूप ही रचना की जाती है।

पूर्वोक्त जाग्रत् मन या जाग्रत चित्त का विश्लेषण करने पर दो प्रकार का ज्ञान दीख पड़ता है। एक है प्रात्यक्षिक रूपात्मक, जिसका सम्बन्ध रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से है और दूसरा है अन्वीक्षामूलक (लॉजिकल)। अन्वीक्षामूलक वृत्ति के द्वारा ही हम प्रत्यक्ष अथवा स्मरण द्वारा ग्रहण किये गये रूप, रस आदि ऐन्द्रियक बोध अथवा उसकी स्मृति को विशेष-विशेष सम्बन्धों से युक्त अथवा वियुक्त करके देखते हैं। अनेक ऐन्द्रिय-बोधों को एक साथ ग्रहण करके मन के सम्मुख उपस्थित करना भी इसी वृत्ति का काम है। उदाहरणतः, जब हम कहते हैं कि 'अमुक फूल लाल है' अथवा, 'दूध सफेद है' तब उन-उन वस्तुओं के अनेकानेक पृथक्-पृथक् गुणों की स्वतन्त्रता का विनाश करके केवल समवेत भाव से हमारे सम्मुख एक वस्तु-विशेष, फूल या दूध मात्र ही उपस्थित होती है, उसके अलग-अलग गुण नहीं होते। इस प्रकार के वस्तुभाव को ही बौद्ध प्रज्ञप्तिसत्' कहते हैं। मन का यह एक विशेष धर्म जान पड़ता है कि धर्म-धर्मी, गुण-गुणी अथवा सम्बन्ध-सम्बन्धी इस प्रकार के सम्बन्ध-भाव के अतिरिक्त उसका व्यापार ही नहीं चल सकता। मनोवृत्ति के सिद्धान्त के अनुसार जागतिक पदार्थ गुण-गुणी, धर्म-धर्मी अथवा सम्बन्ध-सम्बन्धी भाव से ही प्रतीत होते हैं। फूल या दूध को वस्तुरूप में मन में धारण करके उसके साथ लाल अथवा सफेद गुण को संयुक्त कर देने पर वाक्य अथवा प्रतिज्ञा की निष्पत्ति होती है। जैसे, कहा जायगा 'फूल लाल है' अथवा 'दूध सफेद है'। इस अन्वीक्षावृत्ति के द्वारा हम केवल वस्तु और गुण, धर्मी और धर्म तथा सम्बन्धी और सम्बन्ध का संयोग-वियोग ही नहीं कर सकते वरन् इस संयोग-वियोग के परिणामस्वरूप संगठित वाक्यों को परस्पर विविध सम्बन्धों से युक्त करके नवीन सम्बन्ध-प्रणाली के रूप में नवीन वाक्यों की रचना कर सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप 'जिस स्थान पर धूम है, वहाँ वह्नि है' वाक्य के द्वारा 'पर्वत पर धूम है' अतः 'वहाँ वह्नि है' इस प्रकार की सिद्धि हो जाती है। अन्वीक्षावृत्ति ही ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के उपादानों और स्मृति के सहयोग से वाक्य संगठित करती है। प्रत्यक्ष और अन्वीक्षा इन दो वृत्तियों के द्वारा हमारी जाग्रत् मनोवृत्ति का कार्य सम्पन्न होता है। अन्वीक्षावृत्ति का स्वभाव

है कि वह एक ही क्षण में बहुविध गुणों या द्रव्यों को एक साथ अन्वित नहीं कर पाती।

प्रत्यक्ष के द्वारा एक ही क्षण में अनेक की धारणा हो जाती है। हमारे सामने जो नारियल का वृक्ष दिखाई देता है, आँख खोलने के साथ ही उसके पत्ते आदि भी चक्षुरिन्द्रिय को प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। अनेक वस्तुओं के इस युगपत् प्रत्यक्ष के समय पौर्वापर्य तथा क्षणभेद का प्रमाण देना कठिन जान पड़ता है। निश्चय ही प्रत्यक्ष-ज्ञान के समय तो हमें उस पौर्वापर्य अथवा कालभेद का ज्ञान नहीं होता। आधुनिक गेस्टाल्ट साइकालोजी के विद्वान् अनेक प्रमाणों के द्वारा यही सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के समय हमारे मस्तिष्क में एक बार में केवल एक ही सूक्ष्म नाड़ी केन्द्र नहीं अपितु एक साथ अल्पाधिक परिमाण में अनेक स्थलों पर फैले हुए नाड़ी-केन्द्र उत्तेजित हो उठते हैं। परिणाम यह होता है कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के समय एक साथ अल्पाधिक परिमाण में हमें अनेक स्थान स्पष्टतः प्रत्यक्ष हो जाते हैं। हमारी चक्षुरिन्द्रिय की गठनप्रणाली भी ऐसी है कि यद्यपि रेटिना में फ़ोविया सेन्ट्रेलिश नामक केन्द्र पर पड़ने वाली छवि सर्वापेक्षा अधिक स्पष्ट होती है तथापि समग्र रेटिना के ऊपर ही एक विस्तृत छवि पड़ती है। अतः चाक्षुष-प्रत्यक्ष की रीति यह है कि अनेक स्थानों की अस्पष्ट प्रतिभास छवि के संयोग के सहारे उसी अस्पष्ट प्रतिभास छवि का एक अंश स्पष्ट प्रतिभासित होता हुआ प्रत्यक्ष हो उठता है। उदाहरणतः, दीपक के प्रकाश में दीखने वाली वस्तु की छाया में एक गहन कालिमामय अंश विद्यमान रहता है। हम उस काले अंश से जितना ही दूर जाते हैं, उतनी ही उस कालिमा की गाढ़ता क्षीण-से-क्षीणतर होती जाती है और अन्त में वह अवशिष्ट छाया भी अवसित हो जाती है। गहन कालिमामय अंश को ही हम छाया कहते हैं और क्षीण छायांश को उपच्छाया। उपच्छाया का अवलम्बन करके ही छाया प्रस्फुटित होती है। किसी भी वस्तु को देखते समय उसका कुछ अंश अत्यन्त स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट रहता है। छाया और उपच्छाया के आधार पर ही हम इन दोनों को दृष्ट और उपदृष्ट भी कह सकते हैं। दृष्ट अथवा सुदृष्ट अंश केवल एक विन्दु नहीं होता, अपितु वह एक स्थानसमवेत रूप होता है। चाक्षुष-प्रत्यक्ष के समय विस्तृत स्थानसमवेत उपदृष्ट का अवलम्बन लेकर तदपेक्षा स्वल्पायतन स्थानसमवेत रूपसमवाय सुदृष्ट रूप में दिखाई देता है। सभी इन्द्रिय-प्रत्यक्षों की प्रणाली एक समान है, किन्तु उसके सम्बन्ध में इस स्थल पर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। इस समय हमारा उद्देश्य केवल इतना सिद्ध करना है कि अन्वीक्षा द्वारा एक साथ वस्तु

का उस रूप में ग्रहण नहीं होता, जिस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। हम किसी फूल को देखते समय उसकी सफेदी के साथ-साथ उसके विलक्षण श्वेतत्व, उसके आकार तथा उसकी विचित्र रचना-प्रणाली को भी देखते हैं, किन्तु प्रतिक्षण इन पृथक्-पृथक् दिखाई देने वाले अंशों का क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता। इन सब को एक साथ देखकर केवल इतना ही बताया जा सकता है कि हमने एक पुष्प देखा है। यद्यपि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के समय विशेष का अवलम्बन किया जाता है, किन्तु वह विशेष का क्रम भी परस्पर इस प्रकार विलीन हो जाता है कि उन विशेष धर्मों को आच्छादित करके पुष्प-रूप एक स्वतन्त्र विशेष प्रकट हो जाता है।

अन्वीक्षा मात्र से सामान्य-बोध होता है। यह सामान्यबोध भी विशेष के बिना नहीं हो सकता। यथा, बहुत-सी सफेद वस्तुएँ देखे बिना सफेद की सामान्य धारणा नहीं हो सकती। यह कहना उचित न होगा कि विशेषावलम्बी सामान्यता में विशेष का विशेषत्व लुप्त नहीं हो जाता। यह पूछा जा सकता है कि विशेष का विशेषत्व वर्जित कर देने पर फिर अवशेष ही क्या रह जायगा? वस्तुतः, सच बात यह है कि कुछ विशेषों का परस्पर वर्जन होने पर ही एक विशेष की स्थापना हो पाती है। इसी प्रकार अनेक विशेषों में अन्तर्हित स्वरूप-विशेष को अन्वीक्षा द्वारा प्रकट करते हुए विशेषों के स्वगत वैशिष्ट्य की उपेक्षा कर दी जाती है। इतना ही नहीं अपितु अन्वीक्षा का सहारा लिये बिना प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत विशेष के विविध सम्बन्धों और विविध पदार्थों के संघटन की प्रतीत भी संभव नहीं है। फूल को देखकर उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम कहते हैं "फूल सफेद है, उसकी पंखुड़ियाँ परस्पर विच्छिन्न रहकर डण्ठल में मिली हुई हैं" पंखुड़ियाँ अर्द्धचंद्राकृति हैं, वह अलग-अलग रहते हुए भी श्रेणीबद्ध हैं या फूल में पीत-रक्त किंजल्क रहता है आदि। इस प्रकार का समस्त विचार विकासमूलक है और अन्वीक्षावृत्ति के अतर्गत आता है। प्रत्यक्ष और अन्वीक्षा का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। प्रत्यक्ष के उपादानों के बिना अन्वीक्षा सम्भव नहीं है और अन्वीक्षा का प्रयोग किये बिना प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण की जानेवाली वस्तु के नाना प्रकार के अपेक्षित उपादान रूप पदार्थों और सम्बन्ध-परम्परा का बोध नहीं होता। प्रत्यक्ष केवल स्वरूपभूत किसी विशेष वस्तु का बोध उत्पन्न करके शांत हो जाता है किन्तु अन्वीक्षा के द्वारा हम उसी विशेष के उन घटकीभूत उपादानों का विश्लेषण करते हैं और अन्वीक्षिक प्रणाली से नाना सम्बन्ध-जालों के बीच से उन उपादानों को ग्रहण करते हैं। अतएव प्रत्यक्ष के द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह और उसके अवलम्बन

से उत्पन्न तथा नाना सम्बन्धों के माध्यम से उसे प्रकाशित करने के लिए यत्नवान् होने पर भी अन्वीक्षा द्वारा जो कुछ ग्रहण होता है वह प्रत्यक्ष से स्वतन्त्र होता है। प्रत्यक्ष का अवलम्बन करके अन्वीक्षा एक नूतन सत्य को उद्भासित करती है। अन्वीक्षा तथा प्रत्यक्ष के सम्मिश्रित रूप से उत्पन्न प्रत्यक्ष का स्वरूप निश्चय ही अन्वीक्षाहीन प्रत्यक्ष से भिन्न होता है। उदाहरणतः, यदि हम फूल के नाना रूपों का विश्लेषण करके उसके नाना प्रकार के सम्बन्धों का विचार करते हुए उसे दुबारा देखें तो पहले वाले अन्वीक्षाप्राप्त रूप से यह रूप भिन्न प्रतीत होगा। इस प्रकार पूर्वप्रत्यक्षीकृत वस्तु का एक नवीन प्रत्यक्ष घटित होता है।

प्रत्यक्ष तथा अन्वीक्षा दोनों ही अपने संचार के लिए पूर्वगृहीत स्मृति और संस्कार की अपेक्षा रखते हैं। इन पूर्वगृहीत स्मृति अथवा संस्कारों के सम्बन्ध में यह नहीं बताया जा सकता कि यह कहाँ रहते हैं, कैसे रहते हैं, कैसे आते हैं, क्यों इनके प्रकट होने में कभी विलम्ब हो जाता है और क्यों वह कभी शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं। स्मृति तथा संस्कार के रूप में गृहीत समस्त प्राचीन संगृहीत ज्ञान वर्त्तमान के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। स्मृति तथा संस्कार ही मिलकर हमारी पृथक् व्यक्ति-सत्ता को रूप देते हैं। यही दोनों हम लोगों के जीवन में विशेष रूप से कुछ विशिष्ट व्यापारों के अनुवर्त्ती बन जाते हैं। यही स्मृतियाँ तथा संस्कार विशेष रूप से व्यवस्थित तथा संगठित होकर हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इनके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का प्रमाण देना कठिन ही है। यदि उसका कोई प्रमाण हो सकता है तो वह वेद या शास्त्र ही हो सकते हैं, जिनमें आत्मा की धारणा पाई जाती है। इस स्मृति तथा संस्कार-समूह की सांख्योक्त बुद्धि के साथ बहुत कुछ समानता बताई जा सकती है। इसी समूह या पिंड में हमारे प्राचीन जीवन का समस्त ज्ञान, उसकी समस्त इच्छाएँ एवं समस्त सुख-दुःखादि स्पष्ट या अस्पष्ट-परिवर्तित या संस्कृत रूप में वर्त्तमान रहते हैं। इसी समूह के पारस्परिक सम्बंधों के द्वारा हमारे व्यक्तिगत जीवन के समस्त चरित्र, प्रवृत्ति और रुचि आदि का नियंत्रण होता है। प्रत्यक्ष तथा अन्वीक्षा में हम विशेषतः ज्ञान को ही ग्रहण करते हैं, किन्तु ज्ञान ही व्यक्तित्व का एकमात्र उपकरण नहीं कहा जा सकता। ज्ञान के समान ही व्यक्तित्व में नाना प्रकार के हर्ष-दुःखादि संवेग ओत-प्रोत रहते हैं तथा नाना प्रकार की इच्छाओं की प्रेरणा रहती है। व्यक्तित्व में स्मृति तथा संस्कार के समान ही भाव-संवेगों और इच्छा का योग भी रहता है। इसी विविध-रूपी समष्टि से ही जीवन के साथ-साथ व्यक्तित्व पुष्ट होता है।

व्यक्तित्व के निर्माण में अनेक व्यष्टि-रूप वैयक्तिक अंग-प्रत्यंगों की कल्पना

की जा सकती है। हमारा मत है कि प्रज्ञप्तिसत्ता के द्वारा परस्पर सापेक्ष भाव से सम्मिलित रहने पर भी यदि किसी समष्टि की स्वतन्त्र सत्ता दिखाई देती है तो उसे स्वतंत्र सत्ता के रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। इस कारण मूल व्यक्तित्व के साथ अन्वित जीव-शक्ति अथवा बौद्ध-शक्ति आदि विभिन्न प्रकार की शक्तियों को अंगीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं है। स्वतंत्र सत्ता का तात्पर्य अन्य निरपेक्ष सत्ता नहीं होता। उसका अभिप्राय केवल इतना है कि केवल उससे भी अनेक व्यापारों की व्याख्या हो सकती है। दृष्टान्तस्वरूप कहा जा सकता है कि जिसका हमारे दैहिक प्रयोजन से निरंतर सम्बन्ध होता है उसे हम जैवपुरुष (बॉयोलाजिकल पर्सनॉलिटी) कहते हैं। दैहिक प्रयोजन से सम्बन्ध मानने के कारण दैहिक आकांक्षा को परिपूर्ण करने की चेष्टा और परिपूर्तिजनित आनंद आदि सभी जैवपुरुष की श्रेणी में आ जाते हैं। यद्यपि इसी आधार पर जैवपुरुष को स्वतंत्र पुरुष कहा जाता है, तथापि स्वतंत्र होकर भी इस जैवपुरुष का बौद्धपुरुष के साथ अत्यंत घनिष्ठ सम्बंध बना रहता है। बौद्धपुरुष के साथ संयुक्त न रहने से जैवपुरुष के अनेक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते। बौद्धपुरुष का व्यापार भी जैवपुरुष के व्यापार के अभाव में नहीं चल सकता। स्वतंत्र होने के साथ ही यह पुरुष-द्वय परस्पर सापेक्षभाव से अन्वित भी रहते हैं। बहुधा एक में दूसरे का व्यापार अन्तर्विलीन हुआ रहता है। बौद्धपुरुष से हमारा अभिप्राय उस वृत्ति-समवाय की ओर संकेत करना है जो अपने सामंजस्य के द्वारा प्रेरित होकर अन्वीक्षा-व्यापार में प्रकट होती रहती है। इसे अंग्रेज़ी में लॉजिकल पर्सनॉलिटी कहते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हमारे मन में अनेक वृत्तियाँ होती हैं। इन समस्त मानस-वृत्तियों का प्रायः प्रयोजन के अनुसार सामंजस्य घटित होता रहता है। यदि हम सामंजस्य उपस्थित करनेवाली इन मानसवृत्तियों पर ध्यान दें तो इनकी विशिष्टता के आधार पर इन्हें सापेक्ष-स्वतन्त्र-पुरुष भी कह सकते हैं। स्वतन्त्र के साथ-साथ सापेक्ष कहने का अभिप्राय यह है कि कभी इनका आवश्यकतानुसार परस्पर सापेक्ष स्थिति में सामंजस्य उपस्थित होता है और कभी यह वृत्तियाँ पृथक् अस्तित्व धारण कर लेती हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी इनमें परस्पर संघर्ष भी उपस्थित हो जाता है। इन्हीं मानस-वृत्तियों के द्वारा हमारे व्यक्तित्व को परिपूर्णता प्राप्त होती है। इन्हीं के बीच हमारी जीवन-यात्रा चला करती है।

जब हम किसी वृत्ति का अव्याहत प्रयोग कर पाते हैं अथवा उनके द्वारा जब हमें आत्मोन्नति या आत्मस्थिति की प्राप्ति के कारण हमारे मन में आनन्द उत्पन्न होता है, तब हम उस आनन्द को ही सुख कहते हैं। जैव-पुरुष की आकांक्षा जैव-

जातीय मात्र होती है, उसका मात्र देह से सम्बन्ध रहता है। देह की वृत्ति पशु-साधारण होती है, अर्थात् उसका सम्बन्ध आहार, निद्रा, भय आदि से ही होता है। उन समस्त व्यापारों के द्वारा होनेवाले उपचय अथवा तृप्ति की प्राप्ति की ओर ही यह देह प्रवृत्त होती है। यह भी देखा गया है कि जैव या देहवृत्ति के अव्याहत संचार तथा उस वृत्ति के कारण जैवपुरुष की सार्थकता तो सिद्ध होती ही है साथ ही उसमें आनन्द भी मिला रहता है। प्रत्येक जैववृत्ति के व्यवहार के द्वारा जैव-पुरुष को अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव होता रहता है। अपने उपचय के रूप में अपनी वृद्धि अथवा पुष्टि के फलस्वरूप ही उसे नवीन रूप में आत्मपरिचय प्राप्त होता रहता है। अर्थात् जितना ही वह बढ़ती है उतना ही उसकी सत्ता का अनुभव होता रहता है। यही आत्मपरिचय ही उसके सुख का कारण है। आत्मपरिचय की विपरीत दशा का नाम ही दुःख है। हमारे अन्तर में स्थित किसी भी अन्य पुरुष—शक्ति—द्वारा जैववृत्ति के नियन्त्रित होने पर अथवा किसी बाह्य कारण से व्याहत होते ही दुःख उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्म-संयम अथवा इच्छाविघात से दुःख उत्पन्न होता है। इस प्रकार समस्त पुरुषों के व्यवहार के साथ ही सुख तथा दुःख भी जुड़ा रहता है। अपनी वृत्ति के अव्याहत प्रयोग के द्वारा ही प्रत्येक पुरुष की आत्मतुष्टि अथवा उसका आत्मपरिचय सिद्ध होता है। इस आत्मपरिचय का परिणाम ही आनन्द है। किसी पुरुष के आत्मपरिचय से अभिप्राय उसके (सेल्फ रियलाईज़ेशन) से है। अपने स्वरूप का विस्तार अथवा पूर्व में अनचीन्हे अपने स्वरूप को भी चीन्ह लेने का नाम है आत्मपरिचय (सेल्फ रियलाईज़ेशन)। यह चेतन और अचेतन दोनों दशाओं में संभव है। उदाहरण के लिए, हमारे शरीर में प्रतिदिन जिस प्रोटीन की क्षति होती है वह खाद्य-पदार्थों में विभिन्न रूपों में छिपा रहता है। भोजन के रूप में हमारी पाक-स्थली में खाद्य-पदार्थ के पच जाने पर यह प्रोटीन धातु रक्त के साथ मिश्रित हो जाती है। इसी से शरीर के जीव-कोष सजीव बनते हैं और उपचित होते हैं। इस प्रकार जैववृत्ति के द्वारा यह बाहरी प्रोटीन हमारी अन्तस्थ धातु के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार के आत्मपरिचय को हम मूढ़ आत्मपरिचय कह सकते हैं। आनन्द इसी का परिणाम है। इस प्रकार यहाँ 'परिचय' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। परिचय है क्या? अपने पूर्वज्ञान तथा वर्तमान ज्ञान के एकत्व के द्वारा हम जितना ही किसी को पहचानते हैं उतना ही हमारी ज्ञानवृत्ति को आत्मलाभ होता है। इस आत्मलाभ को ही परिचय कहते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि आत्मवृत्ति के अव्याहत प्रयोग के द्वारा होने-

वाले आत्मलाभ अथवा आत्मतुष्टि को ही परिचय कहते हैं। समस्त प्राणिजगत् की क्रमोन्नति तथा उसका विकास इसी आत्मतुष्टि या आत्मविकास की चेष्टा का फल है। यही आत्मजीवन है। इस प्रकार सभी प्रकार का आनन्द केवल जीवन की स्थिति या व्याप्ति का ही आनन्द सिद्ध होता है। इसके विपरीत किसी वृत्ति के प्रसार में किसी विघ्न या व्याहति के उपस्थित हो जाने पर उससे दुःख उत्पन्न होता है। किन्तु जब यह वृत्ति या व्यापार पुनः उस व्याहति का अतिक्रमण करके वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर लेता है, तब आत्मलाभ का आनन्द प्राप्त होता है। प्रायः अधिकांश आत्मलाभ के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। उस बाधा के अतिक्रम एवं व्याहति-समूह के अपनोदन द्वारा जीवनशक्ति की जो अजस्त्र धारा प्रवाहित होती है, उसी में सफलता का अधिकाधिक आनन्द प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता है कि हमारे अन्तर में स्थित प्रत्येक पुरुष का एक स्वतन्त्र क्षेत्र में स्वतन्त्र व्यापार चला करता है। उसी के अनुकूल विशेष-विशेष आकांक्षाओं का जन्म होता है। उन विशेष आकांक्षाओं के अनुरूप विशेष वृत्तियाँ होती हैं, जिनके अव्याहत प्रयोग अथवा उनकी परितृप्ति के परिणामस्वरूप एक प्रकार का आत्मलाभ अथवा आत्मपरिचय घटित होता है। इसी आत्मलाभ से पुरुष-विशेष का भिन्न-भिन्न प्रकार का विशिष्ट आनन्द जन्म लेता है। इस सम्बन्ध में अधिक कहना यहाँ अनावश्यक जान पड़ता है। वस्तुतः हमारा उद्देश्य यहाँ उपचेतन के सम्बन्ध में विचार करना है। उपचेतन के रूप में स्थित अन्तःपुरुष का सहारा लेकर ही अन्य पुरुष-समूह रूप धारण करते हैं। हमारे ज्ञान, सुख-दुःखादि की अनुभूति अथवा इच्छा या कृति के रूप में शक्ति-व्यापारों का अधिक अंश विभिन्न पुरुषों के स्वतन्त्र व्यापार के द्वारा घटित होता रहता है। फिर भी उपचेतन में ऐसा विभिन्नजातीय ज्ञान अथवा अनुभूतियाँ संचित रहती हैं, जिनका इन पुरुषों द्वारा उपयोग नहीं हो पाता। विभिन्नता में एकता के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे, एक रेखा का दूसरी रेखा के साथ सामंजस्य हो जाता है, दोनों मिल जाती हैं। एक रंग अन्य विचित्र रंगों में कहीं-न-कहीं मिल जाता है। एक अवयव अन्य अवयवों के साथ विभिन्न रूपों में मिलकर नाना तरुगुल्म तथा लता आदि के रूप में आत्मप्रकाश फैलाता है। इसी प्रकार पक्षी की चहक की नाना भाँति की स्वरलहरियाँ विशिष्ट तान के साथ मिल जाती हैं। प्रयोजन-निरपेक्ष स्थिति में हमें निरन्तर इस बात का ज्ञान होता रहता है। उनका जितना अंश हमारे किसी पुरुष के उपयोग में नहीं आता, वह अवशिष्ट अंश उपेक्षित रह जाने पर भी उस निष्प्रयोजन स्वभाववाले उपचेतन

में विद्यमान रह जाता है । जब हमें कोई व्यक्ति क्रोधपूर्वक मारता है तो हम अपनी जैवपुरुषीय वृत्ति के कारण या तो उसपर आक्रमण करते हैं या भाग खड़े होते हैं । उसका क्रोध हममें भी क्रोध उत्पन्न करता है । इस क्रोध के समय हमारे अन्तःकरण में जो अनेक प्रकार के भाव उठा करते हैं अथवा उस हृद्गत विकार के अनुकूल जो समस्त मुख, चक्षु आदि के आंगिक विकार दिखाई देते हैं वह जैववृत्ति के प्रवाह में नाना प्रयोजनों के अन्तर्भुक्त होकर भय, क्रोध आदि व्यापारों से गौण बन जाते हैं और उसी समय लुप्त हो जाते हैं । फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह भाव कभी निष्प्रयोजन रूप में दिखाई ही नहीं देते । वस्तुतः वह हमारे अनजाने ही हमारे उपचेतन में वर्त्तमान रहते हैं । हम किसी स्त्री की कमनीयता के प्रति आकर्षित होते समय उस कमनीयता को निष्प्रयोजन नहीं समझते । इसके विपरीत अपने यौन-व्यापार में उसको किसी न किसी गौण रूप में ग्रहण कर लेते हैं । यौन-व्यापार के साथ असम्बद्ध तथा निष्प्रयोजन होकर भी उस कमनीयता का स्वरूप हमारे उपचेतन को प्रभावित करता ही है । इस प्रकार दिन-प्रतिदिन प्रत्यक्ष होनेवाली नाना अनुभूतियों एवं नाना रूपवान् शब्दादि के उपभोग में जागतिक विषयसमूह की एक निष्प्रयोजन छाप हमारे उपचेतन में सदा अंकित रहती है । यह छाप केवल ज्ञानमूलक ही नहीं है अपितु अनेक कालों में होने वाली अनुभूतियाँ भी इसके साथ एक अनिर्वचनीय तथा अलौकिक रीति से मिली रहती हैं । इस प्रणाली से केवल प्रात्यक्षिक रूप, रस, गन्ध तथा शब्द आदि का ही अनुभव नहीं होता बल्कि अपनी अन्वीक्षावृत्ति के द्वारा हम जिन समस्त विभिन्न-जातीय सम्बन्धों और उनके प्रकाशक विभिन्न प्रकार के शब्द, सुर आदि का अनुभव करते हैं, उनकी अपने-अपने स्वरूप से स्वतन्त्र तथा विभिन्न प्रकार की विशिष्ट समयों की निष्प्रयोजन छाप हमारे उपचेतन में अंकित होती रहती है । इस प्रकार प्रयोजनविश्लिष्ट भाव से प्रत्यक्षमूलक एवं अन्वीक्षामूलक अनेक प्रकार के ज्ञान तथा सुख-दुःखादि की अनुभूति से हमारे उपचेतन का निर्माण होता है । उपचेतन की इस समष्ट्यात्मक स्थिति का कोई स्पष्ट रूप प्रकट न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनके अन्तर्मिलन की कोई प्रणाली वस्तुतः नहीं होती । निश्चय ही इतना तो कहा ही जा सकता है कि एक ओर तो यह प्रणाली अन्वीक्षामूलक स्थिति से भिन्न प्रकार की है दूसरी ओर निरपेक्ष अखण्ड-वस्तु-प्रत्यक्ष से भी भिन्न होती है । उपचेतन में अंकित होने के समय यह अनुभूतियाँ आदि अनेक पुरुषों की विविध प्रकार की स्फुट अनुभूति से निष्प्रयोजन रूप में ग्रहण की जाती हैं । ऐसे अवसर पर जिस प्रकार यह सब

वस्तु के रूप में ग्रहण की जाती हैं उसी प्रकार भाव, भाषा तथा स्वरसंगति के सामंजस्य के रूप में अथवा विचित्र वर्ण-विन्यास के रूप में एकत्र हो जाती हैं। विभिन्न पुरुषों के द्वारा गृहीत नाना उपादान-संभार ही जब प्रयोजन-विशेष से अलग रह जाते हैं और फिर एकत्र उपचित होते हैं तो इन्हीं से उपचेतन की सृष्टि होती है। इस प्रकार समष्टिभूत उपादान के अन्तर्गत सब पुरुषों के अनुभवों का ऐसा सन्निवेश होता है कि उनके किसी एक अंश के स्फुरित होने पर भी उसका पूर्ण व्यक्तित्व के अनुभव के साथ प्रकट होनेवाला सामंजस्य अव्याहत रह जाता है। जब किसी बाह्य रूप आदि की निष्प्रयोजन उत्तेजना के कारण उपचेतन का कोई अंश उत्तेजित हो जाता है तब उस उत्तेजक रूपादि के साथ उस स्वगत विशेष अंश के उपलक्षित सादृश्य या सामजस्य के कारण उपचेतन का वह अंश बाह्य रूपादि विशेष में अपने स्वरूप का परिचय प्राप्त करता है। इसके फलस्वरूप होनेवाले आत्मलाभ से ही आनन्द उद्भासित होता है। यही सौन्दर्यबोध का आनन्द कहलाता है। सौन्दर्यमात्र में उपचेतन की समष्टि के साथ-साथ किसी सृष्टिप्रसूत अथवा स्वाभाविक फलस्थित किसी वस्तु का परिचय प्राप्त होता है। आनन्द उसी परिचयमात्र का फल होता है। यही कारण है कि सौन्दर्य मात्र के साथ आनन्द सम्मिलित रहता है। वस्तुतः सौन्दर्य स्वयं आनन्द नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि 'अनुसन्धानात्मा भावना-विशेष ही सौन्दर्य होता है।' 'अनुसन्धान' शब्द का अर्थ केवल गवेषणा नहीं है, अपितु सुन्दर वस्तु के साथ हमारे सम्बन्ध-स्थापन का नाम है अनुसन्धान। यही वास्तविक परिचय है। सुन्दर वस्तु के साथ दृढ़ आत्मपरिचय ही आनन्द का कारण होता है।

इस समष्ट्यात्मक उपचेतन में अनेक प्रकार की रेखाओं, अवयव तथा वर्ण आदि के संश्लेष-प्रश्लेष अथवा अनेक प्रकार की विचारधाराओं के सुख-दुःखादि भावबोध का सम्मिलित संस्कार या उसकी छाप पाई जाती है। यह एकान्ततः देश, काल आदि से सम्बन्धहीन होता है तथा विशिष्टता भी इसमें स्थान नहीं पाती। अभिप्राय यह कि हमें यह अमुक स्थान पर, अमुक काल में अथवा अमुक रूप में ज्ञात हुआ इस प्रकार की स्मृति वहाँ नहीं बनी रहती। संस्कार के रूप में यह उपचेतन के आत्मस्वरूप और आत्मधारणा की एक ऐसी स्थिति है जहाँ तक स्मृति की पहुँच नहीं हो पाती। स्मृति मात्र विशेष उद्बोधक कारण-व्यापारों से उत्पन्न विशेष से ही जन्म लेती है। अतएव जिस स्थान पर स्मृति रहती है उसी स्थान पर देश, काल आदि का बोध भी हुआ करता है। विशेष उद्बोधक कारणों

से यह स्मृति किसी अन्य विशेष अथवा परम्परा विशेष की चित्तभूमि में उपस्थित हो जाती है। किन्तु उपचेतन विषय-निरपेक्ष केवल संस्कारमय पुरुष होता है। अपने समस्त जीवन में हम जिस समस्त रूप-समवाय अथवा उसकी संबन्ध-परम्परा की जानकारी करते हैं या समस्त संस्थान अथवा संस्थानसमवाय की सम्बन्ध-परम्परा का दर्शन करते हैं. अथवा इसी प्रकार नाना प्रकार के प्रत्यक्ष या विचारगत विषयों के साक्षात् अनुभव से जो कुछ जानते हैं, उसके साथ भावमय सुख-दुःखमय, हर्षोद्वेगमय, शृङ्गार-करुणा-बीभत्स-अद्भुतमय जो समस्त रस संवेग मन को आप्लुत करता है, वह अपने विशेष-विशेष स्थान, काल तथा पात्र और वैसे ही उस विशिष्ट स्थानकालपात्रीभाव का अतिक्रमण करके जब विशेष प्रकार से हमारे अन्तर में एक स्थायी केन्द्र में निर्विशेष रूप से स्थित होता है, तभी वह हमारे उपचेतन में स्वीकार किया जाता है।

उपचेतन में अन्तर्भुक्त यह सामान्यबोध अन्वीक्षावृत्ति के सामान्यबोध से सम्पूर्णतः भिन्न प्रकार का है। 'वीरत्व प्रशंसनीय है' कहने पर हम, 'वीरत्व' शब्द के द्वारा वीर-साधारण के विशेष धर्म को एकत्र संगठित रूप में प्रकट करना चाहते हैं। वीरत्व क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि सभी वीरों में पाये जानेवाले साधारण धर्म का नाम ही वीरत्व है, किन्तु उस धर्म के सम्बन्ध में उस जातिवाचक शब्द के प्रयोग के समय हमें कोई साक्षात् अनुभव नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि किसी ने कभी भी वीरत्व, गोत्व या मनुष्यत्व का साक्षात् अनुभव किया है। इसका कारण केवल यही है कि वीरत्व धर्मवीर में निहित रहता है। वीर के अतिरिक्त वीरत्व की कल्पना करते समय हम अपनी अन्वीक्षावृत्ति की सुविधा के लिए सत्य रूप का नाश करके उसके स्थान पर असत्य रूप की सृष्टि करते हैं। हमारी विकल्पवृत्ति या अन्वीक्षावृत्ति के विकल्प व्यवहार के अतिरिक्त कहीं और वैसा जाति के द्वारा प्रकट होनेवाला स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता। धर्म तथा धर्मी के समवाय-सम्बन्ध की चर्चा करते हुए जब हम इन दोनों का भेद दिखाते हैं, तब केवल वागाडम्बर का ही प्रयोग करते हैं। उसमें सत्य नहीं रहता। अच्छेद्यभाव से सम्बद्ध दो पदार्थों के अयुतसिद्ध सम्बन्ध को ही समवाय सम्बन्ध कहेंगे। प्रश्न यह है कि यदि ये अच्छेद्य हैं तो उनका छेदन किसने किया और छेदन हो जाने पर उनका सम्बन्ध स्थापित करने वाला कौन है? यदि हम अपनी विकल्पवृत्ति की सुगमता के लिए उस प्रकार का विच्छेद कार्य कर भी सकें तो भी उस अच्छेद्य के पृथक्करण के द्वारा हमारे सामने जो पदार्थ उपस्थित होगा उसकी अन्यत्र सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसीलिए

समवाय सम्बन्ध उस सम्बन्ध को घटित करने वाला उनका पूर्ववर्ती वियोग-व्यापार तथा समवाय के द्वारा निष्पन्न जाति पदार्थ की तात्विक सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। विशिष्ट बुद्धिमूलक अनुमान असंगत होता है। जिन पदार्थों की कहीं भी पृथक् सत्ता नहीं दिखाई देती उनको पृथक् रूप में मानकर उनकी विशिष्टता का परिचय देना केवल विकल्पवृत्ति के द्वारा ही संभव हो सकता है। वह विकल्पवृत्ति के व्यापार के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कहीं भी पृथक् सिद्ध न होनेवाले पदार्थों में भला कौन सम्बन्धात्मक विशिष्टता स्थापित करने का प्रयत्न करेगा? वेदान्तियों तथा बौद्धों ने एक दूसरे तर्क का आश्रय लेकर इस जाति और समवाय-सत्ता को अस्वीकार किया है। कोई नैयायिकों की प्रक्रिया के अनुसार जाति या जातित्व को मान सकता है। नैयायिक अनवस्थामय से विचार भंग करके पलायनवादी बन जाते हैं। किन्तु कैय्यट आदि की व्याकरण को आधार मानकर वे भी स्थान-विशेष पर जाति तथा जातित्व को मानने को प्रस्तुत हैं। हमें यहाँ इस सम्बन्ध में विशेष विचार नहीं करना है। हमारा अभिप्राय केवल यह है कि अन्वीक्षा या विकल्पवृत्ति के द्वारा वीरत्व, घटत्व, गोत्व आदि समस्त जातिवाचक शब्दों का कोई साक्षात् तथा अनुभववेद्य अस्तित्व नहीं होता। स्थान, काल तथा पात्र एवं स्थान-काल-पात्रता का अतिक्रमण करके हमारे उपचेतन में स्थित विशेष रूप-संस्थान आदि विशेष स्थान, काल अथवा पात्र को लक्ष्य करके उत्पन्न नहीं होते, इस कारण उन्हें भी सामान्य कहना कठिन है। यह सामान्य अन्वीक्षा-सामान्य से सर्वथा भिन्न जाति का होता है। सौन्दर्यानुभूति वाला सामान्य अन्वीक्षा-व्यापार वाले सामान्य से भिन्न रूप वाला होता है। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष के समय हम जो सामान्यात्मक संस्कार उपलब्ध करते हैं वह केवल विशिष्ट मूर्त्त विषय के रूप-रंगादि से ही संबंध नहीं रखते बल्कि उनके द्वारा भिन्न रूपात्मक उद्बुद्ध भावों से भी उनका सम्बन्ध होता है। इस प्रकार हमारे उपचेतन में हमारा एक समष्टिगत रूप भी बना रहता है जो विशिष्ट मूर्त्त विषयों के योग से तथा भावों के सहारे निर्मित होता है। इसे हम सामान्य, साधारण प्रभाव या संस्कार की संज्ञा देते हैं। इसे सामान्य कहने का कारण यह है कि उस समय वस्तु की विशिष्टता का बोध नहीं होता। इस संस्कार को विशेष इसलिए कहना पड़ता है, क्योंकि उस अवस्था में भी हमारे भावों की विशिष्टता बनी रहती है और अनुभूति-काल की छाप भी हमारे सामने रहा करती है। स्थान, काल तथा पात्र आदि के न रहने के कारण इसे स्मृति भी नहीं कहा जाता। स्थान-काल-पात्र आदि से युक्त रहने पर ही संस्कार से स्मृति का जन्म होता है। वह संस्कार उपचेतन में विद्यमान

रहता है, किन्तु स्थान-काल-पात्र आदि से वियुक्त विशिष्ट संगठित संस्कार ही उपचेतन में अन्तर्भुक्त होकर सौन्दर्योपधायक होते हैं। इस सौन्दर्योपधायक सामान्य को न तो सामान्य कहना ही उचित है न विशेष कहना ही। इसीलिए इसे सामान्यविशेषात्मक कहा गया है। अंग्रेजी में इसी से मिलता-जुलता शब्द (क्रांक्रीट यूनीवर्सल) प्रचलित है। यद्यपि इसके अन्य अनेक अर्थ हैं, तथापि इसी शब्द के सहारे ही उक्त अर्थ का भी यत्किंचित् भाव स्पष्ट किया जा सकता है।

किसी वस्तु को देखते समय पहले कभी उसके समान ही देखी अथवा अनुभव की गई वस्तु का अथवा स्वयं उसी वस्तु का देश-काल-पात्र युक्त संस्कार उत्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत देश-काल-पात्र-वर्जित रूप में उपचेतन में सौन्दर्योपधायक संस्कार के उद्‌बुद्ध होनेपर हमें उसका जो परिचय मिलता है, वही उसके सौन्दर्य का अवच्छेदक-धर्म माना जाता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि व्यक्तित्व में सामान्यविशेषात्मक संस्कार निरन्तर बना रहता है। बाहरी अथवा आन्तरिक किसी भी कारण से जब वह संस्कार देश-काल-पात्र-वर्जित रूप में उत्पन्न होता है और उसके फलस्वरूप जब इस संस्कारभूमि में उद्‌बुद्ध संस्कार और उसके अनुरूप उद्‌बोधक सामग्री के ऐक्य अथवा सादृश्यानुभव से परिचय प्राप्त होता है, तब उस परिचय को सौन्दर्य कहा जाता है। चित्त की चेतनावस्था में होनेवाले स्मृतिमूलक परिचय तथा अन्वीक्षामूलक परिचय इन दोनों में भेद है। अन्वीक्षामूलक परिचय के अन्तर्गत किसी पदार्थ के सम्बन्ध में 'यह ऐसा है' 'इसका यह रूप है', 'इसको पहले देखा था', 'इस वस्तु को नहीं देखा था, अथवा 'इसे इस प्रकार देखा था' इत्यादि अनेक प्रकार का प्रकार-प्रकारी-सम्बन्धानुगत विशिष्ट बोधात्मक प्रत्यय उत्पन्न होता है। स्मृतिमूलक परिचय में यह विशिष्ट प्रत्यय नहीं होता। इसमें संस्कारभूमि में अन्वीक्षावृत्ति का किसी प्रकार का स्फुट बोध नहीं होता। यहाँ जागर-वृत्ति के समान किसी प्रकार का स्फुट प्रत्यय या स्फुट परिचय उत्पन्न नहीं होता। अतएव यहाँ उत्पन्न होनेवाला प्रत्यय लॉजिकल न होकर प्रत्ययाभास मात्र होता है। वह स्फुट परिचय न होकर परिचयाभास मात्र रह जाता है। इस परिचयाभास में 'इदमित्थं' अथवा 'यह इसी रूप का है' इस प्रकार की धारणा संभव नहीं है, अतएव उसे स्फुट परिचय नहीं कहा जा सकता। किन्तु सौन्दर्यबोध के साथ ही यह बोध भी उत्पन्न होता है कि 'अमुक सुन्दर वस्तु मेरे मन के किसी निभृत स्थान को किसी विलक्षण उपाय से आन्दोलित कर देती है'। सौन्दर्यसृष्टि के समय कवि या शिल्पी अपनी अन्तस्थ अस्फुट मूर्ति का

इस प्रकार अनुभव करता है, जैसे धूम से आच्छादित अग्नि का ईषत् अनुभव किया जाता है। यही कारण है कि सौन्दर्यसृष्टि के समय उस बोध को और भी अधिक अनुभव किया जाता है। वह अनुभव एक प्रकार के अंग-प्रत्यंगविहीन पिंडीभूत अनुभव के समान है, किन्तु स्वगत व्यापार की प्रबलता से वह उस मायामूर्ति को उपयोगी भाषा, छन्द और शब्दविन्यास के रूप में जागरवृत्ति में उपस्थित करता है। इस मूर्ति के अंकित होते ही कवि आत्मालोचन करते हुए पुकार उठता है कि मैं जिस देवी को खोज रहा था और जो हमारे अन्तर्लोक में किंचिन्मात्र ही उद्भासित होती थी, वही बाह्य संसार में आकार धारण करके उपस्थित हो गई है। उस समय कवि बाहर के रूप को आन्तरिक रूप के स्वरूप में समझ सकता है तथा आन्तर रूप को ही बाह्य रूप में प्रत्यक्ष मानकर सौन्दर्य-सृष्टि के आनन्द से आनन्दित हो उठता है।

अन्वीक्षावृत्ति (लॉजिकल फैकल्टी) के व्यापार के फलस्वरूप एक प्रकार का परिचय घटित होता है, वस्तु के सम्बन्ध में एक प्रकार की नवीन जातीय दृष्टि का उन्मेष होता है, जिसके द्वारा सायंस या विज्ञान प्रतिष्ठित होता है। विज्ञान या दर्शनशास्त्र मात्र में हमारी इसी अन्वीक्षालब्ध दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। चर्मचक्षु से केवल रूप देखा जाता है, किन्तु अन्वीक्षादृष्टि से नाना सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। इन दोनों प्रकार की दृष्टियों से भिन्न एक तीसरे प्रकार के दृष्टि-अन्तर्विलास के द्वारा ही हम सौन्दर्य का निरीक्षण करते हैं। इस दृष्टि का आरंभ उपचेतन में स्थित देश-काल-पात्र-वर्जित पूर्वोक्त संस्कारों के उद्बोधन से होता है। यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा हम एक वस्तु को प्रयोजनविहीन भाव से उसके अखण्ड संस्थान, रेखा या वर्ण-विन्यास की समग्रता में ग्रहण करके उसके साथ अपने अन्तर में उद्बुद्ध संस्कारों की एकता का एक मूढ़ या अचेतन परिचय प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि में कोई विशेष सम्बन्ध या प्रकार-प्रकारीगत विशिष्टता स्पष्टतया प्रतीत नहीं होती। किसी वस्तु को सुन्दर कहने का कोई विशेष कारण निश्चित नहीं किया जा सकता। बहुत बार हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में कहा करते हैं कि 'अमुक वस्तु कैसी सुन्दर है'। इस प्रकार का सौन्दर्यबोध एक अखण्ड स्वानुभव मात्र ही कहला सकता है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस स्वानुभव के अन्तर्गत कोई और सम्बन्ध-परम्परा होती है अथवा नहीं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सौन्दर्यबोध के समय मानो आलोक की एक झलक के सदृश एक अखण्ड बोध होता है जो हर्ष की धारा से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता चलता है। उस समय इसके अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान नहीं

रहता। इस सौन्दर्यदृष्टि को विभिन्न अर्थों में ग्रहण करके अनेक योरोपीय विद्वानों ने इसे इंट्यूइशन (Intuition) की संज्ञा दी है। साधारणतः इंट्यूइशन का अभिप्राय यह समझा जाता है कि वह एक निर्विकल्प, दृष्टिप्रसूत अखण्ड उद्भास है। हैंसलारसन ने कहा है कि अनेक बार देखा गया है कि जब हमारा ज्ञान तर्कभूमि से ऊपर उठकर वस्तु के स्वरूप को सम्यक्तम दृष्टि से ग्रहण करता है, उस समय एक मुहूर्त्त में ही सब कुछ मानो इस प्रकार प्रकाशित हो जाता है, जैसे हमारे अन्तर में एक तीसरा ही नेत्र खुल गया हो।[1]

निर्विकल्प तथा आकृतिप्रकृतिविहीन भाव से प्रकट होने वाले परिचय के स्वरूपसौन्दर्य के अखण्ड उद्भास को लौकिक अन्वीक्षा के अन्तर्गत किसी प्रकार भी नहीं रखा जा सकता। संभवतः इसीलिए यह अपने-आप में पूर्ण और स्वतन्त्र बताया गया है। यह लौकिक वस्तु को लक्ष्य में रखकर उद्भासित होता है, परन्तु इसे किसी भी लौकिक पर्याय शब्द आदि के द्वारा समझाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि बहुत-से विचारकों ने इसे अलौकिक कहा है। इसके अतिरिक्त, इसे ऐसा कहने का कोई अन्य तर्क नहीं दिया गया। प्रायः समस्त भारतीय तथा अधिकांश योरोपीय आलोचना में सौन्दर्य तथा रस के सम्बन्ध में विचार करते हुए लौकिक के साथ अलौकिक के सम्बन्ध तथा लौकिक पर अलौकिक के प्रभाव के सम्बन्ध में बहुत ही कम विचार किया गया है। भरत-मुनि ने अवश्य ही रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के द्वारा विभावादि की लौकिकता को स्वीकार करते हुए भी उनसे होने वाली रसनिष्पत्ति को अलौकिक बताया है। इतना होने पर भी उनके बाद से आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त जैसे विद्वानों तक ने भी रसनिष्पत्ति के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण नहीं किया है। कवि के अन्तर में होनेवाले रसोद्भास की वह सामग्री जिससे वह उसके प्रकाशित करने के लिए उपयोगी विभाव आदि की रचना कर सकता है, एकमात्र प्रतिभा बताई गई है। बहुत-से विचारकों ने इसे रस को व्यक्त करने में उपयोगी शब्दादि की मानस-स्मृति कहा है। फिर भी लौकिक पर आधारित रहनेवाले अलौकिक के पुनः लौकिक रूप में उपस्थित होने का क्या

1. C'est une observation utilise'e par beancoup de philosophes que notre connaisance, apre's s'etre e'leve'e du premier stade des observations plus on moins confuses a' celni de la pense'e rigourensement rationnelle, logique dt abstraite, parait changer a' nouveau de caract'ere et, juste a' sow point ne perfection, an moment on'elle s'avance le plus profonde'ment et serve du plus pre's l'essenee menae de son objet, redevient concre'te et s'ope're par une vue imme'diate comme si nous e'tions dove's d'un oeil inte'rient''

साधन है, इस सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया गया। इस प्रकार रसबोध या सौन्दर्यबोध एक रहस्य बना रह जाता है। वस्तुतः हमने सौन्दर्यबोध की जो व्याख्या दी है उससे लौकिक-अलौकिक का यह सम्बन्ध स्पष्ट हो सकता है। अत्यन्त विस्तृत होने से यह प्रसंग दूसरे किसी प्रबन्ध में समझाया जायगा।

सौन्दर्यबोध में उपचेतन का आत्मपरिचय अनेक प्रकार की सामग्रियों से उत्पन्न होता है। योरोप के अनेक मनीषियों ने इस सामग्री के किसी एक अंश को ही सौन्दर्य की सृष्टि में समर्थ मानकर उसका विस्तृत वर्णन कर दिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक युक्तियाँ अपनाई हैं। हमें अपने मत को स्पष्टतया प्रस्तुत करने के लिए अन्य विद्वानों के मतों को उद्धृत करते हुए यह दिखाना पड़ेगा कि उनका मत कहाँ तक भ्रान्त या सत्य है। इस प्रश्न को हम पृथक् प्रबन्ध में ही दे सकेंगे। इस प्रबन्ध में हम केवल आन्वीक्षिक उपाय से सौन्दर्य के स्वरूप का परिचय देना चाहते हैं। हमारा मत है कि उपचेतन का किसी भी प्रकार का विशिष्टजातीय आत्मपरिचय या आत्मलाभ ही सौन्दर्य होता है। ऐसा मानने के कारण ही हमें आन्वीक्षिक उपाय का सहारा लेना पड़ता है। यों तो उपचेतन का आत्मपरिचय ही उसके पर्याय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिससे उसका स्वरूप प्रकट हो जाता है। यद्यपि आन्वीक्षिकी भाषा में उसका अनुवाद करके भली प्रकार समझाना संभव नहीं है, तथापि उस स्वसंवेद्य स्वलक्षण व्यापार को समझाने के समय अन्वीक्षिकी भाषा का सहारा लिये बिना भी काम नहीं चल सकता।

दूसरा अध्याय

"One impulse from the vernal wood, or one line of minor poetry will show us more of beauty than all the sages can, for
"All their worst miscarriages delight
And please more than the best that pedants write."

बटलर (Butler) द्वारा 'अॉन क्रिटिक्स' कविता में प्रकट की गई इस धारणा के समान ही अनेक लोगों की धारणा है कि सौन्दर्य अथवा काव्य ऐसी अखण्ड वस्तुएँ हैं जिनके सम्बन्ध में किसी दार्शनिक युक्तिमूलक विचार को प्रकट करना अथवा काव्य-समालोचना के रूप में कोई मत प्रकाशित करना, उनके महत्व को खण्डित करना है। ऐसे लोग अपने को रसज्ञ घोषित करते हैं और काव्य की समग्रता से ही सौन्दर्योपभोग का दम भरते हुए उसके सम्बन्ध में समालोचनात्मक विचारों के प्रकाशन को निष्प्रयोजन तथा निरर्थक मानते हैं। ऐसे लोगों की धारणा है कि चीनी खाने में आनन्द तो आता है, किन्तु उस आनन्द की जानकारी के लिए उसके उपादानों की गणना करना व्यर्थ है। दूसरी ओर इस विचार के प्रतिवाद में कहा जाता है कि केवल काव्य-पाठ अथवा प्रकृति या शिल्पचित्र आदि को देखने मात्र से वह लाभ नहीं होता जो समालोचना तथा यौक्तिक विचार के द्वारा प्रकृति या शिल्प के सौन्दर्य की जानकारी होने पर होता है। केवल देखने से कृति का वास्तविक महत्व प्रकट नहीं हो पाता। उदाहरणतः Florence या Louvre की चित्रशाला में यों तो असंख्य यात्री प्रतिदिन दूर-दूर से आकर राफेल तथा वर्टिचिल के चित्रों को देखते हैं और प्रायः उनमें से कई कुछ दिनों के लिए ठहर भी जाते हैं या कुछ लोग केवल क्षणभर के लिए देखकर चले जाते हैं, किन्तु इतने से ही उन चित्रों के सम्बन्ध में उनकी अज्ञता दूर नहीं हो जाती। इससे उनकी अज्ञानता में कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार काव्य-समालोचना सम्बन्धी दार्शनिक विचारों में अतिदक्ष हो जाने से ही सौन्दर्य-सृष्टि की क्षमता उत्पन्न नहीं हो जाती। वास्तविक बात यह है कि स्वाभाविक रूप से सौन्दर्योपलब्धि की शक्ति हुए बिना इन उपायों से काम नहीं चल सकता। चाहे सौन्दर्य की सृष्टि करनी हो और चाहे उसका उपभोग, हर दशा में व्यक्ति-

विशेष में स्वाभाविक क्षमता का होना आवश्यक है। यह ऐसा ही है जैसे केवल नीतिशास्त्र का प्रभूत अध्ययन करनेवाला व्यक्ति केवल अध्ययन के बल पर नीति-प्रयोग-कुशल अथवा साधु-स्वभाव नहीं हो सकता, यदि उसमें यह नैसर्गिक देन न हो। इसीलिए सौन्दर्य के सम्बन्ध में विद्वानों ने वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया है। वस्तुतः सौन्दर्य की वैज्ञिक व्याख्या करने के लिए वीक्षावादी और सौन्दर्यवादी का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि समाज में विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा समादृत अनेक वस्तुओं में परस्पर तुलना करके अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा उनकी कारण-सामग्री का ध्यान रखते हुए किसी यथायथ सिद्धान्त पर पहुँचे। वह अपने किसी सिद्धान्त-विशेष के पीछे सर्वजनानुभूत सिद्धान्त का अपलाप नहीं कर सकता। ऐसा देखा जाता है कि जिस प्रकार मनुष्य को सौन्दर्य की सृष्टि करने अथवा उसे देखने से आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार सौन्दर्य-बोध की प्रकृति, स्वभाव तथा कारण के सम्बन्ध में विचार करने पर भी तृप्ति का अनुभव होता है। हमें न तो केवल सौन्दर्य ही तृप्त कर सकता है और न केवल उसके सम्बन्ध में किया जानेवाला विचार ही। इसके साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि वीक्षाशास्त्र का गंभीर ज्ञान होने पर ही कोई व्यक्ति काव्य-समालोचना अथवा चित्र-समालोचना के काम में कुशल हो सकता है। समालोचना से समालोच्य वस्तु के विशेष धर्मों का परिचय प्राप्त होना आवश्यक है। सिद्धान्तों की यथार्थता के साथ ही वैज्ञिक-सिद्धान्तों का निपुणता के साथ प्रयोग करने पर ही वास्तविक समालोचना करना संभव है। जैसे, यद्यपि यह आन्वीक्षिकी सम्मत सिद्धांत है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है अतएव जहाँ धूम होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी, तथापि यह कहना कठिन है कि इस सिद्धांत को जानने पर ही नैयायिक यह बता सकेंगे कि सामने पर्वत पर अग्नि पाई जायगी अथवा नहीं। यह भी हो सकता है कि जिसे नैयायिक मन में धुआँ समझते हों वह धुँधलका मात्र हो अथवा बुझे हुए कंडे का धुआँ ही नम हवा के कारण वृक्षों की डालों में उलझता-सा दिखाई दे रहा हो। ऐसी दशा में नैयायिक का अनुमान मिथ्या हो जायगा। तात्पर्य यह है कि यह नहीं कहा जा सकता कि अनुमानशास्त्र का ज्ञान होने पर ही यथार्थ अनुमान संभव होता है। हेतु के साथ पक्ष-सम्बन्ध को मिथ्या भाव से ग्रहण करने पर तो अत्यन्त मेधावी नैयायिक का अनुमान भी भ्रांत सिद्ध होगा। इसी प्रकार वीक्षाशास्त्र में सुपण्डित होने पर भी समालोच्य वस्तु की उपादान-सामग्री के सम्बन्ध में या उस सामग्री के नियोजन के सम्बन्ध में यदि कोई भ्रान्त धारणा होगी तो उस पर आधारित

समालोचना कदापि यथार्थ समालोचना का रूप न ले सकेगी। वीक्षाशास्त्र एक मनन-शास्त्र (थियोरिटिकल साइंस) है, जिसमें अन्वीक्षा-उपाय का भी योग रहता है। इसके विपरीत समालोचना-शास्त्र एक कार्य-निष्पादक शास्त्र (प्रैक्टिकल साइंस) है। मनन-शास्त्र के द्वारा तदुपयोगी कार्य-निष्पादक-शास्त्र की सहायता होती है अवश्य, किन्तु उसी उद्देश्य से मनन-शास्त्र का उपयोग करने पर और भी बहुत-सी बातों की आवश्यकता हुआ करती है। उनके सम्बन्ध में जानकारी न होने पर अथवा मननशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग करने में कुशलता न होने पर कार्य-निष्पादक व्यापार में भी दक्षता नहीं आ सकती। यथार्थ उच्चकोटि के समालोचकों को वैक्षिक-शास्त्र की समस्त प्रणाली का ज्ञान होता है और वे समालोच्य वस्तु के उपादानों की विशेषता का उचित विश्लेषण कर सकते हैं। इसके साथ ही वे लोग समालोच्य उपादानों पर वैक्षिक-शास्त्र के सिद्धान्तों का इस कुशलता के साथ प्रयोग कर सकते हैं कि उनकी समालोचना से भी एक नूतन सौन्दर्य फूट उठता है। डा० जॉनसन ने लिखा है कि समालोचक मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो वैक्षिक-शास्त्र के नियमों को न जानते हुए भी स्वाभाविक रूप में होनेवाले अनुभव के आधार पर ही आलोचना करते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो नियमों का ही पल्ला पकड़कर चला करते हैं और कुछ समालोचना तथा वीक्षाशास्त्र के नियमों को जानते हुए भी उन्हीं के पीछे नहीं पड़े रहते बल्कि समालोचना में अपनी अनुभूति का ऐसा सुखद पुट दे देते हैं कि स्वयं समालोचना एक दिव्यसृष्टि जान पड़ने लगती है।[1] इन तीनों में अन्तिम समालोचक ही सर्वश्रेष्ठ होता है। दूसरी श्रेणी का समालोचक निकृष्टतम होता है, क्योंकि विधिबद्ध नियमों के द्वारा कोई भी प्रयोगिक-व्यापार सुसम्पन्न नहीं हो सकता। यह सही है कि शिल्पशास्त्र के साधारण नियमों की जानकारी के आधार पर किसी भी व्यक्ति की छवि अंकित की जा सकती है, किन्तु यह भी सही है कि कुशल चितेरे के अभाव में न तो उस चित्र से चित्रित का चरित्र ही उद्घाटित हो सकेगा न उसमें सजीवता ही

1. "There are three distinct kinds of judges upon all new authors or productions : the first are those who know no rules, but pronounce entirely from their natural taste and feelings ; the second are those who know and judge by rules ; and the third are those who know but are above the rules. These last are those you wish to satisfy. Next to them rate the natural judges ; but ever despise those opinions that are formed by rules."

——Dr. Johnson, Diary of Madame d'Arblay.

आ सकेगी। अतएव प्रायोगिक व्यापार में दक्षता ही महत्त्वपूर्ण है। शिल्पी नियमों से मुक्त होकर ही रचना कर सकता है या करता है, क्योंकि नियमों का पालन करके चित्र अंकित भले ही किया जा सकता हो उसमें भाव-सन्निवेश नहीं किया जा सकता।

बहुत-से लोगों का विचार है कि सौन्दर्यबोध या सौन्दर्यसृष्टि एक स्वतन्त्र वृत्ति आन्वीक्षिकी उपाय से उसकी आलोचना नहीं की जा सकती। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि सौन्दर्यानुभव के विशिष्ट स्वरूप अथवा उसके द्वारा प्राप्त हर्ष को भाषा या आन्वीक्षिकी प्रणाली के माध्यम से प्रकट नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य की उत्पत्ति किसी कारण या उपादान-समूह के आधार पर ही होती है। यद्यपि उपादान-संभार का सौन्दर्यबोध से पृथक् अस्तित्व बना रहता है, तथापि उन्हीं के माध्यम से ही सौन्दर्यबोध के स्वरूप को समझा या समझाया जा सकता है अन्यथा नहीं। सौन्दर्यबोध एक अलग स्वतन्त्र वृत्ति होते हुए भी उपादान-संभार की ओर संकेत करके ही समझी जा सकती है, उसके समझने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। उदाहरणस्वरूप, कली ही खिलकर पुष्प का रूप धारण करती है, अतः पुष्प की सत्ता को समझने के लिए उस कली को भी समझना पड़ेगा, यहाँ तक कि उसके साथ पेड़ या पौदे, पत्ते, वृन्त, पुष्पदल आदि के संस्थान के अतिरिक्त उसके वर्ण का भी परिचय देना पड़ेगा तभी उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट होगा। उससे स्वतन्त्र रूप में पुष्प की अभिव्यक्ति को नहीं समझाया जा सकता। इसी प्रकार विचार भी एक प्रकार की अभिव्यक्ति ही हैं, अतः उनके विशिष्ट स्वरूप को उपादान से पृथक् रूप में नहीं समझाया जा सकता। सौन्दर्यवृत्ति के द्वारा हमें एक विशेष प्रकार का आत्मपरिचय या आत्मलाभ होता है। हम आन्वीक्षिकी भाषा के माध्यम से उस विशिष्ट-जातीय आत्मलाभ का परिचय दे सकते हैं तथा आन्वीक्षिकी उपाय से ही उसे स्वतन्त्र रूप से समझा या समझाया भी जा सकता है। यों तो सौन्दर्यवृत्ति-व्यापार को आन्वीक्षिक वृत्ति के द्वारा इस सीमा तक नहीं समझा जा सकता कि उसका स्वरूप ही स्पष्ट हो उठे, फिर भी उसका एक अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। भरत ने जो रस-सूत्र में 'रस-निष्पत्ति' शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ है रस-चर्वणा या उसकी अभिव्यक्ति। विभाव, अनुभाव या व्यभिचारीभावों में से अलग-अलग तो कोई भी रस नहीं है, किन्तु इस संपूर्ण सामग्री से रस अभिव्यक्त अवश्य होता है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए ही उनकी उचित योजना की जाती है। अभिप्राय यह है कि माध्यम रस-

प्रकाशक भले ही न हों किन्तु वे उसके आविर्भावक अवश्य होते हैं। इस प्रकार किसी वस्तु की अभिव्यक्ति उसकी आधार-भूत सामग्री से ही संभव है। ऐसी दशा में उस सामग्री का स्वरूप निश्चित कर देने से ही उस वस्तु के सम्बन्ध में आन्वीक्षिक पत्यय उत्पन्न हो जाता है।

सौन्दर्यबोध के समय होनेवाली शारीर विक्रिया अथवा विभिन्न-जातीय नाड़ी-उत्तेजना की सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ता है। यह क्रिया जिस प्रकार हममें उत्पन्न होती है, उसी प्रकार मनुष्येतर प्राणियों में भी होती है। उदाहरणतः, जब हम किसी संध्याकालीन दृश्य को देखते हैं और आकाश में फैले अनेक रंगों की छटा का दर्शन करते हैं तब हमारे अक्षिपटल पर उन दृश्यों का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि विभिन्न प्रकार की नाड़ी-क्रियाएँ होने लगती हैं। ठीक हमारी ही तरह या उससे कुछ कम या अधिक यह क्रियाएँ उन दृश्यों से पशुजाति के अक्षिपटल पर भी हुआ करती हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी हममें और पशु में यह अन्तर अवश्य है कि राफेल के चित्र से जिस प्रकार हम सौन्दर्य का उपभोग करते हैं, वैसे वह नहीं कर पाता। इससे सिद्ध होता है कि जहाँ सौन्दर्यबोध के साथ कोई-न-कोई नाड़ी-प्रक्रिया सम्बद्ध रहती है वहाँ मनः-प्रक्रिया भी आवश्यक रूप से वर्तमान रहती है, बल्कि इस मनःप्रक्रिया के अभाव में केवल नाड़ी-प्रक्रिया से ही सौन्दर्योपभोग सम्भव नहीं होता। जैसे, तोता सिखाने और रटाने पर तो बोल सकता है, किन्तु उसमें वह निसर्गसिद्ध बोलने की शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार बुलबुल गा तो सकती है, किन्तु यह सर्वथा असंभव है कि वह तानसेन का गान समझ भी सकती हो। अभिप्राय यह है कि देह-प्रक्रिया अथवा नाड़ी-प्रक्रिया चाहे इस कार्य के लिए नितान्त अपेक्षित ही क्यों न हो, तथापि उससे प्रत्यक्षतः सौन्दर्यबोध उत्पन्न नहीं होता। विशिष्ट-जातीय मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप ही सौन्दर्यबोध उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार वस्तुतः विशिष्ट मनोवृत्ति-व्यापार ही सौन्दर्यबोध का अनन्यथासिद्ध हेतु होता है।

योरोपीय विद्वानों के बीच प्रकृति की सुन्दरता के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। उसे सुन्दर कहें कि न कहें, इस सम्बन्ध में वे एकमत नहीं हैं। यों मनुष्य के कला-कौशल के समान ही प्रकृति में भी सौन्दर्य पाया जाता है और दोनों ही कुछ बातों में तुल्यजातीय ज्ञात होती हैं। मनुष्य-व्यापार के लिए दी गयी उपमाओं से यह बात पूर्णतया सिद्ध होती है। जैसे, जब लता के हिलने-डोलने के साथ कामिनी की अंगभंगी की तुलना की जाती है या शफरी के उद्वर्तन के साथ उसके कुटिल कटाक्ष की तुलना की जाती है, तब प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ मनुष्यकृत

व्यापार के सौन्दर्य का सामंजस्य प्रकट हो जाता है। शेक्सपीयर ने 'विंटर्स टेल' में कहा भी है :—

"When you do dance, I wish you
A wave o'the sea, that you might ever do
Nothing but that."

किन्तु अरस्तू से प्रभावित मध्ययुग में इसे स्वीकार नहीं किया गया। उन लोगों ने एक प्रकार से प्राकृतिक सौन्दर्य को तुच्छ ही ठहराया है।

एडीसन, बर्क, कान्ट तथा लांजाइनस आदि ने जिस प्रकार एक ओर प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति आकर्षण प्रकट किया, उसी प्रकार दूसरी ओर १६वीं शती में हीगेल तथा वर्तमान शती में क्रोचे ने प्राकृतिक सौन्दर्य को उतना ही तुच्छ माना। उनका विश्वास है कि मनुष्यकृत काव्य अथवा शिल्प में ही सौंदर्य की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। १७वीं शती के बार्नेट प्रभृति एकाध विचारक के अतिरिक्त प्रायः सभी विचारकों ने पर्वत आदि की सुन्दरता को अस्वीकार किया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में स्वाभाविक सुन्दरता स्वीकार की गई थी और उसका वर्णन भी हुआ था। किष्किंधा कान्ड के प्रथम सर्ग में वाल्मीकि ने रामचन्द्र के मुख से पम्पा सरोवर की सुन्दरता का प्रचुर वर्णन कराया है : —

शोकार्त्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा॥
अधिकं प्रविभात्येतन् नीलपीतन्तु शाद्वलम्।
द्रुमाणां विविधैः पुष्पैः परिस्तोमैरिवार्पितम्॥ इत्यादि।

उनके परवर्ती काल में भी अनेक कवियों ने स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अनेक कविताओं की रचना की है।

हम पहले बता आये हैं कि हमारे उपचेतन में कुछ संस्कार विद्यमान रहते हैं जो उत्तेजक वस्तु को देखकर देश, काल तथा पात्र आदि से सम्बद्ध होकर उद्बुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उस उत्तेजक सामग्री के कारण होनेवाले उपचेतन के आत्मलाभ का नाम ही सौन्दर्य है। इस परिचय मात्र में उद्दीपक सामग्री तथा उद्दीप्त संस्कार दोनों की सत्ता रहती है। इसी कारण जहाँ एक ओर हम सौन्दर्यबोध सम्बन्धी विशिष्टजातीय अनिवर्चनीय आन्तरबोध हर्ष को ग्रहण करते हैं वहाँ साथ ही वस्तु को भी सुन्दर कहते हैं। अर्थात् सौन्दर्य से एक ओर संस्कारों का उद्बोध-ज्ञान होता है और दूसरी ओर उद्बोधक सामग्री की प्रतीति भी रहती है। अतएव जिस प्रकार

१—विंटर्स टेल, ४।३

साधारण ज्ञान के समय हमें ज्ञान के साथ ही उसकी उद्बोधक सामग्री की भी जानकारी रहती है, वैसे ही सौन्दर्यबोध के समय भी हम जानते हैं कि हमने सुन्दर वस्तु को जान लिया है। वासना या संस्कार के उद्बोध द्वारा आत्मपरिचय उपचेतन का आन्तरधर्म है, तथापि वह धर्म किसी आन्तरिक या बाह्य वस्तु का सहारा लिये बिना अभिव्यक्त नहीं होता। इसी कारण वह आन्तरधर्म के प्रतियोगी के रूप में उसके साथ-साथ ही प्रतीत होता है। जिस प्रकार साधारण ज्ञान में ज्ञान और ज्ञेय दोनों सम्मिलित रूप में उद्भासित होते हैं, उसी प्रकार सौन्दर्यबोध में सौन्दर्य और उसके विषय दोनों ही एक साथ प्रतीत होते हैं। जिसे लक्षित करके हमें सौन्दर्य का बोध होता है, उस वस्तु-विशेष को हम सुन्दर कहते हैं। वह चाहे फिर प्राकृतिक वर्ण-संस्थान या शब्द आदि ही हों या हमारे अन्तर के विभिन्न भावसमूह हों, चाहे वे यथास्थित स्नायविक वस्तु हों या कवि या शिल्पी की सृष्ट वस्तु हों, सभी उपचेतन संस्कारों के उद्बोधक होने पर सुन्दर प्रतीत हो सकते हैं। इसका कारण केवल यह है कि दोनों स्थलों पर एक ही प्रकार की अन्तःप्रक्रिया काम करती है। जिन कारणों से किसी कवि या शिल्पी की कल्पना से प्रसूत काव्य या चित्र को हमारा चित्त सुन्दर समझकर ग्रहण करता है, उन्हीं कारणों से अन्य समस्त जागतिक वस्तुएँ भी हमें सुन्दर प्रतीत होती हैं। कैरिट ने एक स्थान पर कहा है कि कलागत तथा स्वाभाविक सौन्दर्य दोनों पूर्णतः समानजातीय हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है। वह न केवल अपने भावों को भाषा के माध्यम से दूसरे तक पहुँचाता ही है अपितु वह प्रकृति तथा कलाकृति दोनों को सौन्दर्य की दृष्टि से देखता और समझता भी है।[१] थोरो ने भी इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है।[२]

---

1. "Artistic and natural beauty are thoroughly homogeneous. Every man is an artist not only in that he conveys his impressions to others by language, but because he perceives the beauty of the world and of art, each of which he must create or recreate for himself, since neither speaks to the animal."

—— Carritt.

2. "And so it is with him that shoots at beauty; though he wait till the sky falls, he will not bag any if he does not already know its seasons and its haunts and the colour of its wings, if he has not dreamed of it so that he can anticipate it; then indeed he flashes it at every step, shoots double on the wing with both barrels even in cornfields.........The true sportsman can shoot you almost any of his game from his window; what else has he eyes and windows for?"

——Thoreau : Autumnal Tints.

सारांश यह है कि सौन्दर्य की सृष्टि और उसका उपभोग करने वाले दोनों व्यक्तियों के उपचेतन के संस्कारों के उद्बोधन में पूर्ण साम्य होता है। उनके बीच थोड़ी परिमाणगत पृथकता अवश्य है। जबतक संस्कार गंभीर रूप से उद्बुद्ध नहीं होते तबतक इस प्रकार की आन्तर उत्तेजना की सृष्टि नहीं होती कि सृष्टिकर्त्ता के कार्य को गति दे सके। तो भी अपेक्षाकृत थोड़ा-बहुत संस्कारोद्बोध हो जाने पर भी सौन्दर्यानुभूति का आनन्द उत्पन्न हो सकता है। सौन्दर्यसृष्टि-व्यापार से सम्बन्धित, भाषा आदि के माध्यम से व्यक्त होनेवाली हमारी अन्तरानुभूति का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। बहुत-से विचारक इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि सौन्दर्यबोध और सौन्दर्यसृष्टि दोनों में एक ही प्रकार की रचना (क्रिएशन) होती है। दोनों दशाओं में एक ही परिचय-व्यापार रहता है। यदि इस परिचय-व्यापार को ही रचना मान लें तो कवि तथा विदग्ध में केवल परिमाणगत अन्तर ही रह जाता है। संभवतः इसी दृष्टिकोण से वर्ड्सवर्थ ने कहा है कि जिस गुण-संभार के कारण एक व्यक्ति कवि बन जाता है, उसी की न्यूनता के कारण दूसरा व्यक्ति विदग्ध कहलाने लगता है। हमारे यहाँ के आलंकारिकों ने भी कवित्व तथा कवित्वशक्ति दोनों में भेद स्वीकार करते हुए कहा है :—कवित्वं दुर्लभं लोके कवित्वशक्तिस्तु सुदुर्लभा।" संभवतः 'कवित्व' शब्द से उन्होंने काव्य की रसानुभवशक्ति का अर्थ ग्रहण किया है। इसीलिए उन्होंने कवित्वशक्ति को प्रतिभा नाम दिया है। कुन्तक का विचार है कि जब कवि किसी साधारण वस्तु को अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा के द्वारा विचित्र भंगिमा के साथ चारुतर रूप में शब्दों में व्यक्त करता हुआ श्रोता में आह्लाद उत्पन्न करता है, तब हम उस सृष्टि को काव्यसृष्टि कहते हैं। "कवि चेतसि प्रथमं च प्रतिभा प्रतिभासमानम् अघटितपाषाणसकलकल्पमनिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकवि विरचित वक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढ़मणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति।" इस प्रकार कुन्तक कवि-प्रतिभा के अतिरिक्त एक स्वतन्त्र कवि-व्यापार (क्रियेटिव मूवमेंट) की कल्पना करते हुए उससे काव्यसृष्टि संभावित मानते हैं। यह नहीं जान पड़ता कि कुन्तक विदग्ध व्यक्तियों के मन में होनेवाले आनन्द में भी किसी प्रकार के व्यापार को मानते हैं कि नहीं।

काव्य का सौन्दर्य केवल सहृदय-हृदय-संवेद्य होता है। इस वेदना के अतिरिक्त उसमें अन्य किसी व्यापार की अवस्थिति नहीं होती। इस सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ तथा कार्लाइल में परस्पर मतभेद है। वर्ड्सवर्थ का मत है कि कवि तथा विदग्ध दोनों एकजातीय होते हैं। पार्थक्य केवल इतना है कि कवि अपने अनुभवों को प्रकाशित

भी कर सकता है, विदग्ध वैसा नहीं कर पाता। कवि जहाँ जैसा रूप चाहता है उसे उसकी अनुपस्थिति में भी अपनी कल्पना के द्वारा उपस्थित कर देता है।[१] इस दृष्टि से वर्ड्सवर्थ का भारतीय मत से कोई मतभेद नहीं दीखता। किन्तु हमारा विचार है कि अभिव्यक्ति की शक्ति ही परिमाणभेद से रसबोध की शक्ति नहीं बनती, अपितु दोनों में प्रकारगत भेद भी रहता है। इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ हमारा लक्ष्य यह बताना है कि सौन्दर्यतत्त्व का विचार दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत आता है, अतएव प्लेटो से लेकर क्रोचे तक उसके सम्बन्ध में प्रकाशित किये गये अनेकानेक मतों की इस छोटे ग्रन्थ में आलोचना संभव न होने से हम केवल दो-चार प्रमुख मतों का विवरण देकर उनकी आलोचना करने का प्रयत्न करेंगे।

सौन्दर्यबोध तथा सौन्दर्यसृष्टि की सामग्री में ह्लाद, ज्ञान, संस्कार तथा व्यापार इन चार उपादानों का संग्रह होता है। इन चारों में से कभी किन्हीं विचारकों ने एक को प्रबल मान लिया है और कभी किसी दूसरे को। आधुनिक विचारकों ने व्यापार और अभिव्यक्ति को एक साथ प्रबल स्वीकार किया है।[२]

व्यापारवादियों में क्रोचे सर्वाधिक ख्यात हैं। उन्होंने वीक्षामूलक,[3] अन्वीक्षामूलक,[४] विधिमूलक[५] तथा योगक्षेममूलक[६] इन चार वृत्तियों के सम्यक् सम्मिश्रण से आत्मा की रचना स्वीकार की है। यद्यपि यह चारों वृत्तियाँ या तो एक-दूसरे की अनुवर्तिनी होकर उपस्थित होती हैं या एक साथ इनका व्यापार चला करता है, तथापि कवि की या हमारी आत्मा में इनकी एकान्वयिता ही प्रतीत हुआ करती है। यहाँ यह कह देना उचित है कि क्रोचे वाह्यवस्तु की स्वतन्त्र सत्ता

---

1. "The poet is a man, pleased with his own passions and volitions and who rejoices more than other men, in the spirit of life that is in him, delighting to contemplate similar volitions and passions as manifested in the goings on of the universe and habitually impelled to create them where he does not find them, whence, and from practice, he has acquired a greater readiness and power in expressing what he thinks and feels ; and among the qualities principally conducing to form a poet is implied nothing differing in kind from other men but only in degree."

—— Wordsworth.

2. "Everything is beautiful in whose imaginative contemplation or creation man expresses or makes sensible to himself the implicit content of that active spirit which is his or in which he shares."

—— Carritt.

3. Aesthetic activity 4. Logical activity 5. Practical activity
6. Economic activity.

स्वीकार नहीं करते, अतएव लोग उन्हें परिकल्पनावादी या विज्ञानवादी मानते हैं। क्रोचे का मत है कि समस्त रूप आदि का बोध केवल वीक्षावृत्ति के व्यापार द्वारा ही हो सकता है, अतः सौन्दर्य की वाह्य सत्ता नहीं होती। उनके विचार से सौन्दर्य-बोध ही सौन्दर्य या सुन्दर होता है।[१] ऐसी दशा में यह कहना कि 'ताजमहल सुन्दर है' एक अन्तर्विरोध से काम लेना ही कहा जायगा। वीक्षावृत्ति की स्मारक बन जाने पर ही किसी वस्तु को सुन्दर कहा जा सकता है। अतएव किसी वाह्य वस्तु को सुन्दर कहना 'सुन्दर' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग करना मात्र मानना चाहिए। वस्तुतः हमारे अन्तर की वीक्षावृत्ति के अन्तर्गत आनेवाले व्यापार को ही सुन्दर कहा जाता है।[२] उदाहरणतः यदि हम किसी मनोरम स्थान पर खड़े हुए जलसिक्त मन्द वातास और सौरभ से परितृप्त होकर बोल उठें 'अहा कितना सुन्दर

1. "Monuments of art, which are the stimulants of aesthetic reproduction, are called beautiful things or the physically beautiful. This combination of words constitutes a verbal paradox, because the beautiful is not a physical fact ; it does not belong to things but to the activity of man, to spiritual energy. But henceforth it is clear through what wanderings and what abbreviations, physical things and facts which are simply aids to reproductions of the beautiful, and by being called ellepticaily beautiful things and physically beautiful."

—(Theory of Aesthetics Ch. XIII, P. 159)

2. "Physical beauty is wont to be divided into natural and artificial beauty. Thus we reach one of the facts which has given great labour to thinkers: The beautiful in nature. These words often designate simple facts of practical pleasure. He alludes to nothing aesthetic who calls the landscape beautiful, where the eye rests upon the verdour where bodily motion is easy, and where the warm sunray envelopes and caresses the limbs........ It has been observed that in order to enjoy natural objects aesthetically we should withdraw them from their external historical reality and separate their simple appearance or origin from existence ; that if we contemplate a landscape with our heads between our legs in such a way as to remove ourselves from our wonted relations with it, the landscape appears as an ideal spectacle that nature is beautiful only for him who contemplates her with the eye of an artist ; ...that without the aid of imagination no part of nature is beautiful and that with such aid the same natural object or fact is now expressive, according to the disposition of the soul, now insignificant, now expressive of one definite thing, now of another, sad or glad, sublime or ridiculous, sweet or laughable ; finally that natural beauty which an artist would not to some extent correct does not exist."

——Croce.

है' तो इसमें सुन्दर शब्द का लाक्षणिक अपप्रयोग मात्र मानना चाहिए। यहाँ हम दैहिक आनन्द या चित्त की प्रफुल्लता को लक्षित करके ही 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करते हैं। हम अपनी कल्पना के सहारे किसी स्थान या दृश्य-विशेष को उसके प्राकृतिक परिवेश से पृथक् करके जब अपने मन के आगे रखते हैं तब उस काल्पनिक सृष्टि से हमें एक प्रकार का आनन्द मिला करता है। यही सौन्दर्यबोध का आनन्द है। जबतक कोई कवि या शिल्पी अपनी कल्पना के द्वारा प्रकृति के रूप को नहीं सँवारता तबतक उस प्रकृति को सुन्दर नहीं कहा जा सकता। मूल बात यह है कि प्रकृति में अपना कोई सौन्दर्य नहीं होता। अतः कल्पना के द्वारा गृहीत, संशोधित, परिवर्तित या परिवर्द्धित प्रकृति का हमारे चित्तपट पर अंकित संस्कृत रूप ही सुन्दर कहला सकता है। किसी कवि के काव्य को सुन्दर कहने का अभिप्राय यह नहीं होता कि हमें उसकी लिखित भाषा में कोई सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है। वास्तविक बात यह है कि उस भाषा को सुनकर हममें उसके अर्थ के अनुरूप अन्तर्वृत्ति जाग्रत् हो जाती है और उसी अर्थ का अनुसरण करते हुए हमारी वीक्षावृत्ति जाग्रत् होने के साथ ही व्यापारवती भी हो जाती है, तब उस व्यापारवती कल्पना में भासित वस्तु को ही यथार्थ काव्य या सुन्दर कहते हैं। किसी सुन्दर छवि के दो रूप होते हैं, एक है उसका दृष्टरूप और दूसरा है उसका काल्पनिक रूप। यह काल्पनिक रूप दृष्टरूप को ग्रहण करनेवाली वीक्षावृत्ति के व्यापार के द्वारा नूतन अर्थ तथा नूतन तात्पर्य के समन्वय से घटित होता है। अर्थात् हम जब किसी दृष्टवस्तु में अपनी ओर से कोई नवीन भावना भर देते हैं तब काल्पनिक रूप की सृष्टि होती है। अनेक प्रकार के रंग आदि के मिश्रण से कोई चित्र उपस्थित होता है। यों रंगों के साधारण सम्मिश्रण में कोई अर्थ निहित नहीं रहता, इस कारण उसे हम सुन्दर नहीं कह सकते, किन्तु जब उसी वर्ण-सम्मिश्रण के द्वारा वीक्षावृत्ति व्यापार हमारे चित्त में एक अर्थ और तात्पर्यवती किसी मूर्ति को उपस्थित कर देता है तब हम उस मायामूर्ति को सुन्दर कहते हैं। वस्तुतः किसी बाहरी वस्तु के लिए 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग अध्यास, आरोप या उपचार मात्र ही कहा जागगा। किसी चित्र का वर्णगत अथवा भाषा का शब्दगत रूप हमारी आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाता, बल्कि उनसे केवल हमारे कल्पना-व्यापार को सहायता मिलती है। इसी कारण जब हम यह कहते हैं कि 'अमुक चित्र सुन्दर है' 'अथवा हमने सुन्दर वस्तु देखी' तब हमारी जिस ईक्षावृत्ति का परिचय मिलता है या हमारा जो अनुभव प्रकट होता है, उसमें बाहरी रूप आदि की सत्ता नहीं बनी रहती। यही कारण है कि सौन्दर्यबोध में बाह्य और आन्तर के द्वैत का संकेत मात्र भी नहीं होता। 'हमने सुन्दर वस्तु को देखा है' कहने पर हमारे

चित्तफलक पर उद्भासित कल्पनाप्रसूत अर्थ एवं तात्पर्यवती मूर्ति का ही संकेत मिलता है।[1]

इसी प्रकार सौन्दर्य के निश्चय के लिए कोई बहिरंग नियम या अनुशासन निश्चित नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य आन्तरिक वस्तु है, बाह्य नहीं। आन्तरिक होने के कारण ही उसके सम्बन्ध में ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता कि ऐसा करने से सुन्दर होगा और ऐसा करने से नहीं होगा। जिन लोगों ने व्याप्ति-ग्रह पद्धति (इन्डक्टिव मेथड्स) को आधार मानकर वीक्षाशास्त्र की रचना करते समय अनेक सुन्दर वस्तुओं के समान धर्मों की तुलना करके सौन्दर्यतत्त्व के सम्बन्ध में किसी बाहरी नियम को निर्धारित करने की चेष्टा की है, उन्होंने भी अन्त में अपनी भूल स्वीकार कर ली है। असंभव को कभी संभव नहीं बनाया जा सकता। जो एक व्यक्ति की दृष्टि में सुन्दर है वही दूसरे की दृष्टि में कुत्सित हो सकता है। उदाहरणतः, गुलाबी रंग के लिफाफे में प्रेम-पत्र तो भेजा जा सकता है, किन्तु उसमें अदालती समन नहीं भेजा जाता। अतएव हम लोगों की राय के आधार पर सुन्दर-असुन्दर का निर्णय नहीं कर सकते। मूल सिद्धान्त तो यही है कि सुन्दर का स्वरूप बताने के लिए कोई बाहरी वस्तु उपयोगी नहीं ठहरती। सौन्दर्य केवल कल्पनामूलक अन्तर्व्यापार होता है। क्रोचे ने कहा है कि हम ज्ञान-मात्र को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं, एक है कल्पनाप्रसूत विशेषावलम्बी तथा दूसरा है अन्वीक्षाप्रसूत सामान्यावलम्बी।[2] तथापि सभी विषयों में अन्वीक्षा-ज्ञान को ही प्रधानता दी जाती रही है और इस प्रकार उसी का विस्तार हुआ है। बहुत से लोगों का विचार है कि विकल्पात्मक साधारण ज्ञान के अतिरिक्त विशेषात्मक सामान्य ज्ञान या इंटुइशन का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। क्रोचे इस विचार को

1. "A picture is divided into the image of the picture and the image of the meaning of the picture ; a poem, into the image of the words and into the image of the meaning of the words ; but this dualism of images is non-existent : The physical fact does not enter the spirit, but causes the reproduction of the image (the only image which is the aesthetic fact) in so far as it blindly stimulates the psychic organism and produces an impression answering to the aesthetic expression already produced."
——Aesthetic, Ch. XV, P. 171.

2. "Human knowledge has two forms ; it is either intivitive knowledge or logical knowledge ; knowledge obtained through the imagination or knowledge obtained through the intellect ; knowledge of the individual or knowledge of the universal."
——Croce.

संगत नहीं मानते क्योंकि अन्वीक्षा-निरपेक्ष रूप में भी इंटुइशन अथवा विशेष ज्ञान बना रहता है। उदाहरणतः चन्द्रोदय या सूर्यास्त देखकर किसी चित्रकार के मन में जो भाव उत्पन्न होता है, संगीतज्ञ के मन में जो संगीत-लहरी गूँजती है, वह नितान्त विशेषात्मक होने के साथ ही अन्वीक्षासम्पर्कशून्य होती है। किसी चित्र में ऐसे अनेक भाव हो सकते हैं जिन्हें अन्वीक्षा के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सके, किन्तु समग्र चित्र से उद्भासित होनेवाले अखण्ड भाव को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। यही इंटुइशन है। यह हमारे अन्तर की एक वृत्ति-विशेष है। अन्वीक्षा के विपरीत इसे ईक्षावृत्ति कहा जा सकता है। इस वृत्ति द्वारा संवेद्य वस्तु को विशेषात्मक अखण्ड प्रकाश कहते हैं। विशेष प्रकाश वस्तुतः ईक्षावृत्ति का परिणाम है—intuitive activity possesses intuition to the extent that it expresses them. प्रकाश का अभिप्राय केवल वाक्यगत अभिव्यक्ति ही नहीं होता, अपितु एक-एक पंक्ति, रंग, शब्द आदि को भी प्रकाश या अभिव्यक्ति कहते हैं। किसी चित्रकार का दर्शन और उसकी अभिव्यक्ति चित्र-जातीय होती है, कवि का दर्शन तथा उसकी अभिव्यक्ति शब्दजातीय होती है और संगीतज्ञ सुर के माध्यम से अपने दर्शन तथा अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करता है, किन्तु यह सभी प्रकार के दर्शन प्रकाश या अभिव्यक्ति से युक्त होते हैं। अर्थात् दर्शन के साथ-ही-साथ उसकी अभिव्यक्ति भी बँधी रहती है। उदाहरण के लिए, हम किसी त्रिभुज का यथार्थ दर्शन तभी कर सकते हैं जबकि हममें उसको कागज़ पर अंकित करने की क्षमता हो।[1] इससे प्रमाणित होता है कि हममें जितनी ही अभिव्यक्ति की क्षमता होगी उतना ही हम दर्शन भी कर सकते हैं। जैसे, किसी काव्य को सुनकर उसके फलस्वरूप हमारे ध्यान में ऐसा रूप उपस्थित होता है कि हमारा चित्त अन्दर-ही-अन्दर किसी स्फूर्ति से भर जाता है और अनेक भावों के साथ-साथ आनन्द भी प्रकाशित हो उठता है। इस बोध-व्यापार में अनुभव तथा प्रकाशन-व्यापार दोनों की ऐसी एकता रहती है कि इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।[2] प्रायः संसार इस बात पर

1. " The intuition and expression together of a painter are pictorial, those of a poet are verbal ; but be it pictorial or verbal or musical, or whatever else it be called ; no intuition or expression can be wanting, for it is an inseparable part of intuition. How can we possese a true intuition of a geometrical figure unless we possess so accurate image of it as to be able immediately to place upon paper or on a slate."
2. " Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit. In this cognitive process it is impossible to distinguish intuition from expression.

विश्वास ही नहीं कर पाता, क्योंकि जिस प्रकार के दर्शन को यथार्थ दर्शन कहा जाता है उसके उत्पन्न न होने पर भी हमारे मन में यथार्थ दर्शन घटित हो जाता है। राफेल द्वारा अंकित किसी चित्र के यथार्थ दर्शन के द्वारा हम उसकी उस दृष्टि को समझ सकते हैं जिससे उसने चित्र अंकित किया है। मैडोना का चित्र अंकित करते समय राफेल के हृदय में जो भाव उठ रहे थे या जो विविधरूपी अन्तःस्फुरण हो रहा था, उसके समान मैडोना का चित्र देखते समय हमारे सामने किसी अन्य का चित्र उपस्थित नहीं होता। अभिप्राय यह कि यदि हम उस स्तर के दर्शन से सम्पन्न होंगे तो उसी स्तर की अभिव्यक्ति भी अवश्य ही होगी। इसीलिए साधारण दर्शक राफेल के चित्र को देखकर केवल मुग्धभाव से उसके रंगों के मिश्रण पर ही ध्यान देकर रह जाता है और स्वयं कृतिकार की दृष्टि से ही उस चित्र को नहीं देख पाता। बहुत-से लोग कहा करते हैं कि उनके हृदय में बड़े गंभीर विचार भरे हुए हैं, किन्तु वे उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। सही बात यह है कि उनका यह कथन एकदम थोथा है, क्योंकि हृदय में उद्भासित गम्भीर तत्त्व उपयुक्त शब्दों के माध्यम से प्रकाशित हुए बिना नहीं रह सकता। जिस व्यक्ति का विचार अभिव्यक्ति के समय हवा हो जाता है, उसके विचार-दारिद्र्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बहुत-से लोगों की भ्रान्त धारणा है कि राफेल के समान ही वह भी मैडोना की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु उनमें और राफेल में अन्तर यही है कि उसने अपने अद्भुत शिल्प-कौशल से उसे जिस रूप में उपस्थित किया है वे उसे उसी रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाते। उनमें केवल शिल्प-चातुर्य का अभाव है, अन्यथा उनकी और राफेल की कल्पना में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। वस्तुतः चित्रकार चित्र अंकित करते समय अपने चर्मचक्षुओं की उपेक्षा करके अपनी कल्पना के सहारे ही दर्शन और अनुभव करता है। कहा जाता है कि 'ए लास्ट सपर' नामक चित्र अंकित करने के पूर्व लियोनार्डो डा विंची एक सप्ताह तक चित्रफलक के सम्मुख स्थिर भाव से बैठे रह गये किन्तु तूलिका से एक भी रेखा अंकित न कर सके। इसीलिए अन्तर्चक्षु द्वारा किये गये दर्शन को ही यथार्थ दर्शन मानना चाहिए। जिसका अन्य लोग आभास मात्र पाते हैं, चित्रकार या कवि उसी का समग्र रूप में दर्शन करते हैं। साधारण व्यक्ति से उनकी इस पृथकता के कारण ही उन्हें कवि या चित्रकार जैसे असामान्य नाम दिये जाते हैं। चित्रकार अथवा कवि जिस वस्तु का ध्यान द्वारा दर्शन कर लेते हैं, उसी को रंग या वाक्य के माध्यम से प्रकट भी करते हैं। क्रोचे

The one is produced with the other at the same instant because they are not two but one." (*concld*)

की इस उक्ति के साथ कालिदासकृत शकुन्तला के रूप-वर्णन का साम्य देखा जा सकता है। कालिदास ने कहा है कि विधाता ने अपने चित्त में समस्त रूप-संभार को धारण करके शकुन्तला के रूप में मानो उसमें प्राण डाल दिये हैं, अन्यथा उसका ऐसा रूप संभव न होता :—

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा,
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे,
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ २।९

हम सभी में कवि, शिल्पी या संगीतज्ञ की प्रतिभा का कुछ-न-कुछ अंश विद्यमान रहता है। किन्तु केवल उसी अकिंचित्कर अंश को आधार मानकर किसी व्यक्ति की उनसे समानता स्थिर नहीं की जा सकती। केवल इस प्रकार के दर्शन अथवा अनुभव के प्रकाशन के सहारे काव्य अथवा चित्र का निर्माण करना संभव नहीं है। यह बहुत-से लोगों ने स्वीकार किया है कि रूपायन — आर्ट — अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम है। फिर भी केवल अन्तर्दृष्टि ही आर्ट नहीं है। दृष्टि के अतिरिक्त उसका ऐसी वस्तुओं से संयोग रहता है, जिनकी सहायता से आर्ट की सृष्टि होती है। इतना होने पर भी यह बताना कठिन है कि यह वस्तुएँ कौन-सी हैं। दर्शन तथा प्रकाशन दोनों अभिन्न हैं, अतएव इनके बीच कोई अन्य हेतु या व्यापार नहीं हो सकता। रूपायन में अपेक्षित दर्शन का थोड़ा-सा प्रसार होने पर ही उसकी सिद्धि नहीं हो जाती। क्रोचे दार्शनिक तथा अन्य दर्शनों में पार्थक्य स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि इन दोनों में प्रकारगत पार्थक्य न होकर केवल विस्तारगत पार्थक्य होता है। उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है कि साधारण प्रेमगीत में नरनारी समूह के दैनिक प्रेम-निवेदन की अपेक्षा व्याप्ति की कमी है। यह माना जा सकता है कि दोनों में समान गंभीरता है; किन्तु लेपार्डी के प्रेम-संगीत की तुलना में उनकी व्याप्ति अत्यन्त कम है। इसी व्याप्ति शब्द के द्वारा क्रोचे ने परिणाम निश्चित किया है। यह निश्चित नहीं है कि प्रेम का अत्यन्त गंभीर अनुभव करने पर ही उसकी चौफेर व्याप्ति बढ़ जायगी। इस व्याप्ति के महत्व को 'गंभीरता' शब्द के द्वारा प्रकट नहीं कर सकते। ध्यान देने की बात यह है कि यों तो हम बातचीत में सदा ही गद्य का व्यवहार करते हैं, किन्तु वह गद्य निश्चय ही रवीन्द्र-नाथ के गद्य की समानता नहीं कर सकता अथवा वही नहीं बन सकता। परन्तु इन दोनों में प्रकारगत कोई पार्थक्य नहीं होता। यह भी हो सकता है कि किसी दारुण कष्ट के कारण हमारा गद्य रवीन्द्रनाथ के गद्य से अपेक्षाकृत अधिक व्यथापूर्ण

हो, तथापि हमारा वह गद्य आर्ट नहीं कहला सकता। क्रोचे ने प्रतिभा नाम की कोई अलौकिक शक्ति इसीलिए स्वीकार नहीं की है कि हमारे द्वारा प्रयुक्त 'जल लाओ, भात खायें' आदि वाक्यों में प्रयुक्त गद्य प्रकारतः और जातितः एक ही प्रकार के दर्शन से सम्बन्धित है। केवल दर्शन-शक्ति के आतिशय्य के अतिरिक्त प्रतिभा-शक्ति का और कोई अर्थ नहीं हो सकता। इसी दर्शन-आतिशय्य के आधार पर किसी प्रतिभावान् व्यक्ति से हमारा पार्थक्य घटित होता है। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि प्रतिभा नामक कोई अलौकिक शक्ति नहीं होती।[१]

सुन्दर के रूप में गृहीत वस्तु को विषयवस्तु (कॅन्टेन्ट) तथा प्रकाशभंगी (फॉर्म) नामक दो भेदों में बाँटा जा सकता है। इन दोनों को ध्यान में रखते हुए कभी किसी ने केवल विषयवस्तु को, किसी ने प्रकाशभंगिमा को और किसी-किसी ने दोनों को ही सौन्दर्य का आधार बताया है। वस्तु में नूतनता न होने पर भी उसके विन्यास में जो नूतनता रह सकती है, उसके सम्बन्ध में जयन्त ने कहा है :—

कुतो वा नूतनं वस्तु वयं उत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्॥

कुन्तक ने भी कहा है कि शब्द और अर्थ के विचित्र विन्यास या बन्ध पर ही काव्य की सुन्दरता निर्भर है :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥

... ...

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनातिरिक्तत्वं मनोहारिण्यवस्थितिः॥

क्रोचे ने भी यही कहा है कि प्रकाशभंगिमा या फॉर्म ही सौन्दर्य का प्राण है। विषय-वस्तु मात्र या उसके साथ भंगिमा का सम्मिलन सौन्दर्य का जनक नहीं है।

---

1. "Nor can we admit that the word genius as distinct from tha non-genius of the ordinary man possesses more than a quantitative signification. Great artists are said to reveal us to ourselves. But how could this be possible unless there be identity of nature between their imagination and ours and unless the difference will be only one of quantity........ The cult and superstition of the genius has arisen from this quantitative difference having been taken as a difference of quality. It has been forgotten that genius is not something that has fallen from heaven but humanity itself."

——Ch. II. P. 24.

वीक्षावृत्ति के द्वारा विषयवस्तु निरन्तर परिष्कृत होकर सुन्दर रूपों में दिखाई देती है। विषयवस्तु और प्रकाशभंगिमा दोनों की स्वतन्त्र सत्ता के संयोग से सौन्दर्य की निष्पत्ति क्रोचे को स्वीकार नहीं है।[१] उनका विचार है कि जब वीक्षावृत्ति के द्वारा गृहीत रूप आदि परिवर्तित या परिष्कृत रूप में उपस्थित किये जाते हैं, तभी उनमें सौन्दर्य झलकता है। वीक्षावृत्ति के द्वारा सम्पन्न होनेवाला व्यापार ही सौन्दर्य का सृजन करता है। इस वृत्ति के प्रयोग के बिना विषयवस्तु की अपनी कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसी कारण विषयवस्तु की स्वतन्त्र सत्ता से हम परिचित नहीं होते और यही कारण है कि विषयवस्तु और प्रकाशभंगिमा पृथक् सिद्ध नहीं होतीं। उनका स्वतन्त्र सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता। वीक्षावृत्ति का प्रयोग एक ओर जहाँ वस्तु का उपधायक है वहाँ वह प्रकाशोपधायक भी है। प्रकाशोपधायक वृत्ति में आकर्षण की सामर्थ्य होती है। इसी कारण वह वृत्ति वस्तु को प्रकाशमय बना देती है और उसका व्यापार भी ह्लादजनक होता है।[२] तात्पर्य यह है कि प्रकाशभंगी अपनी सामर्थ्य से उपयोगी वस्तु को ज्ञानगम्य बना देती है। ज्ञानगम्य होने से पूर्व वस्तु का स्वरूप अज्ञात रहता है। उसका स्वरूप ज्ञात हो जाने पर ही प्रकाशभंगिमा के संयोग से वह वस्तु प्रकाशित हो उठती है। उपयोगी या उपयुक्त प्रकाशभंगिमा से ही आह्लाद उत्पन्न होता है। इसी कारण

---

1. "We must reject the thesis, that makes the aesthetic fact to consist of the content alone (that is, the simple impressions) in like manner with the other thesis which makes it to consist of a junction between form and content, that is, of impressions, plus expressions. In the aesthetic fact the aesthetic activity is not added to the impressions, but these latter are formed and elaborated by it. The impressions re-appear as it were in expressions, like water put into a filtre which re-appears the same and yet different on the other side. The aesthetic fact, therefore, is formed, and nothing but formed."

2. "It is true that the content is that which is convertible into form, but it has no determinable qualities until the transformation takes place. We know nothing of its nature. It does not become aesthetic content atonce, but only where it has been effectively transformed. Aesthetic content has also been defined as what is interesting. This is not an untrue statement, it is merely void of meaning. What then is interesting? Expressive activity. Certainly the expressive activity would not have raised the content to the dignity of form, had it not been interested. The fact of its having been interested is precisely that fact of its raising the content to the dignity of form."

——Ch. II. P. 27.

वस्तु, ह्लाद तथा प्रकाश तीनों ही समवेत रूप में एकसाथ प्रतीत हुआ करते हैं। ये परस्पर अयुतसिद्ध हैं, इस कारण इनकी पृथक् सत्ता या सम्बन्ध-स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं की जा सकती।

वीक्षावृत्ति के द्वारा आत्मस्वरूप में प्रकाशमय रूप की अवस्थिति ही सौन्दर्यो-पधायक होती है। यही कारण है कि प्रकृति के अन्धानुकरण मात्र को सुन्दर नहीं कहा जा सकता। " The painted wax figures that seem to be alive and before which we stand astonished in the museum do not give aesthetic intuitions. " एक फोटोग्राफर द्वारा खींचे गये फोटो में केवल उन्हीं स्थलों पर सौन्दर्य जान पड़ेगा जहाँ-जहाँ उसमें उस चित्रित व्यक्ति की अंगभंगी का सुचारु प्रदर्शन हुआ होगा। केवल यन्त्र की सहायता से उपस्थित की गई छाया में वैक्षिक सौन्दर्य नहीं होता। क्रोचे के मतानुसार वीक्षावृत्ति में एक प्रकार की ऐसी व्यापकता रहती है कि रूपाकार —'रूप' शब्द में यहाँ श्रवणेन्द्रियगत रूप भी ग्रहण किया गया है—में कथित अथवा प्रकाशित सभी कुछ वीक्षावृत्ति के अन्तर्गत समा जाता है। अतएव रूप-ग्रहण अथवा रूप-प्रकाश के अतिरिक्त क्रोचे ने किसी अन्य स्वतन्त्र सौन्दर्यवृत्ति को स्वीकार नहीं किया है। वीक्षावृत्ति के व्यवहार करने पर रूपमात्र सौन्दर्य कहा जा सकता है। हम किसी चित्र में केवल चक्षुरिन्द्रिय के योग्य रूप ही नहीं देखते, अपितु सभी इन्द्रियों के लिए उपयोगी रूप को भी देखते हैं।[1] इसका कारण यह है कि इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु और रूप इसलिए सुन्दर है और अमुक इसलिए नहीं है या नहीं हो सकता। किसी भी इन्द्रिय पर पड़नेवाला प्रभाव वीक्षावृत्ति की दृष्टि से ग्रहण किये जाने के साथ ही यदि व्यक्त भी किया जा सकता है तो वह सुन्दर प्रतीत हो सकता है। वीक्षावृत्ति का यही धर्म है कि वह अपने व्यापार के द्वारा अनेकों संस्कारों (इंप्रेशन्स) को एक करके अयुतसिद्ध समवाय को सिद्ध करती है। इसी कारण सौन्दर्य मात्र को समग्रता-सापेक्ष माना गया है। किसी सामग्री की समग्रता एवं अखण्डता की धारणा ही सौन्दर्य का प्राण है। अखण्ड धारणा ही प्रकाश कहलाती है। किसी

1. " All impressions can enter into aesthetic expressions or formations, though they are not bound to do so......The belief that a picture yields only visual expressions is only a curious illusion. The bloon of a cheek, the warmth of a youthful body, the sweetness and freshness of a fruit, the cutting of a sharpened blade...are not these, also, impressions that we had from a picture ?"

भी काव्य या चित्र का विश्लेषण करके उसे खण्डशः देखने पर उसकी समग्र सौंदर्यानुभूति में बाधा आती है। [१]

क्रोचे की धारणा है कि सभी प्रकार की आर्ट वीक्षादृष्टि से ही उत्पन्न होती हैं, अर्थात् वीक्षादृष्टि से प्रकाशित (प्रोडॅक्ट ऑफ ऍस्थेटिक ऍक्टिविटी) वस्तु ही आर्ट कहलाती है। अखण्डता का एककालिक बोध ही वीक्षादृष्टि के द्वारा प्रकाशित होता है। किसी भी शिल्पी के चित्त में उसके शिल्प की समग्र मूर्त्ति एकसाथ प्रतीत हुआ करती है, वह उसके खण्ड रूप की धारणा नहीं करता। यह भी ठीक है कि किसी मूर्त्ति को अंकित करते समय उसके अंग-प्रत्यंग को क्रमशः अंकित किया जाता है। इसी प्रकार गीत गाते हुए उसकी स्वरलहरी और उसके सामंजस्य को एक क्रम से ही प्रकाशित किया जाता है। किन्तु चाहे चित्रकार हो चाहे संगीतज्ञ, इनके चित्त में अंग-निरपेक्ष रूप में अखण्ड चित्र या संगीत अपने समग्र रूप में एकसाथ ही व्यक्त होता है, इन्हें उसके अंगों का ज्ञान नहीं होता। दृष्टान्तस्वरूप रॉयस (Royce) के द्वारा प्रणीत 'दी स्प्रिट ऑफ मॉडर्न फिलॉसॅफी' से मोज़ार्ट (Mozart) के आत्मविश्लेषण को लिया जा सकता है। मोज़ार्ट का कहना है कि वह यह नहीं समझ पाता कि सोते के जल के समान उसके चित्त में सुर-धारा कैसे अविराम प्रवाहित होने लगती है। वह इतना ही कह सकता है कि भला लगने पर वह सबका स्मरण करते हुए गुन-गुनाने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह सब स्मृत रूप किसी अज्ञात शक्ति से परस्पर संगठित हो जाते हैं और एक रूप-विशेष धारण कर लेते हैं। जब यह रूप-ग्रहण की स्थिति समाप्त हो जाती है तो वह उसके समग्र रूप को एक सुन्दर छवि के रूप में उपस्थित पाता है। गीत गाते समय के स्वर-क्रम के समान स्वर-क्रम दूसरे समय नहीं रहता, इसीलिए सभी राग-रागिनियाँ एक-दूसरे में मिली-जुली-सी प्रतीत होती हैं, तब उनका भेद नहीं जान पड़ता, उनका पृथक् रूप उपस्थित नहीं होता। गाने के समय वह स्वरूप अपने-आप छनता हुआ चला आता है। [२]

---

1. "The conception of expression as activity is the indivisibility of the work of art. Every expression is a unique expression. Activity is a fusion of the impressions in an organic whole. A desire to express these has always prompted the affirmation that the work of art should have unity or—what amounts to the same thing—unity in variety. Expression is a synthesis of the various, the multiple in the one.........Division annihilates a work as dividing the organism into heart, brain, muscles, nerves and so on, turns the living being into corpse."

2. "My ideas come, as they will, I don't know how, all in a stream. If I

दर्शन (इंटुइशन) को क्रोचे एक विशेषात्मक विज्ञान मानते हैं। यह ऐसा ही है जैसे पृथकता-बोध के लिए कहा जाता है : 'यह नदी है, यह तालाब है, यह वृष्टि है' आदि। अपने इस विशेषात्मक स्वरूप के कारण यह सामान्यात्मक ज्ञान से स्वतंत्र होकर रह सकता है। किन्तु इसके विपरीत सामान्यात्मक ज्ञान सदैव इस विशेषात्मक ज्ञान पर ही अवलम्बित रहता है। वह कभी भी विशेष-निरपेक्ष नहीं रह सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्यात्मक ज्ञान विशेष-निरपेक्ष हो ही नहीं सकता, बल्कि इसका अभिप्राय यह मानना चाहिए कि सामान्यात्मक अथवा आन्वीक्षिकी ज्ञान के साथ विशेष अनुभूति या दर्शन भी जुड़ा रहता है। विचार करने पर हम उसे व्यक्त भी कर सकते हैं। प्रकाशन ही दर्शन का स्वभाव है। वस्तुतः हम कोई बात तभी कहते हैं जब उसपर पहले विचार कर लेते हैं। इस प्रकार भाषा का सहारा छोड़कर कोई भी विचार जीवित नहीं रह सकता, उसे अभिव्यक्त तो होना ही पड़ेगा। इस प्रकार भाषा में दर्शन का स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

क्रोचे के मतानुसार इंटुइशन तथा पर्सेप्शन (Perception) में भेद है, दोनों को दर्शन नहीं कहा जा सकता। पर्सेप्शन को हम इन्द्रिय-दर्शन कह सकते हैं। किसी वस्तु को आँख से देखकर हम उसके किसी एक रूप का दर्शन करते हैं। यही इन्द्रिय-दर्शन है। किन्तु जब उसी दर्शन को अध्यात्म-भाव से मनन या ध्यान के द्वारा एक विशेष अनुभूति के रूप में ग्रहण करते हैं, तब वह इंटुइशन कहलाता है। ऐन्द्रियक दर्शन विच्छिन्न और अर्थ-विहीन हो सकता है, किन्तु आन्तरिक अनुभूति सार्थक और अखण्ड ही हुआ करती है। चाहे विज्ञान हो चाहे दर्शन उनके विचार के लिए जब कभी भी गंभीर विचार किया जाता है तब उसके साथ ही विशेष-अनुभूति भी प्रकाशित हुआ करती है। अतएव हम किसी

---

like them I keep them in my head and people say that I often hum them over myself. Well, if I can hold on to them, they begin to join on to one another, as if they were bits that a pasting cook should join them together in his pantry. And now my soul gets heated, and if nothing disturbs me, the peace grows larger and brighter until, however long it is, it is all finished together in my mind so that I can see it at a glance as if it were a pretty picture of a pleasing person. Then I dont's hear the notes one after another as they are hereafter to be played, but it is as if in my fancy they were all at once. And that is a vevel. While I am inventing it all seems to me like a fine vivid dream ; but that hearing it all at once (when the invention is done), that is the best. What I have once so heard I forget not again, and perhaps this is the best gift that God has granted me."

समय विज्ञान या दर्शन-ग्रंथ को सौन्दर्य की सृष्टि मान सकते हैं, भले ही किसी दूसरे समय हम केवल उनकी जटिल विचारधारा से अभिभूत रह जाते हैं और उनमें सौन्दर्य की कल्पना भी नहीं कर पाते।[1] इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई वैज्ञानिक अपनी बात को इस प्रकार उपस्थित नहीं कर पाता कि वह हमारे लिए सौंदर्य की अनुभूति करानेवाली रचना सिद्ध हो तो भी उसका दोष नहीं कहा जायगा, किन्तु यदि चित्रकार या कवि की अनुभवभंगिमा स्पष्ट न हो सकी तो वह निरर्थक सिद्ध हो जाती है। रूपायन (आर्ट) में प्रकाशभंगी के अतिरिक्त न तो वस्तु की सत्ता ही स्वीकार की जा सकती है न वस्तु से एकरूपता ही रह पाती है। "It is most true that art does not consist of content but also it has no content."

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि क्रोचे भी हेगेल, शोपेनहावर तथा बहुत कुछ काण्ट की भाँति सौन्दर्य को एक प्रकार का अध्यात्मबोध स्वीकार करते हैं। क्रोचे ने साधारणतः हमारे चित्त के बोधात्मक तथा व्यापारात्मक नामक दो स्वरूप स्वीकार किये हैं। वह बोध या व्यापार के अतिरिक्त भावसंवेग (फ़ीलिंग या सेन्टीमेन्ट) को मन की कोई स्वतन्त्र वृत्ति नहीं मानते।—a third general form of the spirit, or a form of feeling does not exist (Philosophy of the practical—chap. II. p. 21). उनका मत है कि भावसंवेग अथवा वेदना की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वे दोनों विविध संवित् एवं इच्छात्मक व्यापार के स्वरूपगत प्रकारभेद मात्र हैं।—The feeling of love or of patriotism and the others made use of in the example are revealed to philosophy as a series of acts of thought and of will, variously interlaced (P. 24.).

क्रोचे ने वेदना को स्वतन्त्र वृत्ति नहीं स्वीकार किया है सही, किन्तु बोध के

---

1. "Art and science, then, are different, and yet linked together; they meet on one side which is the aesthetic side. Every scientific work is also a work of art. The aesthetic side may remain little noticed when our mind is altogether taken up with the effort to understand the thought of [the men of science and to examine its truth. But it is no longer concealed when we pass from the activity of our understanding to that of contemplation and behold that thought either developed before us, limpid, exact, well-shaped without superfluous words with appropriate rhythm and intonations, or confused, broken, embarassed, tentative."

प्रकारगत भेद-स्व रूप अथवा सुख-दुःखात्मक वेदना के वैषम्य के देखते हुए वह उसे अस्वीकार नहीं करते हैं। स्थूल रूप में क्रोचे वेदना, संवित्, बोध अथवा क्रियात्मक व्यापार की एक विशेष रूप में सत्ता स्वीकार करते हैं। हमारे यहाँ संस्कृत दर्शन में भी अनेक विद्वान् सुख-दुःख को स्वतन्त्र न मानकर उसे ज्ञान का ही प्रकारगत भेद मानते हुए सुख को अनुकूलवेदनीय और दुःख को प्रतिकूलवेदनीय स्वीकार करते हैं। क्रोचे ने कहा है कि वेदना चिरकाल तक पदार्थ के एक मायामय रूप को लेकर बनी रहती है और जब हम उसका विशेष स्वरूप समझ जाते हैं तभी उसमें एक नूतन सत्य उपलब्ध होता है। दृष्टान्त स्वरूप उन्होंने कहा है कि जबतक लोगों ने वीक्षावृत्ति की स्वतन्त्रता को नहीं समझा तबतक वे सौन्दर्यबोध एवं सौन्दर्यसृष्टि को एक अनिर्वचनीय ह्लादन-व्यापार मानते रहे। किन्तु इस ह्लादन-व्यापार का विश्लेषण करके देखें तो पता चलेगा कि इसमें अनिर्वचनीयता का कोई लक्षण नहीं है, बल्कि उसके स्थान पर सहज स्वाभाविक वीक्षावृत्ति कार्य किया करती है। एक विशुद्ध दर्शन-व्यापार के फलस्वरूप ही सौंदर्य की सृष्टि संभव होती है। वेदना या ह्लाद से सौन्दर्य की उत्पत्ति स्वीकार करके वस्तुतः अलौकिकता का आश्रय लेते हुए एक प्रकार से हमारी तत्त्वबुद्धि या तत्त्वजिज्ञासा में बाधा उपस्थित कर दी जाती है। क्रोचे ने इसीलिए बताया है कि उसके द्वारा स्वीकृत चार प्रकार की वृत्तियों के अतिरिक्त वेदनात्मक अथवा भावसंवेगात्मक नाम का कोई स्वतन्त्र व्यापार नहीं होता। किसी भी जाति की वेदना या भावसंवेग को किसी-न-किसी मूलवृत्ति के प्रकारगत स्वरूप अथवा उसकी व्यापकता की दृष्टि से ग्रहण करना संभव है। दर्शनशास्त्र में क्रोचे के अनुसार वेदना का कोई स्थान नहीं है। ज्ञान की अन्तर्वर्ति विशेषात्मक अनुभूति से रूपायन की उत्पत्ति अथवा उसकी अभिव्यक्ति होती है और इसी कारण वह दर्शनशास्त्र अथवा विज्ञान से स्वतन्त्र है। उक्त दोनों शास्त्र ज्ञान की सामान्यात्मक वृत्ति से व्यापृत रहते हैं।

बहुत-से लोगों का विचार है कि आर्ट का काम साधारणीकरण या सामान्यात्मकता की सिद्धि कराना है। इस प्रकार के भ्रान्त विचार के जन्मदाता वस्तुतः अरस्तू ही हैं। दर्शनशास्त्र के साथ सामान्यात्मक साधारणीकरण का सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु वीक्षाशास्त्र के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आर्ट कहते ही उससे मन की संकल्पात्मक वृत्ति से व्याप्त विशेषात्मक अनुभूति का बोध होता है। इससे न तो किसी बाह्य विषय की जाति-विशेष का ही बोध होता है न किसी गुण अथवा लक्षण का ही पता चलता है। इससे केवल एक प्रकार की अखण्ड अनुभूति

ही उत्पन्न होती है। यही कारण है कि इसमें विकल्पात्मक विश्लेषण सहायक सिद्ध नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत केवल एक मूर्तिमय स्वरूप ही ग्रहण किया जाता है। इसीलिए यहाँ अन्वीक्षा-व्यापार के कारण-कार्य प्रयोग का संकेत तक नहीं रहता। [१]

क्रोचे ने वेदना (फ़ीलिंग) की स्वतन्त्रता को अस्वीकार किया है, किन्तु जिस वीक्षावृत्ति के द्वारा कवि या शिल्पी के अन्तर में किसी मूर्त्त प्रत्यय की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है उसी के साथ यह वेदना भी जुड़ी रहती है। इसीलिए यह स्वीकार किया गया है कि आर्ट में मन की गंभीर कामना व्याप्त रहती है। जिस समय वीक्षावृत्ति के द्वारा कोई कवि या चित्रकार अपने अन्तर में किसी मूर्त्ति की धारणा करता है, उस समय उस मूर्त्ति की बहिर्जगत में सत्यता अथवा दूसरी वस्तुओं से उसके सम्बन्ध का ध्यान नहीं रहा करता। वह अपनी समस्त आत्म-शक्ति लगाकर ही उस मूर्त्ति को अपने अन्तर में धारण करता है। इस अन्तरात्मा की प्रेरणा के साथ ही कामना का संयोग रहता है। कवि या शिल्पी की अन्तरात्मा और व्यक्तित्व का कामनायुक्त आत्मप्रकाश ही मूर्त्त प्रकाश या आर्ट कहलाता है। आर्ट को मूर्त्त प्रकाश मानकर कोई जितना ही किसी कविता में नाना प्रकार की युक्तियों की अवतारणा करता है उतना ही वह आर्टहीन होती चली जाती है। वृत्तिमात्र सामान्यात्मक होती है और दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ग्रहण की जाती है। कवि का तत्त्व-विचार से सम्बन्ध न होकर उसका काम केवल मूर्त्त अनुभूति, स्वप्न, आत्म-प्रकाश, आनन्दाभिव्यक्ति तथा नाना प्रकार की भावराशि से होता है। यदि कवि अपने काव्य के द्वारा हममें अपने अन्तर्लोक के इसी स्वप्न या भाव-संभार को जाग्रत् करने में समर्थ होता है और अपने अनुभव के साथ दूसरे व्यक्ति को सहानुभावी बना सकता है, तो उसके काव्य को सार्थक मानना चाहिए। [२]

1. L' arte si reggen unicamente sulla fantasia : la sola sua ricchezza zono be imagini. Non classifica gli oggett non li pronunyia realio immaginari non li qualifica, non li definisca : li sente a rappresenta. Niente de fine. E per ci o in quanto ens e conscenza non astrata una concreta e tale che coglio il reale senza alterazioni e falsificazioni, L' arte intuizione; E, in quanto lo porge nella sua immediatezza, non encora mediato rischiarate dal concetto, si deve dire intuizione pura (Problemi di Estetica p. 14).

2. But if the relation between desire and action be the ultimate reason for the distinction between art and history, and this distinction be the theoretical reflection of that real relation the conception of art as representation of volitional facts, taken in their quite general and

क्रोचे अलौकिकता (मिस्टीसिज्म) के पूर्ण विरोधी हैं। उनकी धारणा है कि अलौकिकता को आधार मानकर आलोचना करते ही हम अपने विचार-दारिद्र्य का परिचय दे देते हैं। उनका कथन है कि आर्ट को किसी अलौकिक-वृत्ति से उद्भूत मानना और केवल इसी आधार पर उसे दर्शन या विज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ घोषित करना अपनी जड़ता को ही प्रमाणित करना है। इसके विपरीत आर्ट को सभी शास्त्रों से श्रेष्ठ मानने के स्थान पर सबकी अपेक्षा निम्नतम वृत्ति से उत्पन्न माना जा सकता है। कारण यह है कि सौन्दर्यवृत्ति या वीक्षावृत्ति-व्यापार में सामान्यधर्मवर्जित विशेष और मूर्त्त स्वभाव को ग्रहण किया जाता है। दर्शन-विज्ञान आदि विचारधाराओं की पृष्ठभूमि के रूप में यह अतिभौतिक मूर्त्त स्वरूप आवश्यक होता है। इस मूर्त्त वस्तु का अवलम्बन लेकर इनमें परस्पर तुलना करने पर सामान्यात्मक संज्ञा (कॅनसेप्ट) अथवा प्रमा उपस्थित होती है उसकी विशिष्ट परम्परा को दिखाने के लिए ही विज्ञान अथवा दर्शन का जन्म होता है। दर्शन अथवा विज्ञान की स्थापना भिन्न-भिन्न वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान अथवा जाति के संकेतग्रह के द्वारा होती है। इस प्रकार मूर्त्त वस्तु का अवलम्बन करने के कारण इतिहास तथा दर्शन-समुद्भूत मानवी ज्ञान दोनों ही एक ही जाति के हैं। इतने पर भी इनमें दो और व्यापार भी रहा करते हैं। यह हैं कारण-कार्य के आधार पर सम्बन्ध-निर्णय और दूसरा है घटनाओं की बाह्य सत्ता के सम्बन्ध में असन्दिग्ध विश्वास। इन दोनों के न होने पर तो इतिहास की धारणा ही उत्पन्न नहीं हो सकती। ऐसा जान पड़ता है कि आर्ट में हमें सभी प्रकार के विज्ञान के आदि और मूलभूत उपादान प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में हम आर्ट की अनुभूति को मूल उपादानभूत कह सकते हैं। तब हमें उसे निम्नतम

---

indeterminate nature, in which desire is as action and action as desire reveals why art affirms itself as representation of feeling, and why a work of art does not seem to possess and does not posses value, save for its lyrical character and from the imprint of the artist's personality. The work of art that reasons or instructs as to things that have happened, and finds a substitute for intimate and lyrical connections in historical reasonings and connections, is justly and universally condemned as cold and ineffectual. We do not ask the artists for a philosophical system nor for a relation of facts, but for a dream of his own, for nothing but the expression of a world desired or abhorred, or partly desired and partly abhorred. If he make us live again in this dream the rapture of joy or the incubus of terror, in solemnity or in humility, in tragedy or in laughter, that suffices. (Philosophy of practical—pp. 267-68).

श्रेणी में स्थान देने के लिए भी बाध्य होना पड़ेगा।[1] किन्तु निम्नतम कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि इसका किसी अन्य की अपेक्षा प्रयोजन कुछ कम सिद्ध किया जाय, अपितु ऐसा कहकर एक प्रकार से इसका सर्वश्रेठ स्थान ही स्वीकार किया जाता है। यह इसलिए कि बिना इसका सहारा लिये इसकी परवर्ती भूमि पर पहुँचना संभव नहीं होता।[2] आर्ट का व्यापार कल्पना तथा छवि से सम्बन्ध रखता है। आर्ट किसी वस्तु को श्रेणियों में विभाजित नहीं करती और न उनके काल्पनिक या सत्य तत्त्व की ही खोज करती है। आर्ट किसी वस्तु का लक्षण भी निर्धारित नहीं करती। वह केवल अनुभव-वेद्य होती है। अन्वीक्षा या अन्य किसी वृत्ति के प्रयोग के पूर्व केवल एक छवि या मूर्त्ति की धारणा करना ही आर्ट का धर्म है। आर्ट की पूर्ण सिद्धि इसी में है कि वह अन्य समस्त वृत्तियों से पूर्णतया अलग रहकर नितान्त स्पष्ट रूप में एक मूर्ति सामने ला सके। यह दुर्बलता ही इसकी सबलता है।

निर्विकल्प भाव से किसी मूर्त्ति की अभिव्यक्ति का नाम ही स्वयंप्रकाश ज्ञान (प्योर इन्टुइशन) है। जिस व्यक्ति में यह ज्ञान उत्पन्न होता है उसे कवि कहते हैं।[3] जिस समय अपने ध्यान में ही कवि समस्त जगत् का दर्शन करके उसी में डूब-सा जाता है तभी वह कवि कहलाने का अधिकारी सिद्ध होता है। इस चेतना के प्रथम स्फुरण से ही आर्ट का स्वरूप निश्चित होता है। जिस वृत्ति का अवलम्ब लेकर आर्ट उत्पन्न होती है उसका अवलम्ब लिये बिना ज्ञान रूपी वृक्ष के शाखा-पत्रादि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वयंप्रकाश ज्ञान ही समस्त ज्ञान, इच्छा आदि का आदि-उपादान होता है। इसी स्वयंप्रकाश ज्ञान से हमारी आन्तरिक ज्ञान-वृत्ति का आदि-व्यापार उत्पन्न होता है। अभिव्यक्ति (एक्सप्रेशन) इसी का परिणाम है। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यापार और परिणाम दोनों ही अभिन्न हैं। जिस प्रकार हमारे अन्तःपुरुष को

---

1. "Why not invent the attempt, and instead of forming the hypothesis that art is one of the summits of the highest grade of the theoretic spirit, from the very opposite hypothesis, viz., that it is one of the lower grades or the lowest of all?" (Aesthetic, P. 384).
2. "All the forms of the spirit are necessary, and the higher is so only because there is the lower, and the lower is as much to be despised or less to be valued to the same extent as the first step of a stair is despicable or of less value in respect to the topmost step. (P. 384).
3. "If we think of a man, in the first moment that he becomes aware of theoretical life with mind clear of every abstraction and of every reflection in that first purely intuitive instance he must be a poet. (P. 385).

देह-देही रूप में विभक्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्वयंप्रकाश के रहते हुए भी अभिव्यक्ति नहीं है। जिस प्रकार यह कहना असंभव है कि इच्छा तो है किन्तु क्रिया नहीं हो पाती, उसी प्रकार यह कहना भी असंभव है कि हमें स्वयंप्र काश ज्ञान तो है किन्तु हम उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाते।[1] इसी दृष्टि से क्रोचे ने कहा है कि अर्थ को मूर्त्त करने पर ही भाषा वैज्ञिक (एस्थेटिक) बनती है। इसी कारण जब हमें अनुभव होता है तो वह भाषा में व्यक्त हो जाता है। इसी विचित्रता के साथ सदैव नवीन भाषा की सृष्टि होती रहती है, उसमें नवीन अभिव्यंजना आती रहती है। जैसे ही हमें यह अनुभव होता है कि 'यह पत्ती हिल रही है' उसी के साथ-साथ हम उसे 'पत्ती हिलती है' जैसे वाक्य में व्यक्त भी कर देते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ,स्वयं-प्रकाश ज्ञान चाहे जितना गंभीर हो तब भी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। वास्तविक बात तो यह है कि सभी प्रकार का स्वयंप्रकाश ज्ञान एक प्रकार से अभिव्यक्ति भी होता है।

विशुद्ध स्वयंप्रकाश ज्ञान से उत्पन्न होने के कारण ही आर्ट का महत्त्व है। हमारा यह ज्ञान जितना ही विशुद्ध एवं मुक्त होता है उतना ही आर्ट भी सुन्दर होती है।[2] तो भी देखा गया है कि चित्र या काव्य की समालोचना के समय लोग उसकी रसानुप्राणता की ओर विशेष ध्यान देते हैं। यदि किसी काव्य से कवि या शिल्पी के अन्तर्दाह, उसकी गंभीर व्यथा या भावावेश का परिचय मिलता है तो उसके अन्य दोषों पर दृष्टिपात न करके लोग उसपर मुग्ध होते हैं, किन्तु यदि किसी काव्य में भावावेश का अभाव हो तो अन्यान्य गुणों के रहने पर भी वे काव्य या चित्र लोक-प्रसिद्ध नहीं हो पाते। हम रचना में रचयिता के जीवन की गति, उसके भावावेग और उद्वेलित भावसंताप के उभार को देखना चाहते हैं।[3]

---

1. "He alone who divides the unity of the spirit into soul, and body can have faith in a pure act of the soul, and therefore, in an intuition, which should exist as an intuition and yet be without its body, the expression. The expression is the actuality of intuition as action is of the will; and in the same way as will not be exercised into action is not will, so intuition unexpressed is not an intuition.' (Ch- P. 386-Aesthetic).
2. "The doctrine of your intuition makes the value of art to consist of its power of intuition, in such a manner that just in so far as pure and concrete intuitions are achieved will art and beauty be achieved." (Ibid. P. 388).
3. "But if attention be paid to judgments of people of good taste and

क्रोचे ने कहा है कि हम कवि से किसी तत्त्व-विषयक उपदेश की अपेक्षा नहीं करते और न अत्यधिक कल्पना की हीं कामना करते हैं। हम उससे एक ऐसा भावाभिव्यंजक व्यक्तित्व (पर्सनॉलटी) चाहते हैं, जिसके संस्पर्श से श्रोता या पाठक का चित्त भी प्राणमय हो उठे। मनुष्य का व्यक्तित्व, चारित्रिक महत्त्व, धर्मप्राणता आदि अनेक दिशाओं में व्यक्त हो सकता है, किन्तु कवि से हम उस सबकी अभिव्यक्ति नहीं बल्कि उसके तीव्र भावसंवेग की अभिव्यक्ति चाहते हैं। फिर चाहे वह भावसंवेग सुखमय हो या दुःखमय। वह उत्साहव्यंजक भी हो सकता है और कपट तथा धूर्ततापूर्ण भी। कवि हो या चित्रकार उसकी रचना इन्हीं भावसंवेगों से परिपूर्ण रहती है। इन्हीं भावसंवेगों के आन्दोलन की गंभीरता या तीव्रता ही कवि के चित्त का स्वरूप प्रकट करती है। जब इस प्रकार का कोई स्थायी रस अभिव्यक्त नहीं होता तो कवि के चित्त को और साथ ही उसके व्यक्तित्व को हानि पहुँचती है और उसका काव्य भी निम्न कोटि का होता है।[1]

बहुत-से विचारकों का कथन है कि उच्चकोटि के कवि अपनी रचना में अपने स्वभाव को प्रच्छन्न रख सकते हैं। उनकी रचनाओं से उनके निवास-स्थान, जीवन तथा रुचि-अरुचि का तनिक भी पता नहीं चलता। वह जो कुछ छोड़ जाते हैं वह सर्वसाधारण या सर्वजनभोग्य होता है। इस प्रकार अपने व्यक्तित्व की उपेक्षा करना ही महान् चित्र या शिल्प की विशेषता होती है। क्रोचे का इस मत से

---

critics and what we all say when we are warmly discussing works of art and manifesting our praise or blame of them, it would seem that what we seek in art is something quite different or at least something more than simple force and intuitive and expressive purity. What pleases and what is sought in art what makes beat the heart and enraptures the admiration is life, moment, emotion, warmth, the feeling of the artist. This alone affords the supreme criterion for distinguishing true from false works of art, those with in-sight from the failures." (P. 388-89).

1. "We do not ask of an artist instructions as to real facts and thoughts nor that he should astonish us with the richness of his imagination, but that he should have a personality, in contact with which the sentiment of the spectator or hearer may be heated. A personality of any sort is asked for in this case; its moral significance is excluded; let it be sad or glad, enthusiastic or distrustful, sentimental or sarcastic, benignant or malign, but it must be a soul. Art criticism would seem to consist altogether in determining if there be a personality in the work, of art and of what sort. A work that is a failure is an incoherent work, that is to say, a work in which no single personality appears but a number of disaggreegated and jostling personalities, that is, really, none."

विरोध नहीं है। वह मानते हैं कि व्यक्तित्व एकरूप नहीं होता। मानव के स्वार्थजनित लोभ-मोहादि व्यक्तित्व के अनेक अंग होते हैं। साथ ही व्यक्तित्व का एक यह भी रूप होता है जो व्यक्तिगत संकीर्ण जीवन से बचा रहकर नदी की स्वच्छन्द धारा के समान प्रवाहित होता है। भावों का स्वच्छन्द प्रवाह ही मानव का यथार्थ व्यक्तित्व है। बाहर से संकीर्ण दैनिक जीवन का व्यक्तित्व अनेक बार यथार्थ व्यक्तित्व की धारा को प्लावित, कलुषित और आच्छन्न कर देता है। उस समय उस मिथ्या व्यक्तित्व के प्रभाव से यथार्थ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इसीलिए अन्य समालोचक काव्य में जिस व्यक्तित्व-हीनता की चर्चा करते हैं क्रोचे ने उसी को यथार्थ व्यक्तित्व माना है। हम सीमाबद्ध या संकीर्ण व्यक्तित्व नहीं चाहते, अपितु सीमाहीन, स्वच्छन्दवाही भावसंवेगात्मक व्यक्तित्व चाहते हैं। इस प्रकार के व्यक्तित्व के अभाव में काव्य का काव्यत्व नहीं रह जाता। जिस काव्य या चित्र में कवि या चित्रकार के स्वच्छन्द भावप्रवाह वाला व्यक्तित्व प्रकट नहीं होता, वह चित्र या काव्य हृदयाविष्ट नहीं हो पाता। इसीलिए जिस प्रकार एक ओर विशुद्ध स्वयंप्रकाशज्ञान या अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति सभी प्रकार की आर्ट की प्राणस्वरूप हैं, उसी प्रकार व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी है। उसके अभाव में आर्ट की ही सत्ता नहीं रह जाती।[1] यह तो मानी हुई बात है कि सभी प्रकार की आर्ट में एक अंश उसका रूप-विधायक होता है और दूसरा व्यक्तित्व अथवा भाव-विधायक।

इस प्रसंग में स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि आर्ट मात्र केवल स्वयंप्रकाशज्ञान वाली होती है तो फिर भावसंवेग के प्रकाशन को ही उसका प्राणस्वरूप कैसे माना जा सकता है? ऐसी दशा में हम इन दोनों को विषयवस्तु तथा स्वरूप के रूप में पृथक् नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि यदि विषय (कॅन्टेन्ट) तथा स्वरूप (फॉर्म) में पहले से ही भेद स्वीकार कर लिया जायगा तो फिर उनमें ऐक्य स्थापित न किया जा सकेगा। इसका प्रतिवाद करते हुए क्रोचे ने कहा है कि वस्तुतः आर्ट द्वयात्मक नहीं होती। स्वयंप्रकाशज्ञान मात्र भावसंवेगात्मक होता है। एक के रहने पर दूसरे का न रहना संभव नहीं है। विशुद्ध स्वयंप्रकाशज्ञान का लक्षण ही यह है कि वह सब प्रकार की सामान्य कल्पना से वर्जित रहता है। क्रोचे के इस मत के सम्बन्ध में यह संदेह अवश्य प्रकट किया जा सकता है कि क्या कोई ऐसी वस्तु हो सकती है जो समस्त कल्पनाओं

1. Thus it is without doubt that if pure intuition (and pure expression, which is the same thing) are indispensable in the work of art, the personality of the artist is equally indispensable.

से वर्जित होकर भी कल्पनास्वरूप हो ? इसके उत्तर में क्रोचे ने यह स्वीकार किया है कि केवल भावसंवेग की ही यह विशेषता होती है कि उसकी ऐसी अनुभूति हो सकती है। स्वयंप्रकाशज्ञान या आन्तर अनुभूति ही हमारी आत्मा की नाना अवस्थाओं या उसके स्वभाव को प्रकाशित करती है। यह आत्मस्थ अवस्था भावसंवेग के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती।[1] आश्चर्य का विषय है कि क्रोचे ने जिस प्रकार एक ओर केवल भावसंवेग को आत्मा की अवस्था माना है, दूसरी ओर उसी प्रकार उन्होंने प्राकृतिक दृश्य को भी आत्मा की अवस्था के रूप में स्वीकार कर लिया है। वह तो यहाँ तक स्वीकार करते हैं कि हमारे द्वारा दुःख या आश्चर्य में व्यक्त 'आह' या 'ओह' तक से एक विशाल काव्य के निर्माण की संभावना की जा सकती है।[2]

क्रोचे ने अपने द्वारा पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों का पुनः विचार करके उनमें संशोधन उपस्थित किया है। पहले कई स्थलों पर उन्होंने कहा था कि जब हमारी कल्पनावृत्ति के द्वारा हमारे मन के सामने कोई मूर्त्त छवि उपस्थित हो जाती है उस समय वह वैद्यिक (ऐस्थेटिक) या कलात्मक (आर्टिस्टिक) कहलाती है। इस तरह उन्होंने कल्पना के दो विभाग किये हैं। एक है स्वच्छन्द कल्पना (फ़ैन्सी) जो समस्त इच्छाओं से विमुक्त रहकर हमारे मन में स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होती है, और दूसरी है ऐच्छिक कल्पना (इमैजिनेशन) जो हमारी इच्छा पर निर्भर है। इस वृत्ति के प्रयोग द्वारा हम अपने चित्त के सम्मुख कोई मूर्त्त छवि उपस्थापित कर सकते हैं। हम पहले क्रोचे की आलोचना में संकेत कर चुके हैं कि ऐच्छिकवृत्ति के द्वारा उपस्थापित सामान्यसंसर्गवर्जित मूर्त्त छवि को स्वयंप्रकाश-ज्ञान, कलात्मक अथवा वैद्यिक कहते हैं, किन्तु यहाँ क्रोचे कहते हैं कि केवल स्वच्छन्दवाही कल्पना ही हमारी आत्मा की भावसंवेगात्मक आन्तरिक अवस्था को

---

1. Now the truth is precisely this :—pure intuition is essentially lyricism...... When we consider the one attentively, we see the other bursting from its bosom, or better, the one and the other reveal themselves as one and the same...Pure intuition, then, since it does not produce concepts, must represent the will in its manifestations, that is to say, it can represent nothing but states of the soul. And states of the soul are passionality, feeling, personality which are found in every art and determine its lyrical character. Where this is absent art is absent, precisely because pure intuition is absent, and we have at the most, in exchange for it, that reflex, philosophical, historical or scientific.
2. A landscape is a state of the soul ; a great poem may all be contained in an exclamation of joy, of sorrow, of admiration, or of lament.

प्रकट कर सकती है और ऐच्छिक संकल्प के द्वारा वैसा नहीं हो सकता। उससे न तो भावसंवेग ही प्रकट हो सकता है न आत्मा की अवस्था ही। अतएव ऐच्छिकवृत्ति निष्पन्न अनुभूति को कलात्मक या वैद्धिक नहीं कहा जा सकता। साथ ही उसके परिणाम को भी स्वयंप्रकाशज्ञान अथवा अभिव्यक्ति नहीं कहेंगे।[1] १६०८ ई० में हाइडलबर्ग में एक वक्तृता में अपने पूर्व-सिद्धान्तों का अपलाप करते हुए क्रोचे ने यह निश्चय किया कि आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति आत्मा की अवस्था का प्रकाश ही है और वही वैद्धिक स्वयंप्रकाशज्ञान भी है। किन्तु वह यह साफ़ तौर पर न बता सके कि आत्मावस्था के स्वच्छन्द प्रवाह में मूर्त्त छवि कैसे उपस्थित हो जाती है अथवा यदि केवल भावसंवेग ही आत्मा की अवस्था के परिचायक हैं तो भाषा अथवा मूर्त्ति मात्र के द्योतक शब्द किस प्रकार वैद्धिक कहला सकते हैं ? उनका कथन है कि हमारी आँखों के सामने पड़नेवाले नदी या पर्वत आदि के दर्शन को वैद्धिक स्वयंप्रकाशज्ञान नहीं कहा जा सकता। उसे केवल ऐन्द्रियक ज्ञान कहेंगे। वह ज्ञान बाहरी वस्तुओं से प्रभावित होने के कारण संकीर्ण होता है, इसीलिए इसे वैद्धिक नहीं कहा जा सकता। एक बात और, मनुष्य जिन इच्छाओं, अभिलाषाओं, आकांक्षाओं अथवा जीवन-प्रेरणाओं का वर्तमान में अनुभव करता है वे ही भविष्यत् में हर्ष, शोक, भय, उत्साह आदि भावसंवेग का रूप धारण करके उपस्थित नहीं होतीं या हो सकतीं, उन्हें पुनः उस रूप में उपस्थित करना संभव नहीं जान पड़ता। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि कवि अपने हर्ष, शोकादि भावसंवेगों को किस प्रकार ग्रहण करता है कि उसके चित्त में उनकी छवि मूर्त्तित हो उठे ? इसका समाधान क्रोचे ने यह कहकर किया है कि कवि या चित्रकार पूर्वानुभूत भावसंवेग या रस आदि पर ध्यान देकर उन्हें अपने चित्त रूपी दर्पण में आँक लेता है। इसी ध्यानशक्ति के कारण उसकी रचना वैद्धिक सर्जन-क्रिया कहलाती है। यही कारण है कि जीवन के क्षणभंगुर

1. The image given as an instance and every other image that may be produced by the imagination not only is not a pure intuition, but it is not a theoretic product of any sort. It is a product of choice, as was observed in the formula used by our opponents ; and choice is external to the world of thought and contemplation. It may be said that imagination is a practical artifice or game, played upon that patrimony of images possessed by the soul ; whereas the fancy, the translation of practical into theoretical values of states of the soul into images is the creation of that patrimony itself. From this we learn that an image which is not an expression of a state of the soul is not an image, since it is without a theoretical value.

होते हुए भी वैद्विक सृष्टि को नित्य माना गया है। [1]

क्रोचे के इस कथन का अभिप्राय यह है कि हम वैद्विक व्यापार द्वारा अनुभूत नाना प्रकार के रस या भावसंवेग आदि की अपनी संकल्पदृष्टि के प्रभाव से लोकोत्तर रूप में पुनः सृष्टि कर सकते हैं। यह नवीन अलौकिक सृष्टि ही आर्ट की सृष्टि कहलाती है। इसके इसी स्वरूप के कारण ही इसे नित्य मानते हैं। इस प्रकार जिसके चित्त में प्रकाशन के योग्य भावसंवेग आदि नहीं हैं, वह कवि या चित्रकार नहीं बन सकता। कवि या चित्रकार बनने के लिए इन्हें अनिवार्य रूप से होना चाहिए। हृदय में अनुभूत न होनेवाली स्थिति को केवल ऐच्छिक संकल्प द्वारा प्रकाशित करने का प्रयत्न करने पर भी वह वैद्विक नहीं बन सकती। "His must be a state of the soul, really experienced not merely imagined, because imagination, as we know, is not a work of truth."

यहाँ तक हमने यथासंभव संक्षेप में क्रोचे के मत को उपस्थित किया है। अब हम उसकी कुछ आलोचना भी करेंगे। पहले हम क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित स्वयंप्रकाशज्ञान के सम्बन्ध में विचार करेंगे। संभव है कि विशद रूप से समझाने का प्रयत्न करने पर भी हम उनके मत को स्पष्टतया न समझा सके हों। क्रोचे ने कहा है कि इंटुइशन एक आन्तर-व्यापार से उत्पन्न ज्ञान है। यह आन्तर-व्यापार हमारी स्वेच्छा से नहीं, बल्कि स्वच्छन्द रूप से उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में क्रोचे ने अपने ग्रन्थ में नाना स्थलों पर परस्पर विरोधी मत दिये हैं। यद्यपि उन्होंने यह कई बार कहा है कि यह व्यापार एकान्ततः आन्तर होते हैं, फिर भी उन्होंने यह भी मान लिया है कि बहिर्जगत् के प्रभावों (इम्प्रेशन्स) की धारणा ही वैद्विक अनुभूति कहलाती है। इस सम्बन्ध में कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। जैसे, यदि यह माना जाय कि अन्तर्जगत् की वैद्विक अनुभूति बाह्य जगत् के प्रभावों से निरपेक्ष रहकर उत्पन्न नहीं होती, तो इस प्रकार संचालित

1. A life lived, a feelig felt, a volition willed are certainly impossible to reproduce, because nothing happens more than once, and my situation at the present moment is not that of any other being, nor is it mere of the moment before, nor will be of the moment to follow. But Art remakes ideally and ideally expresses my momentary situation. Its image, produced by art, becomes separated from time and space, and can be again made and again comtemplated in its ideal-reality from every point of time and space. It belongs not to the world but to the super-world ; not to the flying moment but to eternity. Thus, life passes, art endures.

व्यापार के लिए प्रभाव-विशेष को कारण माने बिना नहीं रहा जा सकता । इसी प्रकार यदि आन्तर-व्यापार के आन्तरिक स्वरूप से ही विशुद्ध अनुभव की उत्पत्ति न मानें तो भी यह बताना कठिन ही है कि बहिःप्रभाव-व्यापार आन्तर-व्यापार में किस रूप में सहायक होता है । ऐसे ही यदि बहिःस्पर्श की सहायता स्वीकार न करें तो उससे निरपेक्ष आन्तर-व्यापार की असिद्धि का कारण भी नहीं बताया जा सकता । साथ ही यह भी एक प्रश्न उपस्थित होगा कि आखिर स्वयंप्रकाशज्ञान के रहते हुए प्रभाव (इम्प्रेशन्स) की आवश्यकता क्यों होगी ? न यही बताया जा सकता है कि प्रभाव या संस्कार की सृष्टि स्वयंप्रकाशज्ञान के व्यापार द्वारा होती है । स्वयंप्रकाशज्ञान में ध्यान-व्यापार द्वारा प्रस्तुत वस्तु-स्पर्श का ग्रहण, वर्जन, पोषण आदि तो स्वीकार किया गया है, किन्तु उस ग्रहण आदि की प्रक्रिया में विभिन्न-जातीय स्पर्शों की सृष्टि नहीं बताई गई है । क्रोचे ने वीक्षा-व्यापार (इनट्यूटिव-एक्टीविटी) तथा अन्वीक्षा-व्यापार (लॉजिकल-एक्टीविटी) के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार की चर्चा नहीं की है । अतएव हम संस्कारों के उद्भव के सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सकते । वीक्षा तथा अन्वीक्षा दोनों ही आन्तर-व्यापार हैं और उनमें भी वीक्षावृत्ति ही आदिवृत्ति है । इसके द्वारा उपस्थापित न होने पर अन्वीक्षावृत्ति उपादान रूप में कार्यकरी नहीं हो सकती । अतएव अन्वीक्षा के द्वारा कोई भी संस्कार-सृष्टि संभव नहीं है । फिर यह संस्कार आता कहाँ से है ? क्रोचे ने केवल इतना ही बताकर छोड़ दिया है कि इसके अभाव में वीक्षावृत्ति भी कार्यकरी नहीं हो सकती । वीक्षावृत्ति-व्यापार के सम्बन्ध में क्रोचे ने बराबर कॅन्टेमप्लेशन शब्द का व्यवहार किया है, जिससे ध्यानजातीय किसी व्यापार का संकेत मिलता है । किन्तु साधारणतः 'ध्यान' शब्द का प्रयोग करने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे तैलधारा के समान किसी गृहीत वस्तु का पुनः ग्रहण किया जा रहा हो । कॅन्टेम-प्लेशन तथा ध्यान दोनों व्यापार एक हैं । सभी व्यापारों में पूर्वापर क्रम अवश्य होता है । इस प्रकार पूर्वापर क्रम से घटित होनेवाली घटना को ही व्यापार कहते हैं । ऐसी दशा में यदि स्वयंप्रकाशज्ञान को भी व्यापार ही मानें तो उसका परिणाम भी पूर्वापर क्रम से दीख पड़ेगा । अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि उसके द्वारा गृहीत वस्तु में पूर्वापर नहीं रहता, अवयव नहीं होते या वह केवल एक अखण्ड वस्तु है । क्रोचे ने अनेक जगहों पर उसके अलौकिकत्व की कठोर आलोचना की है । उन्होंने कई बार कहा है कि लोग बुद्धि-मन्दता या बुद्धि की दरिद्रता के कारण ही किसी वस्तु को अलौकिक कहते हैं । उन्होंने कहा है कि संस्कारों का विशोधन, परिवर्तन या परिवर्द्धन करने का काम वीक्षा-व्यापार का है । तथापि

उन्होंने यह नहीं बताया कि इस कार्य के लिए वीक्षा-वृत्ति किस प्रणाली का अवलम्बन करती है अथवा कौन-सा उद्देश्य लेकर इस प्रणाली का सहारा लिया जाता है। जिस संस्कारात्मक उपादान को लेकर अन्तरात्मक वीक्षा-व्यापार काम करता है वह किस जाति का है, बहिर्जागतिक है कि अन्तर्जागतिक अथवा यदि वह बहिर्जागतिक है तो अन्तर्जागतिक वीक्षा-व्यापार का उससे क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में तो उन्होंने कुछ कहा ही नहीं है साथ ही यह भी नहीं बताया है कि इन दोनों में सम्मिलन की भी संभावना है कि नहीं। अन्तर्जागतिक व्यापार के साथ बहिर्जागतिक किसी वस्तु या तत्त्व का संयोग क्रोचे को स्वीकार नहीं है। वह वीक्षामूलक तथा अन्वीक्षा-मूलक दोनों को अन्तर्जागतिक व्यापार मानते हैं। वीक्षा-व्यापार से गोचर होने से पूर्व संस्कारों (इम्प्रेशन्स) में किसी ज्ञेयत्वधर्म की स्थिति न होने के कारण उसका ज्ञान नहीं होता, अतएव उसे अन्तर्जागतिक भी नहीं कह सकते। उसके इस प्रकार ज्ञानगम्य न होने पर भी न मालूम क्रोचे उसके अस्तित्व के प्रति इतना विश्वास कैसे प्रकट करते हैं ? एक बात यह भी है कि वह संस्कारों को स्वरूपतः भिन्न मानते हैं, अतएव केवल उन्हीं को महत्त्व भी नहीं दिया जा सकता। साथ ही जबतक वीक्षा-व्यापार का प्रयोग न किया जाय तबतक उनकी विभिन्नता का पता भी कैसे चलेगा ? भेद के साथ सामान्यधर्म लगा रहता है, अतएव सभी प्रकार का भेद अन्वीक्षा-व्यापारगम्य होता है। सामान्यधर्म के अभाव में भेद नहीं रहता, अतएव उसके ज्ञान के अभाव में भेद का पता ही नहीं चलता। अज्ञेय होने पर भी इन संस्कारों पर प्रायः अन्वीक्षावृत्ति का प्रयोग किया जाता है। परन्तु क्रोचे ने बार-बार कहा है कि यदि कोई वीक्षावृत्ति का प्रयोग करके किसी वस्तु का स्वरूप नहीं जान पाता तो वह उसे समझने के लिए अन्वीक्षावृत्ति का प्रयोग भी नहीं कर सकता। वीक्षावृत्ति ही अन्वीक्षा के लिए सामग्री उपस्थित करती है। अन्वीक्षा के अभाव में वीक्षा का होना संभव है, किन्तु वीक्षा के अभाव में अन्वीक्षा नहीं होती। फिर भी क्रोचे ने अप्रामाणिक होते हुए भी यह स्वीकार कर लिया है कि वीक्षावृत्ति द्वारा संस्कार का ज्ञान होने से पहले ही अन्वीक्षावृत्ति के द्वारा उनके बहुत्व अथवा भिन्नत्व का ज्ञान हो सकता है। यदि यह मान लिया जाय कि अज्ञेय अन्तः संस्कारों (इम्प्रेशन्स) का वीक्षावृत्ति के प्रयोग से संशोधन और परिवर्द्धन होता है तो उससे पूर्व ही उनके किसी विशिष्ट रूप की भी सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। फिर यह बताना कठिन हो जायगा कि उनका यह स्वलक्षण धर्म किस जाति का है। आन्तरक्रिया के द्वारा बाह्यजातीय स्वलक्षण धर्म का कोई परिवर्तन संभव नहीं होता, अतएव

यह धर्मसमूह बाह्यजातीय तो हो ही नहीं सकता। दूसरी ओर इसे क्रोचे के अनुसार ही आन्तरजातीय भी नहीं मान सकते, क्योंकि उनके अनुसार जिसकी उत्पत्ति वीक्षा या अन्वीक्षा से नहीं होती वह आन्तरधर्म नहीं कहला सकता। यह भी इन दोनों शक्तियों से प्रसूत नहीं माना गया है। अतः इसे आन्तरधर्म नहीं कह सकते। इसी प्रकार सुन्दर के सम्बन्ध में क्रोचे की धारणा है कि वीक्षा-वृत्ति से जन्म न होने पर किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, अतएव यदि सौन्दर्य का ज्ञान होता है तो वह अवश्य ही वीक्षावृत्ति-प्रसूत होगा और ऐसी दशा में उसे बाह्य नहीं कहा जा सकेगा। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान रखने की है कि यद्यपि क्रोचे वीक्षावृत्ति की सहायता के बिना भी संस्कार-परिशोधन के द्वारा वैक्षिक ज्ञान की सिद्धि मानते हैं, तथापि उन्होंने यह बताने का तनिक भी कष्ट नहीं उठाया है कि आखिर सौन्दर्य या सौन्दर्यबोध के लिए किस जाति के संस्कार कारण रूप में उपस्थित होते हैं, वह कौन-से संस्कार हैं जिनसे सौन्दर्यबोध होता है। बड़ी भारी त्रुटि तो यह है कि यहाँ सौन्दर्य, सौन्दर्यबोध तथा सौन्दर्यसृष्टि तीनों को एक ही मान लिया गया है, जो ठीक नहीं है। क्रोचे तो यह भी नहीं बता सके हैं कि वीक्षावृत्ति के द्वारा किस प्रकार का संशोधन होता है। वस्तुतः संशोधन का अर्थ है किसी अपरिष्कृत का परिष्कार करना अथवा किसी वस्तु के साथ लगी हुई किसी अनुपयोगी वस्तु को दूर करना। इस दृष्टि से देखें तो क्रोचे का यह कहना विचित्र-सा ही मालूम होता है कि किसी वस्तु के परिष्कार के द्वारा किसी अज्ञात वस्तु का भी ज्ञान हो सकता है। अज्ञात से ज्ञात की ओर बढ़ने की प्रक्रिया ज्ञात या अज्ञात दोनों क्षेत्रों से भिन्न होती है, जब कि परिष्कार, परिवर्तन या परिवर्द्धन एक लोक-व्यापार मात्र होता है। अज्ञात से ज्ञात की ओर बढ़ने में एक प्रकार की सर्वथा नवीन अभिव्यक्ति जन्म लेती है, किन्तु परिष्कार या परिवर्तन के समय ऐसा नहीं होता। फिर भी क्रोचे मानते हैं कि अज्ञात संस्कार वीक्षावृत्ति के द्वारा परिष्कृत होकर ज्ञात और अभिव्यक्त हो जाते हैं। सारांश यह है कि क्रोचे ने अतिजटिल तथा अतिसंदिग्ध विचारों को अयौक्तिक ढंग से प्रस्तुत करके अद्भुत साहस का ही परिचय दिया है। इस प्रकार का आत्मविश्वास निश्चय ही दुर्लभ है।

क्रोचे ने कहा है कि वीक्षा-व्यापार के द्वारा हमारे चित्त रूपी पट पर एक छवि मूर्त्तित हो जाती है। यह छवि अखण्ड होने के साथ ही सामान्यधर्मवर्जित एवं विशेष स्वरूप वाली होती है। सामान्यधर्म से वर्जित होने पर भी विशेष स्वरूप वाली होने के कारण ही इसे स्वलक्षण और निर्विकल्प कहा जाता है। नाम तथा

जाति आदि का पृथक् उल्लेख न होने के कारण एक प्रकार का अस्पष्ट-सा ज्ञान होता है। यही निर्विकल्प ज्ञान है। यह अस्पष्ट-बोध ही सौन्दर्य या सुन्दर कहलाता है। क्रोचे को ऐसी धारणाओं के प्रति विद्रोह किये बिना मन नहीं मानता। क्रोचे की उक्तियों में अन्तर्विरोध की तो कमी ही नहीं है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि सामान्य-संश्लेष-वर्जित अखण्ड अनुभूति ही सौन्दर्य कहलाती है। दूसरे स्थल पर वह कहते हैं कि सौन्दर्य का अनुभव ही भाषा के रूप में व्यक्त हो उठता है। इस प्रकार अनुभूति और भाषा दोनों अभिन्न होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'भाषा' शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से शब्द, सुर, अंगभंगी तथा रंग आदि सभी के लिए किया है। क्रोचे ने बताया है कि जब हम कहते हैं 'यह नदी है' 'यह फूल है', या 'यह पर्वत है' तब हमारे चित्त में एक छवि मूर्त्त-रूप धारण कर लेती है। यही वैद्विक ज्ञान है, यही सुन्दर है। किन्तु सही बात यह है कि हम इस प्रकार अपने चित्त में अंकित किसी मूर्त्त छवि का निर्विकल्प रूप ही नहीं देखते अपितु 'पहाड़' कहने पर हमें पहाड़ सामान्य का भी बोध होता है और पर्वत-विशेष की अभिव्यक्ति भी हुआ करती है। किसी सामान्य धर्म का ज्ञान न होने पर तो पृथक् रूप से पहाड़ आदि का भी बोध नहीं हो सकता। इसी सामान्य या जाति को क्रोचे प्रमा (कॅन्सेप्ट) कहते हैं। उनका कथन है कि भिन्नता में एकता की प्रतीति ही प्रमा कहलाती है। अतएव प्रमा या जाति कहने से किसी एक मूर्त्ति मात्र का बोध नहीं होता, बल्कि उससे सर्वमूर्त्तिसाधारण एक सामान्य मात्र का पता चलता है।[1] सामान्य (कन्सेप्ट) तथा सामान्याभास (सेन्डो-कॅन्सेप्ट) में भेद दिखाते हुए क्रोचे ने कहा है कि जिस व्यक्तिसमूह से संगठित रूप में एकमात्र अविभाज्य जाति का बोध होता है वह सामान्य या जाति कहलाता है, किन्तु जिससे उनके पारस्परिक मिश्रण का पता चलता रहता है और जिसे गिनकर बताया जा सकता है या जिसके आदि-अन्त के सम्बन्ध में पता रहता है उस जाति को जात्याभास या सामान्याभास कहते हैं। उदाहरणतः, गृह कहने से जिस गृहत्व सामान्य का बोध होता है, वह सामान्याभास मात्र है, क्योंकि घर चाहे जितने भी हों वे सब गिने जा सकते हैं और उनका आदि भी होता है। मनुष्य

1. A true and proper concept, precisely because it is not representation, cannot have for content any single representative element, or have reference to any particular reprepresentation or group of representations ; but on the other hand, precisely because it is unusual, in relation to the individuality of the representation, it must refer at the same time to all and to each. Take as an example any concept of universal character, be it of quality, of development, of beauty or of final cause (Logic, page 20).

केजन्म से पूर्व घर नहीं थे अतः उनका आदि है। वे चाहे जितने भी हों गिने भी जाते हैं।[1]

नित्य-सत्य या असंख्येय वस्तु के सामान्य सत्य को ही यथार्थ सामान्य या जाति कहते हैं। इसके विपरीत अनित्य-सत्य या संख्येय-सत्य के सामान्य को समान्याभास कहा जाता है। यह सामान्याभास शब्दानुपाती वस्तुशून्य विकल्प मात्र होता है। इसकी यथार्थ सत्ता नहीं होती और केवल भाषा-व्यवहार के सौकर्य के लिए ही इसका व्यवहार किया जाता है। इन दोनों सामान्यों में से किसी को भी ग्रहण किया जाय किन्तु 'यह पर्वत है' या 'यह नदी है' आदि सामान्य का व्यवहार किये बिना काम नहीं चलता और न उसके अनुकूल मूर्ति ही ग्रहण की जा सकती है। किसी मूर्त्ति-विशेष को जब 'इदमित्थं' के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है तो यह ज्ञान भी हुए बिना नहीं रहता कि 'यह इस प्रकार की नहीं है'। हम जबतक किसी वस्तु के अनेक रूपों के समवेत रूप से परिचित नहीं हो जाते तबतक उस वस्तु-विशेष का नाम निर्धारित नहीं किया जा सकता। सकल अंगोपांग सहित एक समष्टिरूप में जान लेने पर ही हम किसी वस्तु को किसी विशेष नाम से पुकारते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यदि वीक्षावृत्ति के द्वारा केवल सामान्य के संकेत से वर्जित किसी विशेष का ही बोध होता है तो हमारे विचार से उस निर्विकल्प विशेष का भी स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। यहाँ तक कि उसकी द्योतक भाषा का भी प्रयोग नहीं किया जा सकता। क्रोचे ने इस विषय को सतर्क और स्पष्ट रूप में समझाने का प्रयत्न ही नहीं किया है कि विशुद्ध वीक्षावृत्ति के प्रयोग से सामान्यवर्जित अवस्था में भी भाषामय अभिव्यक्ति किस प्रकार संभव हो सकती है।

हमने पहले इस बात का संकेत किया है कि क्रोचे भावसंवेग या सुख-दुःखानुभूति को स्वतंत्र-वृत्ति-सापेक्ष नहीं मानते। वेदना (फीलिंग) को उन्होंने किसी विशेष या सामान्य के साथ आविर्भूत एक विषय रूप मात्र माना है और एक दूसरे स्थल पर उन्होंने उन्हें हमारी आत्मा की अवस्था बताया है। वीक्षावृत्ति के फलस्वरूप होनेवाले अन्तर्दर्शन या आन्तर अनुभूति को भी उन्होंने उसी प्रकार आत्मा की अवस्था कहा है।

1. If you think of the house, we refer to an artificial structure of stone, or masonry, or wood, or iron, or straw, where beings, whom we call men, are wont to abide for some hours or for entire days or entire hours. Now, however great may be the number of objects denoted by that concept, it is always a finite number ; there was a time when man did not exist. when, therefore, neither did his house ; and there was another time when man existed without his house, living in caverns and under the open sky.

प्रश्न यह है कि यदि दोनों ही आत्मा की अवस्थाएँ हैं तो यह समझ में नहीं आता कि क्रोचे किस आधार पर वैह्निक व्यापार को एक मौलिक आन्तर-व्यापार (थ्योरेटिक एक्टिविटी) मानकर भी दूसरे को उस अधिकार से वंचित रखना चाहते हैं। क्रोचे के मत से इस बात का भी पता नहीं लगता कि जो आन्तर-व्यापार भावसंवेग-निरपेक्ष रहकर पूर्वगृहीत स्पर्शों या अन्तःसंस्कारों का परिष्कार करने में सहायक सिद्ध होता है वही संवेगों से सम्बन्धित परिष्कृत प्रमा को भी किस प्रकार जन्म दे सकता है। जब उस आन्तर-व्यापार का एक बार भावसंवेगों या वेदना से निरपेक्ष रूप स्वीकार कर लिया गया है तब उन्हें उन्हीं के सम्बन्ध में प्रयुक्त करना उचित नहीं जान पड़ता। ऐसी दशा में वह भावसंवेग या वेदना से सम्बन्धित प्रमा को उत्पन्न नहीं कर सकता। एक अन्तर्विरोध यह भी दीखता है कि यदि भावसंवेग भी आत्मा की अवस्था के सूचक होते हैं तब यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि विशुद्ध एवं परिष्कृत अन्तःसंस्कार भी उसी आत्मा की अवस्था हैं। यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जायगा तो आन्तर-व्यापार भावसंवेग-निरपेक्ष रूप में अन्तःसंस्कारों का परिष्कर्त्ता स्वीकार न किया जा सकेगा। पहले भी यह बताया गया है कि वैह्निक-व्यापार के द्वारा गृहीत मूर्त्त छवि विभिन्न इन्द्रिय-ज्ञानों के परिष्करण का ही परिणाम है। इस प्रकार इसे भी आत्मावस्था नहीं कहा जा सकता। इसी के साथ यह प्रश्न भी उपस्थित किया जा सकता है कि यदि हम पूर्व संस्कारों के परिवर्द्धन या परिष्करण को ही वैह्निक-व्यापार मानें और यह स्वीकार करें कि अन्तरानुभूत विषय ऐन्द्रियक-प्रतीति-निरपेक्ष होता है तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि इस प्रकार के वैह्निक-व्यापार का परिणाम ही आत्मा की मौलिक अवस्था होता है। वास्तविकता तो यह है कि ऐन्द्रियक संस्कार जिन्हें हम बाद में वैह्निक-व्यापार द्वारा ग्रहण करते हैं मूलतः अज्ञात रहते हैं और इसीलिए वे आत्मा की अवस्था न होकर बाह्यात्मक होते हैं। अतएव वैह्निक-व्यापार के परिणाम को आत्मा की मूल अवस्था का द्योतक नहीं माना जा सकता। क्रोचे ने वैह्निक-व्यापार को मन की आदिम वृत्ति स्वीकार किया है, अतएव ऐन्द्रियक संस्कारों को चाहे वे किसी भी रूप में क्यों न प्रतीत हों, आत्मा के वैह्निक-व्यापार का पूर्ववर्ती स्वीकार करना ही पड़ेगा और इसके परिणामस्वरूप यह भी मानना ही होगा कि उनसे आत्मा के स्वरूप अथवा उसकी अवस्था का तनिक भी संकेत नहीं मिलता। इस प्रकार संस्कारों की आत्मा की अवस्था के रूप में परिणति की संभावना नहीं जान पड़ती। यदि भावसंवेग आदि को आत्मा से निःसृत प्रवाह के रूप में अंगीकार किया जाय तो उसकी जनक आत्मा की भी विशेष वृत्ति

स्वीकार करनी पड़ेगी। साथ ही उस वृत्ति के साथ वीक्षावृत्ति का सम्बन्ध भी दिखाना पड़ेगा। किन्तु क्रोचे ने न तो इनमें से किसी को अंगीकार ही किया है, न इस प्रकार इन्हें समझाने का प्रयत्न ही किया है। भावसंवेग के प्रसंग में उन्होंने परसॉनालिटी शब्द का व्यवहार किया है। हम इसे पुरुष, पौरुषेय अथवा व्यक्ति या व्यक्तित्व कह सकते हैं। किन्तु पुरुष या पौरुषेय कहने से हम भावसंवेग तथा वेदनानुभूति को भली भाँति न समझ सकेंगे। यदि हम क्रोचे के समान इससे केवल पुरुषीय भावसंवेग या वेदनानुभूति का ही अर्थ ग्रहण करें तब भी यह कहना संभव नहीं है कि वेदनात्मक पुरुष को किसी विशिष्ट प्रणाली की सहायता से खण्डशः विभाजित करके देखा जा सकता है। क्रोचे ने कहा है कि भावसंवेग से अनुस्यूत कला व्यक्तिधर्म से वर्जित रहती है, उससे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की स्वानुभूत विशिष्टता का सम्बन्ध नहीं रहता। भिन्न व्यक्तियों के अपने-अपने वैशिष्ट्य से बचकर केवल अनुभूति-सामान्य को ग्रहण करने पर ही कला में सामान्य-धर्म की प्रतिष्ठा की जा सकती है। सामान्यधर्म-युक्त कहने पर, वह वैद्धिक-व्यापार के अन्तर्गत ग्रहण की जाती है। पुरुष-विशेष से असम्बद्ध, किन्तु सभी व्यक्तियों में विद्यमान संवेगानुभूति को जाति या जात्याभास के अतिरिक्त और कहा भी क्या जा सकता है? क्रोचे का कला में व्यक्तित्व (परसॉनालिटी) के प्रतिफलन का यह अभिप्राय है कि उसमें हमारे भाव व्यक्तिगत स्वार्थजनित भावों से अलग होकर, घृणा, ईर्ष्या या प्रेम के व्यक्तिगत स्वरूप से सर्वथा मुक्त रूप में इस प्रकार व्यक्त होते हैं कि उनसे दूसरे व्यक्ति में भी एक चेतना फूँक दी जाती है। तभी वे भाव हमारे व्यक्तित्व को कला में यथार्थ रूप में प्रतिफलित करते हैं। एक प्रकार से यह व्यक्तित्व व्यक्ति-निरपेक्ष होता है, इसीलिए सामान्य ढंग का होता है। इस प्रकार सामान्यधर्मात्मक व्यक्तित्व का ज्ञान हो जाने पर भी प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत वैशिष्ट्यपूर्ण सत्ता (परसॉनालिटी) को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके परिणामस्वरूप हमें एक व्यापक या वृहद् सत्ता में बहुरूपिणी सत्ता अथवा अनेक व्यक्तित्वों का सम्मिलन स्वीकार करना पड़ता है। हमें मानना पड़ता है कि अनेक वैशिष्ट्यपूर्ण व्यक्तित्वों का एकत्र संगठन ही एक महान् समष्ट्यात्मक व्यक्तित्व का रूप धारण करता है। हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती, किन्तु क्रोचे इस सम्बन्ध में भी मौन ही हैं। क्रोचे उसी सृष्टि को यथार्थ कला-सृष्टि मानते हैं जो भावोद्बोधन से स्वयं उत्पन्न ही नहीं होती अपितु दूसरों में भी उन भावों का संक्रमण कराकर उन्हें आवेग प्रदान करती है। ऐसी अवस्था में कला-सृष्टि की श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता का निर्णय उसके द्वारा

उद्दीप्त भावसंवेगों के प्रभाव से ही लगाया जा सकता है। जिस रचना से जितना ही अधिक उद्दीपन मिलता है, वह उतनी ही श्रेष्ठ है। यह मानकर भी उन्होंने इसकी मान्यता सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है। उन्होंने यह तो कहा है कि किसी कलाकृति की श्रेष्ठता वीक्षा-व्यापार के मूर्त्त तथा विशुद्ध रूप पर निर्भर रहती है, किन्तु उन्होंने यह बताने का प्रयत्न नहीं किया कि यदि किसी विषय का स्वयंप्रकाशज्ञान अन्य प्रमाओं से विलग होने के कारण नितान्त विशुद्ध रूप में होता है तो उसके परिणामस्वरूप भावसंवेगों का प्रवाह भी बढ़ा हुआ होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि अतिविशुद्ध मूर्त्तानुभूति से ही तीव्र भावसंवेग उत्पन्न होता है। स्वयं क्रोचे इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाल सके हैं। हम यह भले ही मान लें कि अनुभूति के साथ भावसंवेग भी थोड़ा-बहुत मिला रहता है; किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अनुभूति की विशुद्धता के अनुकूल ही भावसंवेग तीव्र या तीव्रतर होते हैं। भावसंवेग के उद्भव के लिए कोई स्वतन्त्रवृत्ति नहीं मानी जाती। अनुभूत मूर्त्ति के साथ ही भावसंवेग विषय रूप में उपस्थित रहते हैं। किन्तु क्रोचे के सिद्धान्त से ऐसी किसी प्रणाली का परिचय नहीं मिलता जो इस विषयरूप की तीव्रता या गंभीरता का वास्तविक पता दे सके। फिर भी वह मानते हैं कि भावसंवेग एक विषयगत धर्म होता है। यदि उनकी यह बात मान ली जाय तो उसकी मूर्त्तछवि को किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है? यों तो यह कहा जाता है कि किसी काव्य में व्यक्त पीड़ा, व्यंग या शृंगार, हास्य तथा करुण आदि रस स्वतन्त्र रूप में मूर्त्तिमान नहीं हो सकते। वे विभवानुभाव-व्यभिचारीभाव के संयोग से ही एक अलौकिक रीति से व्यक्त हो सकते हैं। परन्तु इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी कवि के चित्त में रोषमय या शृंगारमय कोई मूर्त्ति स्थापित हो जाती है अथवा रोष, ईर्ष्या, घृणा आदि भावसंवेग या शृंगार, वीभत्स आदि रसों के विषयगत अथवा नाटकीय चरित्रगत हो जाने पर उनकी स्वतन्त्र मूर्त्ति का अनुभव हुआ करता है। फिर भी क्रोचे का हठ है कि सामान्य-सम्पर्क-विहीन विशेष मूर्त्त अनुभूति के अभाव में सौन्दर्य अथवा कलाकृति की ही सत्ता नहीं रहती। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि क्रोचे स्वेच्छाकृत संकल्प (इमैजिनेशन) तथा स्वच्छन्दप्रवाह कल्पना (फैन्सी) दोनों में भेद स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि केवल स्वच्छन्द प्रवाह कल्पना के द्वारा ही कला की सत्ता स्थिर रह सकती है। वह तो कल्पना की स्वच्छन्दता के अभाव में कला की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, किन्तु हमारी समझ से यह नियम स्वीकार नहीं किया जा सकता की कवि या चित्रकार किसी काव्य या चित्र की

रचना करते हुए भाषा या रंग के माध्यम से केवल स्वच्छन्दप्रवाह को ही व्यक्त रूप देते हैं। जिस प्रकार एक ओर कवि या चित्रकार अपने मन में कृति के लिए उपयोगी स्वच्छन्दवाही भाववर्ग को स्थान देते हैं उसी प्रकार वे मनन-व्यापार द्वारा सौन्दर्य के अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु का भी उस प्रवाह के समय भी ध्यान रखते हैं। वे उसका इच्छाकृत संकल्प के द्वारा नियंत्रण करते रहते हैं। मोज़ार्ट (Mozart) के आत्मविश्लेषण का जो उदाहरण हमने पहले दिया है उससे प्रकट होता है कि चित्त में धारा-प्रवाह प्रतीयमान भावों में से शिल्पी स्वेच्छापूर्वक भावों को ग्रहण करता है। यह ग्रहण-व्यापार स्वेच्छाकृत कल्पना पर आधारित होता है। मूल बात यह है कि यदि कहीं स्वेच्छाकृत कल्पना अधिक न हो और केवल स्वच्छन्दवाही भावों पर ही रचना आधारित हो तो उससे महान् काव्य या चित्र की रचना भी संभव न होगी। जब किसी काव्य आदि के सर्जन के समय भाषा आदि के माध्यम से कवि की अनुभूति मूर्त्त रूप धारण कर लेती है, उस समय उन्हें भावप्रवाह के निवेश के अतिरिक्त अभिव्यक्ति तथा भाव-समूह के समन्वय पर भी ध्यान देना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि किसी भी उत्तम काव्य की रचना के लिए स्वच्छन्दवाही कल्पना की जितनी आवश्यकता है उतनी ही स्वेच्छाकृत संकल्प की भी है।

कलाकृति मात्र में वस्तु (मैटर) और स्वरूप (फ़ॉर्म) दोनों स्वीकार किये जाते हैं, किन्तु क्रोचे ने एक प्रकार से इन भेदों को अस्वीकार ही कर दिया है। वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। कई स्थानों पर तो उन्होंने इसे अज्ञात एवं अज्ञेय संस्कार मात्र बताया है। उनकी धारणा है कि ज्ञात होने से पूर्व ही बाहरी रूप अपने भेदों सहित वीक्षावृत्ति-व्यापार के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। [1] इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि

1. " On the other side and before the inferior boundary is sensation, formless matter, which the spirit can never apprehend in itself in so far as this is mere matter. This it can only possess in form and with form, but postulates its concept as precisely, a limit. Matter, in its abstraction, is mechanism, passivity ; it is what the spirit of man experiences but does not produce. Without it no human knowledge and activity is possible ; but mere matter produces animality ; whatever is brutal and impulsive in man, not the spiritual dominion which is humanity. We do catch a glimpse of something, but this does not appear in the mind as objectified and formed. In such moments it is that we best percieve the profound difference between matter and form. These are not two acts of ours face to face with one another, but we assault and carry off

यदि यही बाहरी रूप या विषय भी अनेक भेदों वाला होता है और इसी के कारण वीक्षावृत्ति के द्वारा अनुभूत प्रत्यय के भेद उपस्थित होते हैं, तो विषय को स्वरूप-हीन (फ़ॉर्मलेस) कैसे कहा जा सकता है। न जाने क्यों क्रोचे वस्तु को जैव-प्रवृत्तिमूलक मानते हैं ? क्योंकि यदि विषय ज्ञान का कारणस्वरूप होता है और ज्ञान के भेद उसी के भेदों के आधार पर उपस्थित होते हैं, तो विषय को जैव-प्रवृत्तिमूलक नहीं मानना चाहिए। जो वस्तु ज्ञान की उपादान है वह पाशव कैसे हो सकती है ? और यदि यह कहें कि ज्ञान के द्वारा विषय के स्वरूप का पता नहीं चलता, वह अज्ञेय और अगम्य है तो यह मानना भी संभव नहीं है कि हम विषय-गत भेदों से उत्पन्न अनुभूतिगत भेदों से परिचित हो सकते हैं। क्रोचे ने स्वविरोधी मत उपस्थित करते हुए एक स्थान पर विषय को यदि एकान्तः अनुभूति का अविषय माना है, तो दूसरे स्थान पर उसी विषय को यत्किंचित ज्ञानगम्य भी स्वीकार कर लिया है। वह मानते हैं कि विषय के सम्बन्ध में हमें अवश्य कभी-कभी अस्फुट आभास-सा प्राप्त हो जाता है, किन्तु उसकी विषयत्व अथवा ज्ञेयत्व संबंधी धारणा नहीं हो पाती। (We do catch a glimpse of something but this does not appear to the mind as objectified and formed.) उनका यह भी कहना है कि ऐसे मुहूर्त्त में वस्तु-विषय तथा उसके स्वरूप का विच्छिन्नबोध भी उत्पन्न होता है, किन्तु वह विच्छिन्नता इस रूप में नहीं दीख पड़ती कि हम दोनों के निकट सम्बन्ध को जानते रहते हों। दोनों बातें एक-साथ नहीं रहतीं। वह विच्छिन्नता कुछ ऐसी है कि वह बाहरी विषय को उसके स्वरूप में प्रस्तुत करती हुई भी उसका एक नवीन स्वरूप उपस्थित कर देती है। अर्थात् हमें एक सर्वथा नवीन रूप की धारणा होती है और इसी स्वरूप में विषय स्वतः समाहित रहता है। वस्तुतः यह बताना भी कठिन है कि 'फ़ॉर्म' शब्द से क्रोचे का वास्तविक अभिप्राय क्या था, कहीं वह फ़ॉर्म को कूटस्थ कॉन्स्टेन्ट बताते हैं और कहीं आध्यात्मिक व्यापार विषय परिवर्तनशील होता है। (" It is spiritual activity while matter is changeable. ") किन्तु जो कूटस्थ है

---

the one that is outside us. While that within us tends to absorb and make its own that without. Matter, attracked and conquered by form, gives place to concrete forms. It is the matter, the content, that differentiates one to our intuitions from another ; form is constant : it is spiritual activity, while matter is changeable. Without matter, however, our spiritual activity would not leave its abstraction to become concrete and real, this or that spiritual content, this or that definite intuition."

वह व्यापार-स्वरूप कैसे हो सकता है ? उनकी यह अनोखी बात समझ में आने योग्य नहीं है। यह ठीक ऐसी ही अनहोनी बात है जैसे कोई त्रिभुज में ही चतुर्भुज की स्थिति स्वीकार करने लगता हो। व्यापार का नाम ही परिवर्तन है, फिर जो वस्तु व्यापारवती है वही कूटस्थ या अपरिवर्तनीय भी कैसे हो सकती है ?

क्रोचे की यह धारणा भी भ्रान्तिपूर्ण है कि विषय तथा उसका विशिष्ट स्वरूप (जिसके आधार पर हमें विषय का ज्ञान होता है) दोनों के भिन्न होते हुए भी उनके सामीप्य का हमें बोध नहीं होता। वह मानते हैं कि इन दोनों का एक मूर्त्त एवं ज्ञानगम्य नवीन रूप उपस्थित हो जाता है। पता नहीं इस नवीन स्वरूप की स्थापना किस प्रक्रिया से होती है।

एक और कठिनाई इस मत में यह जान पड़ती है कि यदि हम क्रोचे के समान यह मान लें कि विषय का आभास प्राप्त करने के साथ ही हम उसे ज्ञेय बनानेवाले उसके विशिष्टस्वरूप को भी जान लेते हैं और दोनों की पृथकता का ज्ञान बना रहता है तब हमारे लिए विषय अज्ञेय कैसे रह सकता है ? हम उसे अज्ञेय किस प्रकार मान सकते हैं ? वीक्षावृत्ति-व्यापार द्वारा ग्रहण किये जाने पर सन्दिग्ध वस्तु का भी ज्ञान हो सकता है। किन्तु क्रोचे का विचार है कि जब हम विषय को ग्रहण करते हैं उस समय उस विषय का सामान्य ज्ञान नहीं बना रहता। यह धारणा हमारी धारणा के एकदम विपरीत ज्ञात होती है। हमारा विचार तो यह है कि जबतक हमें किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, तबतक उस वस्तु का ज्ञान भी नहीं हो पाता। इसी प्रकार जब तक हम उसके सामान्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते तबतक हम उसे विशिष्टस्वरूप में भी नहीं जान पाते। सामान्य ज्ञान के आधार पर ही विशिष्टज्ञान हो सकता है और वस्तु के स्वरूप की धारणा से ही वस्तु जानी जाती है। इस दृष्टि से विचार करें तो क्रोचे का मत अन्तर्विरोध-युक्त जान पड़ता है। क्रोचे वीक्षा-व्यापार को स्वरूप से ही सम्बन्धित मानते हैं। किन्तु स्वरूप निर्विषय नहीं हो सकता, अतएव यह मानना पड़ता है कि स्वरूप ही हमें ज्ञान-विषयों से परिचित कराता है। इस ज्ञान का माध्यम वस्तुतः विषय की विशिष्टरूपता ही है। विषय का स्वरूप जानकर ही हम उसे भी जान सकते हैं। इस प्रकार यदि हम स्वरूप को विषयज्ञान करानेवाला घटक मान लें तो, क्रोचे के समान, परिष्कृति को इसका अवच्छेदक धर्म स्वीकार न किया जा सकेगा। परिष्कृति स्वरूप ही बदल देती है, किन्तु यहाँ स्वरूप बदलने का नहीं, विषयबोध का प्रश्न है। विषय जैसा है उसी का स्वरूप से ज्ञान होना चाहिए या होता है, उससे परिवर्तित रूप में नहीं। अतएव परिष्कृति स्वरूप का अवच्छेदक धर्म नहीं

है। किन्तु क्रोचे स्वरूप को भी एक व्यापार मानते हैं। वह स्वरूप-व्यापार को विशिष्टताबोधक-व्यापार मानते हैं। किन्तु गड़बड़ी यह है कि यदि इसे विषय का बोध करानेवाली ऊपरी रूप-रेखा मात्र मानें, तो इसे व्यापार से भिन्न मानना पड़ेगा। क्योंकि व्यापार को ऐसा होना चाहिए कि वह विशिष्टताओं का बोध करा सके। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वीक्षाव्यापार से विषय की अस्फुट आभासता का नाश हो जाता है और वह स्पष्ट रूप में दमकने लगता है। अतएव वीक्षाव्यापार अथवा स्वरूप का काम अस्फुट विषय को स्फुट रूप में प्रकट करना है, भाषा के माध्यम से उसका ज्ञान कराना है। विशिष्टता का बोध कराना उसका काम नहीं है। क्रोचे के इस मत की प्रामाणिकता का विचार करने के लिए हमें कुछ अन्य स्थलों पर कही गई उनकी बातों का भी ध्यान रखना पड़ेगा। ऐसा करने पर ही उन बातों में सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा।

क्रोचे ने अपने ग्रंथ 'ऐस्थेटिक' में स्वरूप तथा विषय-वस्तु के सम्बन्ध में कहा है कि वस्तु या विषय का अभिप्राय विशुद्ध भावसंवेगशालिता समझा जाता है और स्वरूप से उस वस्तु के अपने ज्ञान-व्यापार के द्वारा विशदीकरण या प्रकाशन का अर्थ ग्रहण करते हैं।[१] उन्होंने अपने 'प्रॉब्लमे दे एस्थेटिका' ग्रंथ में बताया है कि विशुद्ध वीक्षावृत्ति से किसी जाति या सामान्य का पता नहीं चलता। वह केवल हमारी आत्मा की नाना अवस्थाओं का ज्ञान कराती है। यह अवस्थाएँ भी इच्छा के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इन नानाविध आत्मावस्थाओं को ही हम भावसंवेग (पैशनॉलिटी) अथवा भाववेदना, भावानुभूति (फीलिङ्ग, सेण्टीमेण्ट) आदि कहा करते हैं।[२] उन्होंने अपनी 'लॉजिका' नामक पुस्तिका में १५४ पृष्ठ पर इन्हें भावसंवेग ही कहा है। अपने दूसरे ग्रंथ 'फ़िलॉसफी आव द प्रैक्टिकल' के २२६वें पृष्ठ पर उन्होंने भावसंवेग की परिभाषा में बताया है कि जो इच्छाएं क्रियात्मक रूप धारण कर सकती हैं, वही भावसंवेग कहलाती हैं :

---

1. But when these words (Form and Matter) are taken as signifying what we have above defined and matter is understood as emotivity not aesthetically elaborated, that is to say. impressions and form elaboration, intellectual activity and expression, then our meaning cannot be doubtful.

2. L' intuizione pura, non producendo concetti, non puo· rappresentare se non la volonta' nelle sue manifestazioni, ossia non puo· rappresentare altro che stati d'animo. E gle stati d'animo sono la passionalita, il sentimento, la personalita', che si trovano in agni arte e ne determinano il carattere lirico. (Problemi Di Estéthica).

(Passions are possible volitions) इस प्रकार हम इच्छाव्यापार को जितने रूपों में विभाजित करेंगे, उतने ही भावसंवेग भी मानने होंगे। भावसंवेगों का विभाजन इच्छा के विभेदों पर निर्भर है। इच्छा जितने रूपों में उपस्थित होगी उतने ही प्रकार के भावसंवेग होंगे।[1] उन्होंने इसी ग्रंथ में यह भी बताया है कि इच्छाएँ किस प्रकार तीव्र होने पर क्रियात्मक हो जाती हैं। वस्तुतः कामना, इच्छा तथा क्रिया नाम से आत्मा की विकासावस्था के तीन क्रमिक स्तर माने जा सकते हैं। इन्हीं तीनों की एकलयता ही आत्माभिव्यक्ति का स्वरूप धारण करती है। एक क्रिया के अनन्तर पुनः नयी कामना उत्पन्न हो जाती है और फिर वही इच्छा तथा क्रिया आदि का क्रम चल पड़ता है। इस प्रकार यह निरन्तर गतिशील रहते हैं। इनके माध्यम से प्रकट होनेवाला सत्य भी इसीलिए सदैव गतिशील रहा करता है। इन तीनों की एकलयता से ही सत्य की अभिव्यक्ति मानकर कलाकार अपने भावसंवेगों के प्रकाशन के लिए इच्छा और कृति का माध्यम खोजता है। वह कृति में इसीलिए नाना इच्छाओं का क्रियात्मक व्यापार उपस्थित करता है। सत्य अपनी नित्य-गतिशीलता के कारण संभाव्यमान से संभूति और संभूति से संभाव्यमान की ओर दौड़ता है। अर्थात् हम जो हैं उससे बढ़कर जो होना चाहिए उसकी कल्पना में सुख पाते हैं और उसकी सिद्धि के अनन्तर एक बार फिर जो है उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। इच्छा से व्यापार और व्यापार से इच्छा उत्पन्न होती है। अतएव कलाकार भी अपने भावसंवेगों की अभिव्यक्ति के समय इन्हीं आध्यात्मिक इच्छा तथा क्रिया को अभिव्यक्त किया करता है। उसकी यह अभिव्यक्ति ही सत्य की अभिव्यक्ति कहलाती है, क्योंकि उससे हमारे आन्तिरिक गतिशील सत्य का संकेत मिला करता है। अतएव वस्तु या तत्त्व और भावसंवेग दोनों अभिन्न होते हैं।[2]

---

1. The groups of passions must be impirical concepts formed upon the basis of varying determinations of the volitional activities according to the objects that is to say, in its particular determinations.
2. "But if the relation between desire and action be the ultimate reason for the distinction between art and history, and this distinction be the theoritical reflection of that real relation, the conception of art as representation of volitional facts, taken in their quite general and inderminate nature, in which desire is as action and action as desire, reveals why art affirms itself as representation of feeling, and why a work of art does not seem to possess and does not possess value, save from its lyrical character and form the imprint of the artist's personality......... We do not ask the artist for........ but for a dream of his own, for nothing

इस सम्बन्ध में तीन आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि भावसंवेगों के साथ इच्छा तथा क्रिया की एकता स्थापित करने का कोई स्पष्ट कारण नहीं जान पड़ता। दूसरे, यदि यह मान ही लें कि इनमें ऐक्य आवश्यक है तो भी उस ऐक्य को ही वस्तुसत्य अथवा तत्वस्वरूप मानने की आवश्यकता सिद्ध नहीं की जा सकती। तीसरी बात यह कि इस आवश्यकता को मान लेने पर भी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं बताया जा सकता कि वह तत्त्व स्वयंप्रकाशज्ञान के द्वारा किस प्रकार ग्रहण कर लिया जाता है। क्रोचे के मतानुसार स्वयंप्रकाशज्ञान या अध्यात्म-दर्शन तथा ऐन्द्रिय ज्ञान (परसेप्शन) दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। स्वयंप्रकाशज्ञान में तत्व-अतत्त्व अथवा सत्ता-असत्ता का ध्यान नहीं रहता, उसमें सत्य-असत्य का विचार नहीं होता। क्रोचे के अनुसार स्वयंप्रकाशज्ञान का सम्बन्ध केवल असामान्य विषय से है। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि इसका सम्बन्ध केवल असामान्य वस्तु से ही होता है तो भावसंवेग, इच्छा अथवा क्रिया से ही उसकी अवच्छेदकता को कैसे प्रमाणित किया जा सकता है? निश्चय ही इनसे उसका तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता।

किसी वस्तु की सत्ता-असत्ता के निर्धारण के लिए हम अपनी इन्द्रियों की सहायता पर निर्भर रहते हैं। इस ऐन्द्रियक बोध को 'परसेप्शन' कहते हैं। जो कला में प्रयुक्त स्वयंप्रकाशज्ञान से भिन्न होता है। क्रोचे का मत है कि जब हम किसी एक वस्तु को या अनेक वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को केवल उनकी बाहरी स्थिति के आधार पर जानने का प्रयत्न करते हैं, तब हमारी दृष्टि ऐतिहासिक दृष्टि मात्र रह जाती है। इस दृष्टि से देखने पर कला का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। यह कहा जा सकता है कि कामना के व्यापारवती हो जाने पर उसमें बहिःसत्ता का आरोप किया जा सकता है। किन्तु इससे यह निश्चय नहीं

---

but the expression of a world desired or abhorred, or partly desired and partly abhorred........... For reality is nothing (as we henceforth know) than becoming, possibility that passes into actuality, desire that becomes action, from which desire springs forth again unsatisfied. The artist who represents it ingenuously, produces the lyric for this very reason......................The feeling that the true artist portrays is that of things, Lacrymae rerum ; and by the identity of feeling and volition, of volition and reality already demonstrated in the Philosophy of the practical, things are themselve that feeling.................and of objectifying the will itself, belongs equally to all the other forms of art, because it is essence itself of Art, or of pure intuition." (Philosophy of The Practical 7 Page 267-269 : 1913 Edition)

किया जा सकता कि कलागत कामना व्यापारवती हुई कि नहीं अथवा उसके साथ बाहरी सत्ता का सम्बन्ध स्थापित हुआ कि नहीं। अर्थात् इनका अलग-अलग पता नहीं चला करता, क्योंकि व्यापार कामना रूप होते हैं और कामना मानो व्यापार रूप होती है। मानो यह नियम है कि सत्य संभाव्यमान रूप में और संभाव्यमान सत्य रूप में प्रतीत होता रहता है। किसी ऐतिहासिक वस्तु को वीक्षा द्वारा ग्रहण करने पर उस वस्तु से ऐतिहासिक सत्य, मिथ्या अथवा उनकी बाह्य सत्ता आदि का सम्बन्ध छूट जाता है। उस दशा में हम उसकी इन स्थितियों का विचार न करके उसे एक अखण्ड रूप में देखते हैं। सही बात यह है कि कला एक कल्पलोक की सृष्टि है।[1]

क्रोचे के इस मत के सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि इस व्याख्या के अनुसार स्वयंप्रकाशज्ञान या वीक्षा और उसके प्रकाशन में किस प्रकार ऐक्य स्थापित किया जा सकता है? हमारे यह मान लेने पर भी कि वीक्षावृत्ति की अनुभूति के द्वारा ही हमारी कामना या इच्छा रूप धारण करती है और उसी के समान हमारी अन्तर्हित अवस्थाएँ व्यक्त हुआ करती हैं, किसी वृक्ष, पुष्प, नदी या पर्वत की अनुभूति को अपनी आन्तरिक स्थिति मानना हमारे लिए भला कैसे संभव हो सकता है? क्रोचे ने बार-बार कहा है कि जब हमें किसी इन्द्रियग्राह्य रूप, शब्द, वर्ण आदि की स्पष्ट अनुभूति हो जाती है तब चाहे वह सत्य, स्मृत अथवा कल्पित किसी भी रूप में क्यों न उपस्थित हों हमें उनके प्रति अपने आकर्षण-विकर्षण या हर्ष-शोक आदि के रूप में अपनी आत्मा की कामना या इच्छा की अवस्थाओं का परिचय मिलता रहता है। एक दूसरे स्थान पर क्रोचे ने कहा है कि हम वीक्षावृत्ति के द्वारा पूर्वसंस्कारों का परिष्कार किया करते हैं। ऐसी दशा में

1. History is perception and memory of perception, and in it fancies and imaginations are also perceived as such and arranged in their place. And it would also be possible to say that art represents only desires and is therefore all fancy and never perception, all possible reality and never effectual reality. But since to art is wanting the distinctive criterion between desires and actions, it in truth represents actions as desires and desires as actions, the real as possible and the possible as real ; hence it would be more correct to say that art is on the near side of the possible and the real, it is pure of these distinctions and is, therefore, pure imagination or pure intuition...... When art takes possession of historical material, it removes from it just the historical character, the critical elements, and by this very fact reduces it once more to mere intuition (Philosophy the Practical, Page 266-67).

हम इन रूप-रसादि संस्कारों को अपनी आत्मा की अवस्था कैसे मान सकते हैं ? यद्यपि क्रोचे ने इस सम्बन्ध में प्रकाश नहीं डाला, तथापि उन्होंने यह अवश्य कहा है कि जबतक हमें रूप-रसादि का सुख-दुःखादि वेदना के साथ ज्ञान नहीं होता तबतक उन्हें वीक्षा-व्यापार द्वारा गृहीत अन्तःसंस्कारों या अनुभूति के रूप में तनिक भी व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनकी इस उक्ति में निश्चय ही एक गंभीर सत्य निहित है, और उसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही यह भी माना जा सकता है कि वीक्षा-सृष्टि सत्य-मिथ्या विकल्प से शून्य होती है। फिर भी क्रोचे उचित मार्ग का अवलम्बन नहीं कर सके हैं। बात यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष के साथ हमारे द्वारा दृष्ट वस्तु का एक अस्पष्ट संस्कार हमारे मन में रह जाया करता है। उस संस्कार के साथ ही ज्ञात या अज्ञात रूप से सुख-दुःखादि की वेदना भी जड़ी रहती है। जिस समय इस प्रकार की वेदना, कामना या साथ में लगी रहनेवाली संस्कार-भावना अभिव्यक्त होती है, उस समय हमें वस्तु के ज्ञान के अतिरिक्त उसके साथ लगी सुख-दुःखादि वेदना का भी ज्ञान हुआ करता है। यही वैक्षिक सृष्टि कहलाती है। यह सृष्टि न तो स्मृति से उत्पन्न होती है और न प्रत्यक्ष दर्शन से ही। इसी कारण इसे लौकिक नहीं माना जाता, किन्तु लौकिक का अवलम्ब लेकर उत्पन्न होने के कारण इसे नितान्त अलौकिक भी नहीं कह सकते। ईषल्लौकिक होने के कारण ही यह कल्पलोक की सृष्टि मानी जाती है।

यदि हम इस दृष्टि से विचार करें तो हमें बहिर्वस्तु की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी, किन्तु क्रोचे ऐसा नहीं मानते। हम पहले भी कह चुके हैं कि यदि किसी वस्तु की अनुभूति होती है अथवा उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है तो उसे जात्यादिविशिष्ट एवं सविकल्प मानना पड़ेगा। हमारा विचार है कि किसी निर्विकल्प ज्ञान के रहने पर भी बहिर्वस्तु की सत्ता अंगीकार करनी ही होगी। हमारा अभिप्राय यह है कि यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान से पूर्व वस्तु की सत्ता जाति आदि के रूप में रहती है तो इस विकल्प के द्वारा उत्पन्न ज्ञान भी जात्यादि के संसर्ग से अलग नहीं रह सकता। क्रोचे का विचार है कि संस्कारों से ही स्वयंप्रकाश-ज्ञान उत्पन्न होता है। यह संस्कार विभिन्न प्रकार के तो होते ही हैं अस्पष्ट भी रहते हैं। अतः यदि वे वीक्षा द्वारा स्पष्ट होते हैं तो उनकी स्पष्टता तबतक संभव नहीं है जबतक कि संस्कारयुक्त जाति आदि का प्रयोग न किया जाय। यदि हम यह मान लें कि बाह्य वस्तु जैसी होती है वैसी ही वह ज्ञात भी हुआ करती है तो हम मान सकते हैं कि वीक्षा द्वारा जाति आदि के अतिरिक्त भी ज्ञान हुआ करता

है, किन्तु इस प्रकार का ज्ञान भी सामान्य-संश्लेष-वर्जित होने पर स्पष्ट नहीं जान पड़ेगा। क्रोचे की धारणा है कि ज्ञानगम्य न होने पर बहिर्वस्तु की सत्ता प्रतीत नहीं होती, उसी प्रकार उसको बहिस्सता भी नहीं होती। फिर भी वह संस्कारों की सत्ता मानते हैं। आखिर ये बाह्य सत्ता के अभाव में और आते कहाँ से हैं? यदि सभी कुछ मानसिक कल्पना मात्र है तो फिर स्वेच्छाकृत संकल्प अथवा स्वच्छन्द-प्रवाह कल्पना का भेद भी किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है? क्रोचे मानते हैं कि विचारपूर्वक कल्पना करने से काव्य की रचना नहीं हुआ करती। जब हम किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखकर रचना करते हैं तो उसमें वास्तविक काव्य का प्राण-स्पन्दन नहीं होता, बल्कि वह हमारे व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित होने के कारण कला की श्रेणी से च्युत हो जाती है। फिर भी परिकल्पना की दृष्टि से तो दोनों को समान ही माना जायगा। ऐसी दशा में यह नहीं बताया जा सकता कि क्रोचे दूसरी किस युक्ति से काव्य तथा काव्याभास के भेद को हमारी ही तरह अंगीकार कर सकते हैं?

क्रोचे ने बताया है कि यदि किसी कलाकृति को देखकर हमारे मन में भी कवि के अनुरूप भाव उत्पन्न होते हैं तो हमारे मन में भी उसके समान रचना-प्रक्रिया चल सकती है जिसके फलस्वरूप हम भी वैसी ही सृष्टि कर सकते हैं। कवि की सृष्टि के साथ एकान्त तादात्म्य हुए बिना हम उसकी सृष्टि को समझ ही नहीं सकते। क्रोचे के इस मत के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि मनुष्य के जीवन का इतिहास देश-काल आदि से इस रूप में प्रभावित हो गया है कि भिन्न स्थितिवाले आज के मनुष्य के लिए किसी श्रेष्ठ काव्य के साथ तादात्म्य स्थापित करके वैसी ही नवीन सृष्टि प्रस्तुत करना संभव नहीं ज्ञात होता। यदि हम कवि के अनुभवों के साथ अपने अनुभवों का पूर्ण तादात्म्य कर सकें तो क्रोचे को मानना पड़ेगा कि हम वैसी ही उत्तम सृष्टि भी कर सकते हैं, क्योंकि उनकी आरंभिक शर्त यही है कि जिस वस्तु का अनुभव किया जाता है उसी की सृष्टि हो सकती है। इसके विपरीत देखने में आता है कि प्रायः उत्कृष्ट काव्य का पाठक साधारण काव्य की भी रचना नहीं कर पाता। किसी-किसी पाठक के जीवन का इतिहास इतना गंभीर और व्यापक होता है कि कवि के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलने पर वह कविकृत काव्य से कवि से भी अधिक गंभीर और व्यापक अनुभूति कर सकता है। अतएव तद्भावाविष्ट होकर निरीक्षण करना ही काव्यानुभूति का चरम आदर्श नहीं कहला सकता।

क्रोचे बाह्य वस्तु को तनिक भी महत्व नहीं देते। हमारे आन्तरिक विभिन्न

भाव-संवेगों, हमारी इच्छा या कामना का ही 'यह नदी है', 'यह पर्वत है' आदि के बोध के रूप में बोध हुआ करता है। जिसे हम वस्तुबोध कहते हैं, वह विभिन्नजातीय मानसिक कामना और सुख दुःखादि की वेदना के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह कामना आदि जितने रूपों में प्रकट होती हैं उनके अनुरूप ही हम इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। वीक्षा-व्यापार का कोई स्वरूपगत भेद नहीं होता इसलिए वीक्षालब्ध अनुभूति का भेद केवल विषयगत भेदप्रसूत माना जाता है। इसी कारण विषयवस्तु के नाम से कोई बहिर्वस्तु नहीं मानी जाती। हमारी आन्तरिक विविध कामना अथवा भावसंवेगात्मक अवस्था के अतिरिक्त दृश्यमान वस्तु की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं की जा सकती। इसी कारण 'यह पर्वत है', 'यह नदी है' इस प्रकार की अनुभूतिभिन्नता केवल मानसिक भावसंवेग या कामना का ही भेद कही जा सकती है। किन्तु यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारी कामना सदा ही वस्तु का रूप धारण करके वृक्ष, लता, पत्ते, नदी तथा पर्वत आदि के रूप में अनुभवगोचर होती है तो उन विभिन्न वस्तु-आकारों के अतिरिक्त कामना या भावसंवेग आदि का अपने स्वरूप का स्वतन्त्रबोध कैसे हो सकता है ?

क्रोचे का विचार है कि हमारी एक 'आह' से भी उत्कृष्ट काव्य का सर्जन हो सकता है। हमें यह धारणा तो युक्तियुक्त जान ही नहीं पड़ती साथ ही यह समझना भी हमारे लिए कठिन है कि वस्तु का आकार धारण करके व्यक्त होने वाली व्यथा या कामना एक 'आह' मात्र में कैसे प्रकाशित हो सकती है ? सामान्यात्मक विकल्प के पूर्व हमें केवल कामना या भावसंवेग की मानस-छवि का ही संकेत मिलता है। हमें आकाश में मेघ की जो गर्जना सुनाई पड़ती है, वह सामान्याकार विकल्प के प्रयोग के पूर्व केवल अपनी कामना, इच्छा या भावसंवेग के प्रकाश मात्र के रूप में रहती है। मेघ-गर्जन भी हमारे मन में क्रोध, क्षोभ आदि भावसंवेगों का अनुभव कराते हैं, मेघ-गर्जन को भी उससे भिन्न ढंग का नहीं बताया जा सकता। क्रोचे की इस प्रकार की ज्ञानप्रक्रिया की आलोचना हम दार्शनिकों के विचार से और न करके केवल एकाध बात और कहेंगे।

सौन्दर्यरचना के सम्बन्ध में चाहे कोई कुछ भी मत क्यों न व्यक्त करे उसे यह तो बताना ही होगा कि एक व्यक्ति जिस सौन्दर्य का अनुभव करता है उसे दूसरा व्यक्ति कैसे ग्रहण कर लेता है ? यदि वह इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं बता पाता तो सौन्दर्य-विषयक उसके समस्त अन्य मत भी व्यर्थ और थोथे समझे जायेंगे। इस समस्या को क्रोचे ने यह कहकर सुलझाने का प्रयत्न

किया है कि मन के अस्फुट संस्कारों को अनुभूति के योग्य बनाने के लिए स्रष्टा अपनी वीक्षावृत्ति से एक के बाद एक शब्द शोध कर रखता है और उस शब्द-विन्यास के द्वारा ही अस्पष्ट अनुभूति को स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया करता है। क्रोचे बहिर्वस्तु की सत्ता नहीं मानते इसीलिए आरंभिक अस्पष्ट संस्कार अपने ही मन की कामना की मूर्त्ति मान लिये गये हैं। भाषा के माध्यम से प्रकाशित स्वयंप्रकाशित-ज्ञान या वैक्षिक अनुभूति भी अपने मन की ही एक अवस्था है। कवि या चित्रकार अपने अन्तर की अनुभूति को ही बाह्य रूप में व्यक्त करते हुए अक्षरों या रंगों आदि का सहारा लेते हैं। इस प्रकार जितनी ही अनुभूति की अभिव्यक्ति से अस्पष्ट संस्कारों की व्यंजना होती है उतनी ही सौन्दर्यसृष्टि भी सार्थक मानी जाती है। कारण यह है कि क्रोचे अभिव्यक्ति और अनुभूति दोनों को अभिन्न मानते हैं। इस प्रकार अनुभूति की हीनता का अर्थ होगा अभिव्यक्ति की हीनता और अभिव्यक्ति की हीनता का अर्थ होगा अनुभूति की हीनता। एक के हीन होने पर दूसरा भी हीन हो जाता है। अनुभूति या अभिव्यक्ति के अनुरूप ही सौन्दर्यसृष्टि भी श्रेष्ठ या निम्नजातीय होगी। सौन्दर्यसृष्टि के तीन स्तर होते हैं। १. अव्यक्त संस्कार, २. अनुभूति तथा ३. संकेतों के द्वारा उसका बहिर्निरूपण। अव्यक्त संस्कार जितने ही परिष्कृत रूप में अनुभूत होते हैं, उतनी ही सौन्दर्यसृष्टि सफल समझी जाती है। किन्तु यदि बहिर्जगत् को स्वीकार न करें तो कोई व्यक्ति किसी संकेत को समझ ही न पायेगा। साथ ही सब कुछ आन्तरिक मात्र मान लेने पर इन संकेतों की सत्ता कवि या चित्रकार के अन्तर के अतिरिक्त कहीं और नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार काग़ज़ पर लिखित वर्ण, रेखा आदि और पर्दे पर अंकित वर्णसमूह की सत्ता असंभव होगी। यदि भाषा के द्योतक वर्ण, रेखा आदि के संकेत कवि के अन्तर में ही रह गये तो दूसरा कोई व्यक्ति अपने हृदय में उन्हें कैसे ग्रहण करेगा? हृदय में यदि संकेतों की बहिःसत्ता स्वीकार कर लें तो यह भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि कोई-कोई पाठक ऐसा भी होगा जो कवि या चित्रकार के द्वारा अनुभूत तथा प्रकाशित स्वरूप को पुनः अनुभव कर सकेगा। परन्तु अनुभूति के लिए संस्कारों का पूर्ववर्ती होना आवश्यक मानने के कारण हम क्रोचे की इस धारणा से सहमत न हो सकेंगे। संकेत तो अनुभूति के पश्चात् उपस्थित होता है। उससे श्रोता या पाठक के मन में कवि या चित्रकार के चित्त की अस्पष्ट संस्कारों की धारणा उत्पन्न नहीं हो सकती। संकेत अनुभूति को पूर्णतया व्यक्त भले ही कर सकता हो, तथापि अनुभूति के स्वरूप से संस्कार के स्वरूप का तनिक भी अनुमान नहीं किया जा सकता और न इनका किसी और रीति से ही पता

लगाया जा सकता है। फिर यदि श्रोता या पाठक के मन में कवि या चित्रकार की मनःकामना एवं उसके चित्त की विशेष अवस्था वाले संस्कारों की उपलब्धि ही नहीं हो पाती तो वे कवि के चित्त की अनुभूति से किस प्रकार परिचित हो सकेंगे ? साथ ही यह समझना भी कठिन जान पड़ता है कि कवि-चित्त की अनुभूति में संस्कार किस सीमा तक स्थान पा सके हैं ? ऐसी दशा में अस्पष्ट संस्कारों के समझने का कोई उपाय न होने के कारण स्पष्ट अनुभूति को समझने का भी कोई साधन नहीं रह जाता, साथ ही कवि के चित्त के अस्पष्ट संस्कारों के साथ पाठक के चित्त का संयोग उपस्थित करने का भी कोई साधन नहीं जान पड़ता। क्रोचे ने बार-बार दुहराया है कि अनुभूतिगत वैचित्र्य अस्पष्ट संस्कारों की विचित्रता का ही फल होता है। वह अभिव्यक्ति तथा अनुभूति को एक तो मानते हैं, परन्तु उनसे अस्पष्ट संस्कारों तक पहुँचने का कोई उपाय नहीं बताते। यह ठीक है कि उन्होंने अस्पष्ट संस्कारों से ही अनुभूति की अभिव्यक्ति संभव मानी है, किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि एक व्यक्ति के अनुभव दूसरे के चित्त में किस प्रकार पैठ करते हैं ? हम समस्त भावसंवेग, इच्छा अथवा क्रिया को एक-साथ नहीं जान पाते। ज्ञान के अतिरिक्त उनका किसी और प्रकार से परिचय नहीं मिलता। फिर भी क्रोचे को उनकी ज्ञान से पृथक् सत्ता मानने में संकोच नहीं होता। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्होंने अनुभूतिगत भेदों और उसके वैचित्रय को एकान्ततः अस्पष्ट संस्कार के भेदों का पश्चात्वर्ती माना है। किन्तु ऐसा कोई उपाय नहीं बताया जिससे अनुभूति से अस्पष्ट संस्कारों का स्वरूप जानने में सहायता मिल सके। अनुभूति और अभिव्यक्ति या तो समव्याप्त होते हैं या दोनों एक ही वस्तु हैं और पूर्णतया एकात्मक हैं। एक की सत्ता दूसरे की सत्ता है। इसी कारण जिसकी अनुभूति नहीं होती उसका प्रकाश भी नहीं होता। अस्पष्ट संस्कारों के स्वरूप की अनुभूति न होने के कारण ही उसकी अभिव्यक्ति भी नहीं होती। अतएव यदि क्रोचे की बात को अक्षरशः स्वीकार कर लिया जाय तो अस्पष्ट संस्कार को जानने का कोई साधन नहीं रह जाता। इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि क्रोचे उस सम्बन्ध में बहुत कुछ जानते हैं। वह जानते हैं कि अस्पष्ट संस्कारों के भी भेद होते हैं। यहीं भेद अनुभूतिगत विचित्र भेदों को जन्म देते हैं। क्रोचे यह भी जानते हैं कि अस्पष्ट संस्कारों का, बीच-बीच में, एक प्रकार का आभास-सा प्राप्त होता रहता है। इतना जानने पर भी यह कैसे कहा जा सकता है कि अनुभूति के बिना उनकी अभिव्यक्ति ही नहीं होती। क्रोचे ने अनेक बार स्वीकार किया है कि वस्तुपुंज का ज्ञान एकान्ततः अल्प ही होता

है, इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि किसी काग़ज़ पर चिह्नित वर्णरेखा या पर्दे पर अंकित चित्रसमूह से कवि या चित्रकार के पृथक् अनुभवों के सम्बन्ध में हमें कोई ज्ञान नहीं हो सकता। यद्यपि क्रोचे ने पाठक या श्रोता और कवि या चित्रकार के चित्त की पारस्परिक एकता स्थापित करा सकने वाले कारणों का विचार नहीं किया, तथापि यह कहा जा सकता है कि पाठक, श्रोता या दर्शक किसी कृति का अपने विचारों के अनुकूल ही मर्म ग्रहण करता है। इसके साथ ही क्रोचे की यह धारणा कि अनुभूति-मात्र वाक्य आदि के माध्यम से व्यक्त होती है, हमें उन्हीं के विचारों की विरोधिनी ज्ञात होती है। क्योंकि क्रोचे यदि यह स्वीकार करते हैं कि कवि या चित्रकार बार-बार शब्द-शोधन करके ही अन्त में उपयुक्त शब्दों में अपनी अनुभूति को व्यक्त करते हैं तो अनुभूति मात्र को अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा कहा जायगा तो शोधन-व्यापार को निरर्थक मानना पड़ेगा। दोनों बातें एकसाथ नहीं हो सकतीं। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यदि योग्य शब्द के साथ व्यक्त होने के पूर्व अनुभूति नहीं रहती तो फिर शब्द की योग्यता-अयोग्यता का निर्णय कवि कैसे कर पायेगा ? वह किस आधार पर शब्द या शब्द-विन्यास-विशेष का तिरस्कार करके किसी दूसरे शब्द या शब्द-विन्यास को अपनायेगा ? अभिप्राय यह है कि हमें अनुभूति की पूर्वसत्ता मानकर ही चलना पड़ेगा और तभी हम अभिव्यक्ति की अनुरूपता अथवा अननुरूपता के विचार से शब्द-शोधन कर सकते हैं।

इसी प्रकार क्रोचे ने सत्य-असत्य का निर्णय करते हुए कहा है कि इच्छा के रूप में प्रकाशित होनेवाली अन्तःकामना ही सत्य होती है। अर्थात् किसी स्थान पर बाहरी चिह्न भाषा आदि के रूप में व्यक्त काव्य आदि असत् होते हैं। वह केवल अन्तर्गृहीत छवि के रूप में ही सत्य होते हैं। ठीक। परन्तु काव्य या छवि किसमें रहने पर सत्य कहलाते हैं ? क्या पाठक या दर्शक के चित्त में स्थान पाने पर सत्य कहलाते हैं अथवा कवि या चित्रकार के चित्त में रहने पर ? क्रोचे के अनुसार कवि-चित्त के अतिरिक्त पाठक के चित्त की कवि के लिए कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। कवि के लिए पाठक का चित्त और पाठक के लिए कवि का चित्त असत् है। क्रोचे मानते हैं कि जिन वस्तुओं की सत्ता ज्ञान से पृथक् होती है उनकी सत्ता ही स्वीकार नहीं की जा सकती। कवि के चित्त को अनन्तकाल से चली आती पाठक-परम्परा के चित्त का ज्ञान नहीं होता, वीक्षादृष्टि में उनके लिए ध्यान नहीं बना रहता, अतएव असंख्य होने पर भी पाठक का चित्त कवि के लिए असत् ही सिद्ध होता है। पाठक भी कुछ वक्र रेखाओं को देखकर उनके विन्यास

से जो कुछ ग्रहण करता है, वह एकान्ततः उसी के चित्त की छाया होती है। पाठक के चित्त की यह काल्पनिक छाया उसकी निजी सम्पत्ति होती है। कवि के चित्त के साथ उसका कोई प्रात्यक्षिक परिचय न होने के कारण उसके लिए कवि का चित्त भी नितान्त असत् सिद्ध होता है। इसीलिए कवि के चित्त की अनुभूति के साथ उसके चित्त की अनुभूति का सामंजस्य असंभव है। अतः जब कवि के चित्त की अन्तःकामना ऐहिक उपायों से काव्यरूप ग्रहण कर लेती है, तभी कला की सत्ता तथा उसकी सत्यता सिद्ध होती है। किन्तु जब पाठक निजी कल्पना के द्वारा उसकी अपने में ही कल्पना कर लेता है, तब उसके चित्त में भी वह सत्य जान पड़ने लगती है। क्रोचे की भारी कमज़ोरी यह है कि उन्होंने इन दोनों प्रकार के सत्य के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं किया है। इसके उत्तर में यह कहना व्यापार को और भी जटिल बना देना होगा कि कवि-चित्त से प्रसूत होनेवाली अनुभूति बाहरी वर्ण या रेखा की सहायता से इस प्रकार का एक बाह्य रूप धारण कर लेती है जिसके परिणामस्वरूप उसे अन्य सभी व्यक्ति अपनी कल्पना द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। यह वाह्य-करणता ही काव्य या चित्र का सत्यत्व है, क्योंकि उस अवस्था में बाह्य सत्ता को ही चरम सत्ता मानना पड़ता है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर क्रोचे का सिद्धान्त ही धराशायी हो जाता है, परन्तु यदि चित्र या काव्य की बाह्य सत्ता स्वीकार की जाती है तो फल, फूल, लता, पत्र, वृक्ष, पर्वत आदि की सत्ता स्वीकार करने में ही क्या हानि है? और तब प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वृक्ष आदि भी किसी की कल्पना या इच्छा से उत्पन्न चित्र-विशेष हैं? इस रीति से विचार करने पर क्रोचे का सौन्दर्य तथा उसके साथ जगत् की मूल सत्यता या तत्व के सम्बन्ध में निर्धारित मत बालुका-प्रासाद की भाँति खण्डशः ढह पड़ता है।

वस्तुतः क्रोचे की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अनेक विचारकों के द्वारा निश्चित सौन्दर्यबोध सम्बन्धी नियमों और काल्पनिक विभागों का खण्डन करके एक सर्वसाधारण मत की सृष्टि करने का प्रयत्न किया है। उनके अनेक पूर्ववर्तियों ने स्वच्छन्दवाही सौन्दर्य को अनेक मतों की शृंखला में जकड़ने का प्रयत्न किया है। सौन्दर्य के सम्बन्ध में अनेक पाण्डित्याभिमानियों की दशा एक ऐसे अध्यापक की-सी हो गई है जो स्वच्छन्द कवि के द्वारा प्रयुक्त भाषा को व्याकरणानुमोदित न पाकर उसकी अशुद्धियों पर विरक्तिसूचक सिर हिलाता हुआ उन्हें लाल स्याही से अंकित कर देता है। इसी प्रकार इन लोगों ने भी सौन्दर्य सम्बन्धी अनेकानेक नियमों की अवतारणा की है। हमारे यहाँ संस्कृत आलंकारिकों की दशा भी इससे किसी प्रकार उत्तम नहीं कही जा सकती। उन्होंने

नायक-नायिका के स्वरूप, नट-नटी के कार्य-व्यवहार, छन्द-विधान, विदूषक का कर्त्तव्य, दोष का गुण-गणना और रस की अवस्थिति के सम्बन्ध में निश्चित सूची देकर हीन प्रतिभावाले अनेक कवियों के मुँह पर ताले लगा दिये हैं। यही दशा योरोप के कवि तथा चित्रकारों की भी की गई थी। प्लेटो (Plato) [1] तथा कोलरिज (Coleridge) [2] की उक्तियों से इस प्रकार का संकेत मिलता है।

क्रोचे ने सर्वशिल्प-साधारण सौन्दर्य का लक्षण देने के साथ-साथ वीक्षावृत्ति की स्वतंत्रता स्वीकार करते हुए संकीर्ण चित्त लोगों के संकीर्ण नियम-बन्धनों से कला को मुक्ति दिलाकर उसके सम्बन्ध में विचार के मार्ग को प्रशस्त किया है। कला अनुकृति नहीं बल्कि वह एक आध्यात्मिक सृष्टि है। इस सृष्टि के मूल में उपादान रूप में ज्ञानवृत्ति और सिसृक्षावृत्ति के समान ही हमारी समस्त सुख-दुःखादि बोध-युक्त वेदना भी रहा करती है। सभी उत्कृष्ट कलाएँ हमारे अध्यात्मजीवन के वेदनांश का एक अखण्ड प्रतीक होती हैं। क्रोचे ने इस प्रकार के प्रतिपादन द्वारा कला के यथार्थ स्वरूप को समझने का पर्याप्त अवसर उपस्थित कर दिया है। प्लेटो से लेकर योरोप के अनेक प्राचीन विद्वानों तक ने कला को भ्रान्तिवश अनुकृति माना है। कला को केवल आध्यात्मिक वृत्ति से उत्पन्न अलौकिक व्यापार-संभूत वस्तु कहकर क्रोचे ने जैसे उसे बाह्य-नियम-निरपेक्ष बना दिया है, वैसे ही वाह्य जगत् से नितान्त असंश्लिष्ट मानकर जगत् में उसके प्रकाश को अवरुद्ध करके उसे हानि भी पहुँचाई। कला आन्तर है भी और नहीं भी है। वह दोनों क्षेत्रों को ग्रहण करती है, अतः हम उसमें मनुष्य की सिसृक्षावृत्ति का चरम निदर्शन पाते हैं। यदि कला बाह्य मात्र होती तो उससे हमारे आध्यात्मिक जीवन की सार्थकता न रहती और यदि वह केवल आन्तरिक होती तो वह काल्पनिक मात्र होकर रह जाती और सत्य या मिथ्या, उच्च या नीच का कोई भेद वहाँ न हो सकता। जिस प्रकार दर्शनशास्त्र अन्तःबाह्य के संयोग में निहित महासत्य की नियमशृंखला का आविष्कार करने में आनन्द प्राप्त करता है, उसी प्रकार कला भी अन्तःबाह्य के संयोग से जागतिक सृष्टि के समान ही एक नूतन सृष्टि के सत्य का आविष्कार करने में आनन्द प्राप्त करती है। उपनिषद् की उक्ति है कि

---

1. Discussions about poetry remind me of the dinner parties of dull and trivial people, who because they are too ignorant to entertain one another over their wine would over their own voices increase the demand for singers, and dancers.
2. What rule is there which does not leave the reader at the poet's mercy and the poet at his own? Could a rule be given from without, poetry would cease to be poetry and sink into a mechanical art.

ब्रह्म ने अपनी वीक्षावृत्ति द्वारा एक से अनेक होने की कल्पना की, उसी के फल-स्वरूप इस जगत् की रचना हुई है। "तदैक्षत बहुस्यामः"। उसने अपने ही एक भेद—जड़ स्वरूप—में जीवन धारण करके जगत् का दर्शन किया। विश्व-दर्शन ही विश्व सृष्टि है, इसका इतना ही अभिप्राय है। जिस नियम से जगत् बना है उसी नियम के अनुकूल सृष्टि बनती है। जागतिक तथा आध्यात्मिक समस्त वस्तुओं को उपादान बनाकर एक नूतन सृष्टि उपस्थित हो जाती है। इसी कारण कलासृष्टि को भी नूतन सृष्टि कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने कहा भी है : "अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।"

केवल अभिव्यक्ति (एक्सप्रैशन) को ही सौन्दर्य मानने के कारण क्रोचे अनेक जटिल तर्कों में फँस गये हैं। यदि केवल अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य की नियामक है तो संभवतः शेक्सपीयर के 'हेमलेट', कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल, दीनबन्धु मित्र की 'जामाई वारिक' या द्विजेन्द्रलाल राय के 'चन्द्रगुप्त' में परस्पर कोई भेद ही न रहेगा। क्रोचे के इस मत के सम्बन्ध में कैरिट (Carritt) ने इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है।[1] वह कहते हैं कि चाहे किसी काव्य में गंभीर पाप का चित्र दिया गया हो या परमोन्नत धर्म का चित्र हो, उससे काव्य के काव्यत्व पर कोई भला-बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। यदि किसी सामान्यतम भावसंवेग की यथार्थ अनुभूति होती है तो वह भी सौन्दर्य के मापदण्ड के अनुसार सर्वोत्कृष्ट काव्य के समान श्रेष्ठ पद का अधिकारी है। सौन्दर्य के विचार से प्रमाण या प्रकारगत कोई भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। केवल अभिव्यक्तिगत स्फूर्तिमय वैषम्य ही सौन्दर्य का अवच्छेदक धर्म होता है। कला के लिए कला सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ब्रैडले (Bradley) महाशय ने भी इस बात की पुष्टि की है कि विषयगत भेद में काव्यत्व नहीं होता। हमारी सम्मति है कि 'जल ढरता है या पता हिलता है' जैसे वाक्य को वाल्मीकि-रचित रामायण के समान ही काव्यमय समझना कठिन है। इस सम्बन्ध में हम अपने विचार अन्यत्र व्यक्त करेंगे। यहाँ केवल यह बता देना चाहते हैं कि क्रोचे के अनुसार वह अभिव्यक्ति भी पूर्ण (परफैक्ट एक्सप्रैशन) है। उनके विचार से अभिव्यक्ति मात्र आध्यात्मिक अवस्था

1. A poem then may in one sense be full of morality or of wickedness, a picture of Philosophy or scepticism, a cathedral of religious truth or falsehood, but in a sense they care for none of these things ; they affirm none but only express our feelings about them, and in so doing they are beautiful just as the expression of simplest passion. (The Theory of Beauty—Page 213).

का प्रकाशन है। आध्यात्मिक अवस्था के सम्बन्ध में हम दो में से एक ही बात कह सकते हैं कि या तो उसकी अभिव्यक्ति होती है या नहीं होती। यदि सभी अभिव्यक्तियों को एक समान मान लिया जाय और अभिव्यक्तिगत वैषम्य स्वीकार न किया जाय, तो एक कला को दूसरी से भिन्न सिद्ध करना ही असंभव हो जायगा। जिस प्रकार किसी सत्य में सत्यता के तारतम्य को निश्चित करना कठिन होता है, उसी प्रकार सौन्दर्य के तारतम्य का निश्चय करना भी कठिन होगा। किन्तु जिस समय सौन्दर्य के तारतम्य का अनुभव होता है, उस समय वीक्षाशास्त्र के सम्बन्ध में मत व्यक्त करनेवाले विद्वान् के लिए यह संभव नहीं रह जाता कि वह उस प्रश्न की उपेक्षा कर सके। क्रोचे ने कहा है कि किसी सम्पूर्ण या अखण्ड चित्र अथवा काव्य में अंश-विशेष के स्पष्टतया प्रकाशित होने पर ही सौन्दर्य की हीनता या न्यूनता घटित होती है। परन्तु दूसरे अंशों के स्पष्ट न होने के कारण उस स्पष्टता के साथ-साथ सम्पूर्ण की स्पष्टता संभव नहीं होती। अर्थात् अंशों के प्रकाशित होने मात्र से सम्पूर्ण रूप का प्रकाशन संभव नहीं हो पाता। फिर भी क्रोचे यह सिद्ध नहीं कर सके हैं कि एकसाथ सम्पूर्ण की भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति हो सकती है कि नहीं। उन्होंने स्वयं कहा है कि वीक्षावृत्ति द्वारा अनुभूत तत्त्व को अनेकानेक शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त न कर सकने पर उसे अन्त में एक शब्द या शब्द-विन्यास से ही प्रकट कर दिया जाता है। इस बात से अनुमान किया जा सकता है कि वीक्षावृत्ति के सम्मुख कोई एक आदर्श रहता है जो अनुभवगम्य होकर भी भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति नहीं पाता। अभिव्यक्ति की हीनता के कारण ही सौन्दर्य भी हीन हो जाता है। किन्तु क्रोचे तो अभिव्यक्ति, अनुभूति और वीक्षा तीनों को एक मानते हैं, अतएव वे इस मत को स्वीकार नहीं कर पाते। प्रश्न यह है कि यदि अनुभूति अपनी समग्रता में ही व्यक्त हो सकती है तो असुन्दर या कुत्सित का अनुभव कैसे हो सकता है? सारांश यह है कि यद्यपि क्रोचे ने सौन्दर्यतत्त्व के विश्लेषण में अद्भुत बुद्धि-कौशल का परिचय दिया है, किन्तु वह भी अनेक अति कठिन और जटिल स्थलों पर गड़बड़ा गये हैं और अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकता स्वीकार करके दिग्भ्रान्त-से हो गये हैं।

तीसरा अध्याय

सौन्दर्यतत्त्व के सम्बन्ध में योरोप में अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है। इनमें क्रोचे सर्वाधिक प्रख्यात एवं प्रमुख परिकल्पनावादी लेखक हैं, इसी कारण उनके सम्बन्ध में सबसे पहले विचार कर लिया गया है। क्रोचे एकान्ततः परिकल्पनावादी (एक्स्ट्रीम आइडियलिस्ट) हैं। हम उनके सम्बन्ध में विचार करते हुए दूसरे अध्याय में बता आये हैं कि सौन्दर्यबोध, सौन्दर्याभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-सृष्टि के साथ बाह्य वस्तु का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। हमने यह भी दिखा दिया है कि बाह्यवस्तु का तिरस्कार करके केवल अन्तरानुभूति पर ही सौन्दर्यतत्त्व का महल खड़ा करने में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं। क्रोचे के भूतपूर्व छात्र तथा मित्र जेन्टील (Gentile) ने क्रियावृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति की एकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और उस अनादि अनन्त वृत्ति की कल्पना के फलस्वरूप केवल आध्यात्मिक जगत् की सत्ता ही स्वीकार की है। अन्य सभी कल्पनावादियों के समान उन्होंने भी ज्ञान एवं सत्ता को एक माना है। उनका मत है कि विकास क्रम से ज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व कला की उत्पत्ति होती है। इसीलिए उन्होंने कला को केवल भावात्मक(फीलिङ्ग) माना है। (Frammenti-di estetica e letteratura) किन्तु वह इस भाव का स्वरूप निर्धारित नहीं कर सके। इसका कारण यही है कि उन्होंने ज्ञान के पूर्व ही भाव की उत्पत्ति स्वीकार कर ली है। फिर भी उन्होंने उसकी आनन्दात्मक संवेदना के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, उनकी आलोचना करना यहाँ निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

कल्पनावादी पहले एक दार्शनिक मत की स्थापना कर लेते हैं और फिर उसमें पाये जानेवाले अनुरूपतत्त्वों के आधार पर कला की आलोचना करते हैं। इतना होने पर भी यह केवल कलानुभूति के स्वरूप का विश्लेषण करके ही चुप नहीं हो गये हैं, बल्कि इन्होंने कलासृष्टि तथा कलाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी विचार किया है। नितान्त कल्पनावादी होने पर भी क्रोचे का एक ओर तो काण्ट से घनिष्ठ सम्बन्ध जान पड़ता है और दूसरी ओर 'कला के लिए कला' सिद्धान्त के प्रतिपादकों से। उन्होंने इस दूसरे सिद्धान्त के आधार पर कला के सर्वनिरपेक्षत्व की घोषणा की है। एक ओर क्रोचे का मत है कि उपादानस्वरूप अज्ञात

अन्तःसंस्कारों पर आध्यात्मिक वृत्ति का प्रयोग करने से हमें जो ज्ञान होता है उसे अन्तरानुभूति या स्वयंप्रकाशज्ञान कहते हैं, और दूसरी ओर काण्ट का मत है कि जिस उपादान पर आध्यात्मिक वृत्ति का प्रयोग किया जाता है, वह नितान्त अज्ञात होती है। जब हम उसका आध्यात्मिक वृत्ति से विचार करते हैं तभी उसके नाम, जाति आदि की जानकारी के साथ उसे विकल्प दशा में प्रत्यक्ष कर पाते हैं। निर्विकल्प अवस्था में जो वस्तु उपादानस्वरूप रहा करती है वह आध्यात्मिक नहीं बल्कि बाह्य होती है। काण्ट के इस मत के सर्वथा विरुद्ध क्रोचे का मत है कि इस उपादान का बहुत ही थोड़ा ग्रहण होता है, साथ ही यह बाह्य नहीं होता। यद्यपि यह हमारी ही आध्यात्मिक भावसंवेगात्मक अवस्था है, तथापि हमें इसका ज्ञान नहीं रहा करता। आध्यात्मिक वीक्षावृत्ति का प्रयोग करने पर इसका स्पष्ट ज्ञान तो अवश्य होता है किन्तु यह ज्ञान सविकल्प नहीं होता। सविकल्प का अर्थ है नाम-जाति सहित वस्तु का बोध, किन्तु अन्तरानुभूति में इन नामजात्यादि का कोई संसर्ग नहीं रहा करता। क्रोचे ने कला को बाह्यजगत् से पूर्णतया पृथक् मान लिया है, अतएव उसका कोई भी बहिरंग आदर्श स्वीकार नहीं किया जा सकता।

'कला के लिए कला' सिद्धान्त का यही अर्थ प्रतीत होता है कि सौन्दर्यसृष्टि किसी उच्चतर व्यापार का गौण साधन नहीं है। जिस प्रकार सुख-कामना में सुख ही साध्य माना जाता है, साधन नहीं, उसी प्रकार इस सिद्धान्त का अभिप्राय भी यही है कि सौन्दर्यसृष्टि स्वयं साध्य होती है, साधन नहीं। इस सिद्धान्त का न तो यह अभिप्राय है कि सौन्दर्यसृष्टि के अभाव में हमें और कोई कार्य ही नहीं रहता और न यह कि हमारा इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य ही जीवन में नहीं होता। 'साहित्य साहित्य के लिए है' यह कहने का अभिप्राय केवल इतना है कि हम साहित्य के द्वारा मंगल-अमंगल, अपकार या उपकार का विचार नहीं करना चाहते। जिस प्रकार हमारा उद्देश्य मंगल कार्य करना है, उसी प्रकार साहित्य-सृष्टि भी हमारा एक उद्देश्य होती है। यह भी स्वाभाविक उद्देश्य ही है। यह किसी अन्य उद्देश्य का साधन नहीं है। किसी भी काव्य या चित्र से धर्म अथवा भक्ति का उद्रेक हो सकता है, किन्तु इनमें से किसी को भी साहित्य का उद्देश्य नहीं बताया जा सकता। साहित्यसृष्टि का उद्देश्य केवल सौन्दर्य की सृष्टि करना है। इसके अतिरिक्त वह और किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होती। बहुत-से लोगों का विचार है कि इस प्रकार की धारणा के द्वारा कला को जीवन से पृथक् कर दिया गया है, किन्तु इसका अभिप्राय यह न होकर केवल इतना है कि जीवन के अन्य व्यापारों में सौन्दर्यसृष्टि का भी अधिकार और महत्त्व होता है। यह स्पष्टतः

देखा जा सकता है कि जीवन के सभी व्यापार ऐसे नहीं हैं कि उन सबको साध्य-साधन भेद से देखा जा सके। उदाहरणतः, भूख के अधिकार के साथ धर्म के अधिकार का कोई साधन-साध्य सम्बन्ध नहीं है। यह दोनों ही भिन्न-रूपात्मक हैं। क्षुधा की तृप्ति आहार से हो जाती है, किन्तु उस अधिकार को मिटाने से धर्म का अधिकार नहीं मिटता। इसी प्रकार जीवन में जैववृत्ति के समान वीक्षा-वृत्ति का भी महत्त्व है। जैववृत्ति की सार्थकता इस बात में है कि वह जैवव्यापारों से जीवन की रक्षा करे, उसकी स्थिति दृढ़-से-दृढ़तर बनाये। इसी कारण सभी जीवनोपयोगी पदार्थ उसके लिए महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे ही वीक्षावृत्ति की सार्थकता सौन्दर्यानुभव और सौन्दर्यसृष्टि में है। इसी कारण वीक्षावृत्ति के लिए सौन्दर्य का सबसे अधिक महत्त्व है। हमारा जीवन अनेक शक्तियों से संचालित होता है, जिनमें वीक्षाशक्ति भी एक है। अतएव वीक्षाशक्ति तथा उसका महत्त्व दोनों ही जीवन की सीमा में आते हैं। सौन्दर्यसृष्टि वीक्षावृत्ति को जितना ही अधिक तुष्ट कर पाती है, उतना ही वह सार्थक सिद्ध होती है। अतएव इस मत के अनुसार गुणयुक्त होने पर भी स्वाभाविक या नैसर्गिक सौन्दर्य का कलादृष्टि से कोई महत्त्व नहीं होता। इसके साथ सी यह भी माना जाता है कि विषय की गुरुता से ही सौन्दर्य की गुरुता सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः अभिव्यक्ति की विशिष्टता ही सौन्दर्य की नियामक होती है। अंग्रेज़ी में कहा गया है कि इसमें वस्तु गौण और अभिव्यक्ति ही प्रमुख होती है। (It is a doctrine of forms for forms' sake)

क्रोचे ने इस सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक अंगीकार किया है, किन्तु ब्रैडले आदि अनेक लेखक विषय की गुरुता को एकदम व्यर्थ नहीं मानते। हाँ, इतना अवश्य मानते हैं कि विषय की गुरुता से ही कलासृष्टि की गुरुता नहीं आँकी जा सकती। विषय के महत्त्वपूर्ण होने से ही हम किसी रचना को महत्त्वपूर्ण अथवा उत्कृष्ट नहीं मान सकते। जिस प्रकार मनुष्य के पतन पर एक काव्य की रचना की जा सकती है, उसी प्रकार किसी आलपिन के सिरे को ही कविता का विषय अवश्य ही नहीं बनाया जा सकता। दोनों को ब्रैडले भी समान महत्त्व देना पसन्द नहीं करते।[1] किन्तु क्रोचे इन दोनों में कोई भेद नहीं मानते, क्योंकि दोनों में अनुभूति का कोई तारतमिक भेद नहीं जान पड़ता। क्रोचे तो अनुभूति मात्र को सौन्दर्य मानते हैं, अतएव इनमें भी सौन्दर्य की कल्पना की ही जा सकती है।

---

1. "That truth shows that the subject settles nothing but not that it counts for nothing. The fall of man is really a more favourable subject than a pin's head." (Oxford Lectures on Poetry. P. 11.)

इसके विपरीत ब्रैडले का विचार है कि कुछ विषयों में अस्पष्ट रूप से सौन्दर्य-धर्म विद्यमान रहता है। यह ठीक है कि किसी तुच्छ कवि के हाथों पड़कर वह अस्पष्ट-धर्म व्यंजित नहीं भी हो सकता, किन्तु यह भी ठीक है कि अच्छा कवि भी जब तक विषय को आमूल परिवर्तित नहीं कर लेता तब तक आलपिन के सिरे, कच्चे मिर्च या बैंगुन के भुर्त्ते जैसे विषयों पर सौन्दर्यपूर्ण रचना प्रस्तुत नहीं की जा सकती। सारांश यह है कि हमें दोनों ही विद्वान् अतिवादी (एक्सट्रीमिस्ट) जान पड़ते हैं। किसी ने काव्य में विषय को ही सर्वस्व बताया है तो किसी ने कल्पना को ही प्रधान माना है। उचित तो यह है कि विषय और कल्पना या स्वरूप के संयोग से सिद्ध अखण्डता में ही सौन्दर्य व्यक्त होता है। आगे चलकर हम सिद्ध करेंगे कि रीति, शब्द-चयन, विषय या उसके साथ सम्पर्क आदि को आधार मानकर जो आलोचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं वे अध्यापक-वैयाकरणों की सी सीमित दृष्टियाँ मात्र हैं। ऐसी आलोचनाओं से केवल नियम-पालन को ही महत्त्व मिलता है।

अनन्त खण्डों में ही जब काव्य की अखण्डता की प्रतीति होने लगती है तभी काव्य का काव्यत्व सिद्ध होता है। यही बात चित्र आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।[१] कवि हो चाहे चित्रकार उसकी रचना में विषय या कल्पना अर्थात् वस्तु और स्वरूप की एकता के द्वारा जो रूप उपस्थित होता है उसके द्वारा व्यंजना की सहायता से वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकता है। कवि की अभिव्यक्ति में अन्तर्निहित सत्यों की व्यंजना से हमारे आन्तरिक रहस्य का उद्घाटन हो जाता है।[२] इसी से मिलता-जुलता मत संस्कृत आलंकारिकों का है, जिन्होंने व्यंजना को ही ध्वनि कहा है और इसी के आधार पर काव्य का महत्त्व निर्धारित करते हुए ध्वनिकाव्य को ही श्रेष्ठ माना है। किन्तु क्रोचे के सौन्दर्यवाद में उसे

1. 'Poetry in this matter is not, as good critics of painting and music often affirm, different from other arts ; in all of them the content is one thing with the form '. (Ibid P. 25).
2. 'The poet speaks to us of one thing but in this one thing there seems to lurk the secret of all. He said what he meant, but his meaning seems to beckon away beyond itself, or rather to expand into something boundless which is only focussed in it ; something also which we feel would satisfy not only the imagination but the whole of us ; that something within us and without '. (P. 26). Bradley further says 'Thus all-embracing perfection cannot be expressed in poetic words or words of any kind nor yet in music or in colour, but the suggestion of it is in much poetry, if not all, and poetry has in this suggestion this meaning a great part of its value.' (Ibid. P. 26-7).

उसे अत्यन्त अल्प महत्त्व मिला है।

उपरिलिखित मत के सम्बन्ध में सभी एकमत हों ऐसा नहीं है। दृष्टान्तस्वरूप प्लेटो को लिया जा सकता है। उन्होंने अपने फीड्रस (Phoedrus) नामक ग्रंथ में तथा प्लोटीनस (Plotinus) ने एनीड (Ennead) ग्रंथ में यह धारणा व्यक्त की है कि सभी प्रकार का सौन्दर्य हममें सत्य और मंगल को बढ़ाता है और सौन्दर्यसेवा के कारण मनुष्य को मानो दिव्यदृष्टि ही मिल जाती है। इसके परिणामस्वरूप वह अपने साथ जगत् की परमशान्ति और परममैत्री का विचार करके यथार्थ तत्त्वदर्शी का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है। अतः सौन्दर्य की मूल उपयोगिता यह है कि उसके द्वारा मनुष्य क्रमशः तत्त्वदर्शी हो सकता है। यदि हम अपने शास्त्रों के आधार पर कवि शब्द की निरुक्ति करें तो उसका अर्थ क्रान्तदर्शी होता है। क्रान्तदर्शी का अर्थ है साधारण ऐन्द्रियक ज्ञान का अतिक्रमण करके दिव्यदृष्टि का प्राप्तिकर्ता बन जाना। इसी कारण भगवान को भी कवि नाम से पुकारा गया है। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू याथातथ्यत्योऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।" अर्थात् वह महाकवि चिरन्तन काल से स्वेच्छानुसार जगत् की सृष्टि करता चला आ रहा है। प्लेटो ने 'फीड्रस' ग्रंथ में जो मत व्यक्त किया है उसका अभिप्राय यह नहीं है कि सौन्दर्य बड़े उन्नत चरित्रों या आदर्शों की सृष्टि करके मनुष्य के चित्त को परिष्कृत करता है, अपितु उसका अर्थ यह है कि सौन्दर्य में भी एक ऐसी अलौकिक शक्ति है जिसके द्वारा चित्त की कलुषता क्रमशः दूर हो जाती है और वह चरम दिव्यदृष्टि की प्रतिष्ठा कर सकता है। 'एनीड' में प्लोटीनस ने कहा है कि कला केवल दृष्टवस्तु का अनुकरण नहीं करती बल्कि वह समस्त प्रकृति में निहित आन्तरिक सत्ता में प्रवेश करती है।[1] प्लेटो ने तो यहाँ तक कहा है कि काव्य में मूलतः एक उन्मादक प्रेरणा रहती है। यह उन्माद ही काव्य का प्राण है और सौन्दर्य की पवित्रता का कारण भी यही है।[2]

---

1. "The arts do not simply imitate the visible thing but go back to the principles of its nature."

2. 'There is also a third kind of madness which is a possession of the Muses; this enters into delicate and virgin soul and there inspiring fancy, awakens lyric and all other numbers; with these adorning the myraid actions or the ancient heroes for the instruction of posterity. But he who, not being inspired and having no touch of madness in his soul, comes to the door and thinks that he will get into the temple, by the help of art—he, I say, and his poetry are not admitted.' (Jowett's Translation Page 579).

संभवतः प्लेटो की यह धारणा थी कि सौन्दर्योपभोग के अलौकिक उन्माद के द्वारा सौन्दर्यसृष्टि तत्त्वज्ञान के समकक्ष बन जाती है। सौंदर्य तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का एक उपाय है। सौन्दर्य के द्वारा मिलनेवाली इस शिक्षा के सम्बन्ध में वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth) ने 'द एडूकेशन ऑव नेचर' कविता में अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है :

Myself will to my darling be
Both law and impulse ; and with me
The girl, in rock and plain,
In earth and heaven, in glade and bower,
Shall feel an over-seeing power
To kindle or restrain.

....

The floating clouds their state shall lend
To her ; for her the willow bend ;
Nor shall she fail to see
E'en in the motions of the storm
Grace that shall mould the maiden's form
By silent sympathy.

....

And vital feelings of delight
Shall rear her form to stately height,
Her virgin bosom swell ;
Such thoughts to Lucy I will give
While she and I together live
Here in this happy dell.

'फीड्रस' में प्लेटो ने सौन्दर्य के साथ प्रेम का गंभीर सम्पर्क अनुभव करते हुए उसके द्वारा प्रेमोद्रेक के माध्यम से होने वाली मनुष्य की मानसिक विशुद्धि का वर्णन किया है।[1]

---

1. "So does the stream of beauty, passing the eyes which are natural doors and windows of the soul return again to the beautiful one ; there arriving and fluttering the passages of the wings, and watering them and inclining them to grow, and filling the soul of the beloved also with love. And thus he loves, but he knows not what ; he does not understand and cannot explain his own state ; he appears to have caught the infection of another's eye ; the lover in his mirror in whom he is beholding himself

प्लेटो के तिमोए(Timoeus) तथा अन्यान्य ग्रंथों के देखने से पता चलता है कि वह जगत के व्यापार तथा संस्थान में दिखाई देनेवाले चरम सामंजस्य की उपलब्धि को ही जीवन का चरम उद्देश्य समझते थे।[1] सौन्दर्यसृष्टि में भी बहुत कुछ इसी प्रकार का सामंजस्य रहता है तथा आपाततः जो वस्तुएँ बन्धन-हीन दिखाई देती हैं, उन्हीं पर बन्धन लगा दिये जाने पर नियमों का प्रवर्तन होता है। खेद का विषय है कि प्लेटो सौन्दर्यसृष्टि के अन्तर्हित सत्य को भली प्रकार ग्रहण नहीं कर सके। फल यह हुआ कि उन्होंने काव्यमात्र को ही अनुकरणात्मक मान लिया। अतएव उन्होंने अपने रिपब्लिक (Republic) नामक ग्रंथ में जहाँ कहीं भी कलाकृति को अनुकृति माना है वहीं उसकी कटु तथा निठुर आलोचना की है। ऐसी दशा में उन्होंने कला की कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं की है। फीड्रस में व्यक्त उनके मत से रिपब्लिक का यह मत पूर्णतया भिन्न है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि बाल्यकाल से ही उनकी होमर (Homer) के प्रति अनुरक्ति थी, फिर भी सचाई यह है कि इस प्रकार के अनुकरण का कोई महत्त्व नहीं है। ईश्वर की सृष्टि नित्य है और जाति (आइडिया) की सृष्टि है, किन्तु उसके अनुकरण में की गई मनुष्यसृष्टि ध्वंसशील होती है। नाशवान होने के कारण ही वह मिथ्या भी होती है।[2] समस्त कला अनुकृति है। अनुकरण के द्वारा किसी वस्तु का केवल अधर्म तथा हीन अंश ही प्रकाश में आता है, इसीलिए कला के द्वारा भी कोई श्रेष्ठ कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। प्लेटो ने बाद में चलकर अपने द्वारा पहले की गई कला की प्रशंसा का ध्यान न रखते हुए रिपब्लिक ग्रंथ में होमर आदि की अविचारपूर्ण निन्दा की है।

---

but he is not aware of this. When he is with the lover both cease from their pain, but when he is away then he longs as he is longed for and has love's image, love for love (Anteros) lodging in his breast, which he calls and deems not love but friendship only, and his desire is as the desire of the other, but weaker ; he wants to see him, touch him, kiss, embrace him, and not long afterwards his desire is accomplished." (Phoodrus, Page 589.)

1. Thus much let us say that God invented and gave us sight to this end,—that we might behold the courses of intelligence in the heaven and apply them to the courses of our own intelligence which are akin to them, the unperturbed to the perturbed. (P. 540)
2. Then the imitator, I said, is a long way off the truth, and can do all things because he lightly touches on a small part of them and that part an image. For example :—a painter will paint a cobler, a carpenter or

प्लेटो के इस मत-वैषम्य का सहारा लेकर वॉकमैन (Volkmann) ने अपने ग्रंथ leahrbuck der psychologie (२-१३३) में सौन्दर्य एवं कला दोनों को स्वतंत्र बताया है। प्लेटो की उक्तियों से अवश्य ही इस विचार का संकेत नहीं मिलता। यद्यपि प्लेटो के दोनों मतों में भिन्नता है, तथापि उनके फीड्रस ग्रंथ के आधार पर कहा जाता है कि वह मनुष्य के चित्त के विशुद्धि ही कला का यथार्थ कार्य मानते थे। इसी आधार पर काण्ट (Kant) ने कहा है कि चरित्र की अत्यन्त विशुद्धि के अभाव में यथार्थ सौन्दर्यबोध तथा सौन्दर्यसृष्टि संभव नहीं है।[1] वह आदर्श की स्थापना में ही कला की सार्थकता मानते हैं और उसी के आधार पर किसी विषय की सार्वजनीन ग्राह्यता को स्वीकार करते हैं। उनके विचार से जिस सौन्दर्य से किसी आदर्श की सिद्धि होती है वहीं उचित है और इसी कारण कोई सौन्दर्यकृति मूल विषय की अपेक्षा नितान्त रमणीय और ग्राह्य बन जाती है। इसके बिना विषय हमें आकर्षित ही नहीं कर सकता।[2]

एक ओर जितने विचारक 'कला के लिए कला' सिद्धान्त के पोषक दिखाई देते हैं, दूसरी ओर उतने ही कला का उद्देश्य शिक्षा माननेवाले भी हैं। सर फिलिप सिडनी (Sir Philip Sydney) ने अपने 'डिफेन्स ऑव पोएज़ी' (Defence of Poesy) ग्रंथ में बाइबिल के समस्त प्रार्थनागीतों में दिये गये उपदेशों की चमत्कारिता के कारण उन सबको उच्च स्तर की कविता मान लिया

---

any other artist though he knows nothing of their arts ; and if he is a good artist, he may deceive children or simple persons, whsn he shows them his picture of a carpenter from a distance, and they will fancy that they are looking at a real carpenter......And yet he will go on imitating good and evil of which he has no knowledge, and will, therefore, only imitate the appearance which good and evil were to the ignorant and the vulgar.........the imitative poet is not by nature made nor his art intended to affect or please the rational principle in the soul, if his object is to be popular; but he will prefer the passionate and fitful temper which is easily imitated—(Page 447).

1. I do maintain that to take an immediate interest in the beauty of nature (not merely to have taste in estimating it) is always a mark of a good soul ; and that, where this interest is habitual, it is atleast indicative of a temper of mind favourable to the moral feeling that it should really associate itself with the contemplation of nature. (Critique of Judgment-Meredith's Translation Page 157)
2. The ideal of the beautiful consists in the expression of the morals apart from which the object would not please at once universally and positively. (Ibid Page 79).

है। पोएट (Poet) शब्द जिस ग्रीक शब्द से उत्पन्न हुआ है उसका अर्थ ही है निर्माता। अन्य सभी प्रकार का विज्ञान भी प्रकृति के रहस्य को जानने का प्रयत्न करता है, किन्तु कवि ही एक मात्र ऐसा है जो एक नवीन तथा लोकोत्तर लोक की सृष्टि कर सकता है। प्रकृति के रूप में हमारे चारों ओर दिखाई देनेवाला संसार अनेक दोषों से भरा है। केवल कवि ही इससे उत्कृष्ट रचना करने में समर्थ है।[1] आचार्य मम्मट ने भी निम्न शब्दों में यही बात कही है :

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

अर्थात् कवि के वाक्य सबसे श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि उसकी सृष्टि प्राकृतिक सृष्टि के नियमों से जकड़ी नहीं रहती। उसके वाक्य सदानन्दमय होते हैं और उसका आनन्द स्वयं उसकी रचना के अतिरिक्त और किसी के अधीन नहीं होता। विशेषता यह है कि प्राकृतिक जगत् में केवल ६ रस माने जाते हैं, किन्तु काव्य-जगत् में ९ मनोज्ञ रसों की व्यवस्था की गई है। आनन्दवर्धन ने भी लिखा है :

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥

अर्थात् अनन्त काव्यसंसार में कवि ही एकमात्र स्रष्टा है। उसके द्वारा रचित विश्व केवल उसकी रुचि का ही अनुसरण करता है। जब कवि का चित्त शृंगार रस से द्रुत हो जाता है तो मानो उसके द्वारा रचित जगत् भी उसी में मग्न हो जाता है। जब उसके चित्त में वैराग्य उपस्थित होता है, तब उसके द्वारा रचित जगत् भी स्वादहीन हो जाता है। आनन्दवर्धन तथा मम्मट के कथनों से जान पड़ता है कि लोकोत्तर जगत् की सृष्टि करना ही कवि की विशेषता है। यद्यपि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कवि स्वेच्छापूर्वक संसार को शिक्षा देने के लिए उत्कृष्टतर

1. Only the poet disdaining to be tied to any such subjection, lifted up with the vigour of his own invention, doth grow, in effect, in to another nature, in making things either better than nature bringeth forth, or, quite anew, forms such as never were nature......so as he goeth hand in hand with nature, not enclosed within the narrow warrent of her gifts, but freely ranging only within the zodiac of his own wit. Nature never set forth the earth in so rich tapestry as diverse poets have done......her world is brazen, the poets only deliver a golden (p. 7).

जगत् की सृष्टि करता है, तो भी मम्मट ने एक दूसरे स्थल पर तो कहा ही है कि काव्य कान्ता के सदृश उपदेश देता है। "कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे।" मम्मट ने बताया है कि उपदेश तीन प्रकार का होता है : १—प्रभुसम्मित, २—सुहृत्सम्मित तथा ३—कान्तासम्मित। प्रभुसम्मित उपदेश बिना बिचारे दिया गया विधिमूलक उपदेश होता है, जैसे, पिता, शास्त्र एवं देश के कानूनों का निर्देश। जिस उपदेश के द्वारा बन्धुभाव से अनेक उदाहरण देते हुए भले-बुरे का ज्ञान कराकर सत्कार्य में प्रवृत्त कराया जाता है वह सुहृत्सम्मित कहलाता है। जिस प्रकार पत्नी सीधे उपदेश न देकर भी प्रेमपूर्वक अपनी ओर पति को आकर्षित करके उससे अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करा लेती है, उसी प्रकार यद्यपि काव्य भी उपदेश नहीं देता तो भी कवि की सहानुभूति के द्वारा रससिक्त चरित्र के प्रति पाठक का मन आकर्षित कर लेता है। यही कान्तासम्मित उपदेश है।

सिडनी ने अरस्तू के समान काव्य को अनुकृति माना है, किन्तु मम्मट के समान उनकी भी यह धारणा है कि कवि अपनी सृष्टि को प्रचुर आनन्दमय तथा रसयुत बना देते हैं, इस कारण पाठक उनके द्वारा दी जानेवाली शिक्षा से प्रभावित हो जाते हैं।[१] सिडनी ने तो कवि को दार्शनिक की अपेक्षा भी श्रेष्ठ ठहराया है। इसका कारण यह है कि दार्शनिक तथा ऐतिहासिक शिक्षा केवल सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा अथवा सामान्य रूप में प्रयुक्त होती है, जब कि कवि की शिक्षा सामान्य तथा विशेष दोनों रूपों में प्रवृत्त होती है। कवि किसी चित्र में सम्पूर्ण दार्शनिक शिक्षा दे देता है और उसके वर्णन के द्वारा दार्शनिकों द्वारा गृहीत सत्य इतना रूपमय हो उठता है कि वह अनायास ही हृदय में पैठ जाता है। अन्धे को, वर्णन करके, हाथी का रूप नहीं समझाया जा सकता, उसके लिए तो मूर्त्ति ही उपस्थित करनी होगी। इसी कला में सफल होने के कारण ही कवि-सृष्टि श्रेष्ठ मानी गयी है।[२] किन्तु मम्मट तथा सिडनी के मतों में बड़ा अन्तर

1. For these, indeed, do merely make to imitate, and imitate both to delight and teach, and delight to move me to take that goodness in hand, which without delight they would fly as from a stranger ; and teach to make them know the goodness whereunto they are moved. (Defence of Poesy, Page 9).

2. Now doth the pearless poet perform both ; for whatsoever the Philosopher saith should be done, he giveth a perfect picture of it in some one by whom he presupposeth it was done, so as he coupleth the general notion with the particular example. A perfect picture, I say ; for the yieldeth to the powers of the mind an image of that whereof the philosopher bestoweth but a wordish description whcih doth neither strike, pierce nor possess the sight of the soul so much as least other doth. (P. 14).

है। सिडनी का विचार है कि कवि स्वेच्छापूर्वक उपदेश देने के कारण रुचिकर सृष्टि के द्वारा अपने उपदेश को रससिक्त करके उसे सहज ही लोकग्राह्य बना देता है। मम्मट शिक्षा को गौण कर्म मानते हैं। उनके विचार से कवि परमानन्द की सृष्टि के लिए ही रचना करता है। उसी आनन्द के फलस्वरूप कवि की पात्र-विशेष के प्रति रुचि के अनुकूल पाठक का अनुराग भी जाग उठता है। उपदेश देना गौण कर्म है। भामह ने कहा है कि काव्य के द्वारा धर्मार्थ काम मोक्ष इस चतुर्वर्ग का लाभ होता है,[1] किन्तु संस्कृत आलोचकों में से बहुत-से उनसे सहमत नहीं हैं कि कवि इसी लाभ की दृष्टि से काव्य-रचना करता है। इस सम्बन्ध में शैली (Shelley) तथा संस्कृत आलंकारिकों के मध्य प्रायः मेल पाया जाता है।

शैली काव्य को मनुष्य की कल्पना की अभिव्यक्ति मानते हैं। मनुष्य मानो एक वीणा की भाँति है। उसके ऊपर सदा ही बाहरी तरंग का प्रभाव हुआ करता है, किन्तु उसके अन्तर में एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा इस बाहर की तरंग को वह सदा ही इस प्रकार परिमूर्त्तित करता है, जिससे उनके बीच एक सामंजस्य उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार वायलिन बजानेवाला संगीतज्ञ सुरों में सामंजस्य उपस्थित करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी किसी आन्तरिक्त शक्ति से इन्द्रियद्वार पर प्रतिक्षण आघात करनेवाली बाहरी तरंगों के साथ ताल देकर एक आभ्यन्तरीण सामंजस्य उपस्थित करने में समर्थ होता है।[2] मानो रवीन्द्रनाथ ने इसी भाव को ध्वनित करते हुए कहा है :—

निभृत ए चित्त माझे, निमेषे निमेषे बाजे
जगतेर तरंग आघात
ध्वनित हृदये ताई मुहूर्त्त विराम नाइ
निद्राहीन सारा दिन रात

....

---

1. धर्मार्थ काम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं चसाधुकाव्य निबन्धनम् (निषेवणम्)॥

2. Poetry in a general sense may be defined to be "the expression of the imagination". Man is an instrument over which a series of external and internal impressions are driven, like the alternations of an everchanging will over an areia and liar which move it by their motion to ever-changing melody. But there is a principle within the human being which acts otherwise than in a liar and produces not melody alone, but harmony by an internal adjustment from the sounds and motions thus excited witd impressions which excited them.

आशा दिये भाषा दिये ताहे भालोवासा दिये
गड़े तुलि मानसी प्रतिमा ।

शेली ने यह भी कहा है कि मनुष्य अपने तथा जगत् के बीच अपने अनजाने ही अनेक प्रकार का सामंजस्य पाता है। कवि उसे अपनी काव्यमय भाषा में व्यक्त कर देता है। बाह्य जगत् की जो छाया हमारे चित्त पर अंकित रहती है, उसी अस्पस्ट चिह्न को कवि अपनी भाषा में व्यक्त कर देता है।[1] अतएव देखा गया है कि दूसरे के द्वारा अलक्षित अस्पष्ट सम्बन्धों को स्पष्ट रूप देते हुए कवि भाषा की सृष्टि करता है। वह अपनी अन्तर्दृष्टि से वर्तमान तथा भविष्यत् के अनेक प्रकार के सम्बन्धों की भी कल्पना कर सकता है। इसी कारण कवि को भविष्यद्द्रष्टा भी कहा जाता है। किन्तु इस समस्त बहिरंगता का विचार न करके मनुष्य के अज्ञात अन्तःपुर से प्रसूत शक्ति के रूप में छन्दोमय वाक्य-विन्यास को काव्य कह सकते हैं।[2] काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में शेली ने 'सद्यः परनिर्वृत्तये' के समान आनन्द मिश्रित शिक्षा को स्वीकार किया है।[3] इसी से श्रेष्ठ काव्य के द्वारा देशवासियों की नैतिक उन्नति हुआ करती है।

होमर द्वारा अंकित एचिलस (Achilles) तथा हेक्टर (Hector) आदि के चरित्र को पढ़कर लोगों के मन में उनके अनुकूल रसोद्रेक होता है और वे भी उसी को आदर्श मानकर कल्पना करना सीखते हैं।[4] शेली का

---

1. In the youth of the world, men dance and sing and imitate natural objects observing in these actions as in all others, a certain rhythm or order......those in whom it exists to excess are poets in the most universal sense of the word ; and the pleasure resulting from the manner in which they express the influence of society or nature upon their own minds communicates itself to others and gathers a sort of reduplication from the community......These similitudes or relations are finely set by Lord Bacon to be "The same footsteps of nature impressed upon the various subjects of the world."—and he considers the faculty which perceives them as the store-house of actions common to all knowledge.
2. Poetry in a more restricted sense expresses those arrangements of language and especially metrical language which are created by that empirical faculty whose throne is curtained within the invisible nature of man.
3. Poetry is ever accompanied with pleasnre : all spirits in which it falls open themselves to receive the wisdom which is mingled with delight.
4. Homer embodied the ideal perfection of his age in human character ; nor can we doubt that those who read his verses were awakend to an ambition of becoming like to Achilles, Hector and Ulysses ; the truth

यह विचार मम्मट की 'कान्तासम्मिततयोपदेश युजे' पंक्ति के सर्वथा अनुरूप है। मम्मट ने भी कहा है कि रामायण पढ़कर लोगों के मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि राम की तरह होना चाहिए, रावण की तरह नहीं। 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्'। शैली ने यह भी बताया है कि काव्य जगत् पर पड़े सौन्दर्य को ढँकनेवाले आवरण को हटा देता है। चरित्र के महत्त्व का मूल है प्रेम। प्रेम का मूलमन्त्र है अपने-आपको दूसरे से अभिन्न मानकर देखना एवं दूसरे के सुख-दुःख के साथ अपने को मिलाकर देखना। काव्य के द्वारा यही शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण काव्य नीतिमार्ग को दृढ़ करता है और उस पथ में चलने की शक्ति जुटा देता है। इसी कारण श्रेष्ठ कवि अपने समकालीन विचारों के वशवर्ती होकर संकीर्ण रूप में अच्छे-बुरे का उपदेश नहीं देते। वह हमारे हृदय में कल्पनाशक्ति जगाकर आनन्दवृत्ति को बढ़ाने के साथ-साथ मङ्गल तथा सुन्दर की ओर हमारे चित्त को आकर्षित करता है। वह मुख्यतः उपदेश नहीं देता, काल-विशेष की क्षुद्र सीमाओं से बँधकर साधारण उपदेशक के समान उपदेश नहीं देता, बल्कि हमारे चित्त की सौन्दर्यवृत्ति और कल्पनावृत्ति को जागरूक बनाकर चिरन्तन महत्त्व के लिए उपादान उपस्थित कर देता है।[1]

इस उक्ति के साथ साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की उक्ति भी बहुत साम्य रखती है। उन्होंने कहा है कि सत्वोद्रेक के बिना काव्यरस का उद्रेक नहीं होता। सत्वोद्रेक से अखण्ड एवं चिन्मय स्वप्रकाशानन्द तथा वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य रस उत्पन्न होता है जो ब्रह्मानन्द-सहोदर कहलाता है।[2] संस्कृत दर्शन के अनुसार

---

and beauty of friendship, patriotism and percevering devotion to an object, where unveiled to their deaths in these immortal creations ; the sentiments of the auditors must have been refined and enlarged by a sympathy with such great and lovely impersonations until from admiring the imitatives and from imitation they identified themselves th. objects of their admiration.

1. Poetry enlarges the circumference of the imagination by replenishing it with thoughts of ever new delight, which have the power of attracting and assimilating to their own nature all other thoughts ...... Poetry strengthens the faculty which is the organ of the moral nature of man. A Poet, therefore, would do ill to embody his own conceptions of right and wrong which are usually those of his place and time, in his poetical creations, which participate in neither.

२ सत्त्वोद्रेकादखण्ड प्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्श शून्यः ब्रह्मास्वाद सहोदरः॥

सत्त्वोद्रेक के पूर्णवत्ता, पवित्रता तथा शुचिता उत्पन्न होती हैं। यदि सौन्दर्यसृष्टि एवं सौन्दर्योपलब्धि द्वारा सत्त्व गुण का उद्रेक होता है, तो उसके परिणामस्वरूप ही चित्त की पवित्रता और शुचिता उपस्थित होती है। इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। कवि इच्छा करे या न करे सौन्दर्यसृष्टि एवं सौन्दर्यबोध के साथ-साथ मनुष्य की उद्भासित रसवृत्ति के द्वारा ही चित्त की पवित्रता, शुचिता तथा मैत्री संभव है। साहित्यदर्पण में यह भी लिखा है कि रसास्वाद के साथ ही हमें दूसरे व्यक्ति के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव होने लगता है। अपने को दूसरे के साथ एक करके देखना ही रस का स्वाभाविक विद्रावण है। जहाँ कला के सौन्दर्य का अनुभव होता है उसी स्थान पर कवि या शिल्पी द्वारा अनुभूत और व्यक्त रस में पाठक या दर्शक स्वानुभूत रस के द्वारा प्रवेश पा जाता है। कवि का भावसंवेग अपने शिल्प से जिस भावसंवेग को उद्बुद्ध करना चाहता है, उसके उत्तेजन के लिए पाठक या दर्शक कवि के चित्त में प्रवेश पा सकते हैं। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' में लिखा है : "प्राक् स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायाम् उपयुज्यते।" भाव-संवेग में किसी कवि के हृदय के साथ पाठक या दर्शक के चित्त का तादात्म्य ही साधारणीकरण कहलाता है। कवि की जिस हृदय-वृत्ति का रस के द्वारा पाठक के चित्त के साथ ऐक्य होता है, वह हृदय-वृत्ति उसके व्यक्तिगत-प्रयोजन बहुल सामाजिक जीवन का सुख-दुःख नहीं है। सांसारिक प्रयोजन-बहुल सुखदुःख से पृथक् एक अलौकिक अनुभव के रूप में कवि का वह सुख-दुःख संचित रहता है, इसी कारण अलौकिक रस-संवेग-स्रोत में कविचित्त के साथ पाठक का चित्त एक हो जाता है। समस्त नीतिशास्त्र की प्रेरणा का मूल-मन्त्र मनुष्य के साथ मैत्री द्वारा ऐक्य स्थापित करना है। किन्तु यह ऐक्य किसी विधान, निर्देश-आदेश अथवा नियम द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता। इसी कारण नीतिशास्त्र की व्यवस्था में जो विधि-निषेध का रूप प्रकट होता है, जैसे, कोई किसी का अपकार न करे, चोरी न करे इत्यादि, उनमें उसी विधि-निषेध का ही रूप विचारणीय हो सकता है, किन्तु जीवन में उनका किस प्रकार पालन होता है, इस सम्बन्ध में उससे कोई सहायता नहीं मिलती। प्रचलित नीतिशास्त्र की प्रणाली से इतना ही समझ में आता है कि कोई एक ही आदर्श सर्वांगीण भाव से भले-बुरे के मापदण्ड के रूप में व्यवहृत हो सकता है या नहीं। किसी ने कहा है कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख खोजने पर यथार्थ नैतिक जीवन बिताया जा सकता है। किसी ने कहा है कि पारिपार्श्विक अवस्था के संघर्ष में अपने को उसके उपयुक्त सामंजस्य

में चलाने पर नैतिक जीवन बिताया जा सकता है। किसी ने कहा है कि हममें इसके कारण जो सर्वनिरपेक्षभाव से विधि-निषेधात्मक एक अलौकिक वाणी निसृत होती है, उसका अनुसरण करने पर प्रकृत नैतिक जीवन की उपलब्धि होती है। किसी ने कहा है कि हमारे अन्तर में सद्विवेक रूप में भगवान की जो वाणी निरंतर गूँजती है, उसके अनुकरण के द्वारा ही वास्तविक नैतिक जीवन बिताना संभव है। भिन्न मनीषियों ने उक्त प्रकार से अपने सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयत्न किया है। साथ ही उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनके सिद्धांत के आदर्श का अवलम्बन करके ही नैतिक जीवन की विविध प्रकार की समस्याओं का समाधान हो सकता है। इन आदर्श पालन के नियम-प्रतिबन्धों के निवारण का कार्य नीतिशास्त्र के विचार के अन्तर्गत नहीं आता। नीतिशास्त्र को शास्त्र या विज्ञान कहते हैं। यही कारण है कि क्रियात्मक उपदेश का क्षेत्र नीतिशास्त्र के क्षेत्र से बाहर नहीं पड़ता। नीतिशास्त्र इस बात का विचार करता है कि नैतिक आदर्श का स्वरूप क्या है, उस जीवन की अनुभूति क्या है और उसमें किस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं या किस प्रकार के आदर्श का पालन करने से उन समस्याओं का समाधान हो सकता है? नैतिक जीवन की प्रायः सभी घटनाएँ दो व्यक्तिओं के स्वार्थजनित सम्बन्ध के कारण ही घटित होती हैं। यदि प्राणिजगत के इतिहास का विचार करें तो पता चलता है कि परस्पर स्वार्थ के संघर्ष और जैव-स्वार्थ के संरक्षण से ही किसी का पतन और किसी का उत्थान होता रहा है। इस द्वन्द्व में पलकर ही हमने उत्थानशक्ति प्राप्त की है। व्यक्तिगत तुच्छ स्वार्थों के संघर्ष से अपने संरक्षण की चेष्टा सर्वजीव-साधारण हो ही, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमारी सभी प्रकार की जैव-उन्नति इसी से हुई है। यही कारण है कि जब किसी एक व्यक्ति के साथ दूसरे किसी का जैव-संघर्ष होता है तब प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के स्वार्थ का ध्वंस करके अपने स्वार्थ के संरक्षण और उसके संस्थापन की चेष्टा करता है। इसी के फलस्वरूप दुर्नीति उपस्थित होती है। प्रायः सभी प्रकार की दुर्नीति को अन्य किसी व्यक्ति की किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा का एक प्रकार-भेद कहा जा सकता है। जैव-संघर्ष का इतिहास हमें जितना पर-हिंसा के सम्बन्ध में सदा जागरूक और तत्पर रखता है, सामाजिक जीवन-यापन की प्रयोजनीयता उतनी ही हमें इस हिंसावृत्ति को दमन करके पारस्परिक न्याय-युक्त अधिकार स्वीकार करने में सहायता देती है। समाज में रहकर हम सभी पारस्परिक सहायता की आशा और अपेक्षा रखते हैं, जिसके कारण कभी-कभी बाध्य होकर लोग परस्पर स्वार्थ का त्याग करते देखे जाते हैं।

किन्तु इस वाह्य त्याग द्वारा आत्मत्याग स्वाभाविक और सरस नहीं हो सकता। कला-जनित प्रसन्नता में जब एक व्यक्ति के चित्त का दूसरे के चित्त से मेल हो जाता है; मानो तब परस्पर निस्वार्थ-मिलन का अलौकिक द्वार उन्मुक्त हो जाता है। समस्त प्राणिजगत और सामाजिक इतिहास में स्वार्थ का ही मिलन दिखाई देता है, किन्तु इसके विपरीत कला का मिलन इस स्वार्थजनित मिलन की गंध-मात्र से मुक्त होता है। कवि के चित्त में प्रस्फुटित भावसंवेग काव्य के रूप में प्रकाशित होते हैं। इन भावसंवेगों में इतरजातीय किसी क्षुद्र स्वार्थ का संश्लेष नहीं होता जो सर्वस्वार्थ वर्जित भावसंवेग गूढ़ अन्तःप्रदेश में प्रविष्ट होकर प्रस्फुटित होते हैं उनमें आनन्द की गंभीरता रहती है, परन्तु वह वास्तविक जीवन में व्यवहार के योग्य नहीं होते, अतएव उनमें से कोई भी क्षुद्र स्वार्थ के समान नीच नहीं होता। कवि के इसी प्रकार के भावसंवेग के साथ पाठक का चित्त जब भावपरिप्लुति के साथ मिलता है, तब दोनों चित्त एक आनन्दलोक में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार आनन्द तथा आर्ट में दिखाई देने वाली सम्पूर्णतया स्वार्थसंस्पर्श-वर्जित पारस्परिक एकीकरण की चेष्टा के फलस्वरूप हमारा चित्त धीरे-धीरे नीति-अनुमोदित पंथ पर चलकर अहिंसाभाव धारण कर सकता है। जैव-इतिहास के संवर्ष में पारस्परिक द्वन्द्व के कारण विरोधमूलक व्यक्तित्व की सृष्टि होती है, उसके विपरीत कला में मिलनद्वार उद्घाटित होता है। सामाजिक जीवन की उपयोगिता के लिए किये गये स्वार्थ-बलिदान में ही उच्च जैवप्रणाली का संकेत मिलता है। किन्तु कला में घटित होने वाला मिलन उस प्रणाली के नितान्त विपरीत और विरुद्ध धर्म से युक्त होता है। इसी कारण कोई भी कवि या चित्रकार मुख्यतः उपदेश न देकर भी अपनी सृष्टि के द्वारा मनुष्य का मनुष्य के साथ आनन्दमय निस्वार्थ मिलन स्थापित करता हुआ हमारे चित्त को नैतिक जीवन के मार्ग पर चलने के लिए दृढ़ता प्रदान करता है। इस प्रकार कला मनुष्य के हृदय में कोमलता जाग्रत करके उसे परस्पर मैत्री-सम्बन्ध में बाँध देती है।

टॉल्सटाय (Tolstoy) ने इस बात पर तो जोर दिया ही है, [1] साथ ही उसे अन्य प्रवादों से भी पृथक् रखने की चेष्टा की है। जैसे, वे उसे संचित शक्ति की अत्यधिकता-जनित अभिव्यक्ति, अनुभावों द्वारा भावों का बाह्य प्रकाशन अथवा मात्र मनोरंजनात्मक नहीं मानते। न तो कला सौन्दर्य का प्रकाश मात्र है, न संचित निरुद्ध शक्ति का प्रवाहस्रोत, न भाव-संभोग का बाह्यप्रकाशन और न

1. The activity of art is based on the fact that a man, receiving through his sense of hearing or sight another man's expression of feeling, is capable of experiencing the emotion which moved the man who expressed it.

सुन्दर की सृष्टि करना या आनन्द देना ही उसका उद्देश्य है। उनके मत में जिस वृत्ति के द्वारा मनुष्य मनुष्य के साथ एक होकर मंगलमार्ग पर बढ़ता है, कला उसी की सिद्धि का साधन है। [1] यहाँ तक कि यदि मनुष्य में भावग्रहण की ऐसी शक्ति न हो तो वह पशुवत् रह जायगा। [2] 'साहित्य' शब्द की उत्पत्ति सहित शब्द से हुई है। इसी कारण धातुगत अर्थ के आधार पर इसमें मिलन का संकेत मिल सकता है। यह केवल भाव से भाव का, भाषा से भाषा का या ग्रंथ से ग्रंथ का मिलन ही नहीं होता, बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्त्तमान का, दूरी के साथ निकटता का अत्यन्त अन्तरंग योग-साधन साहित्य के अतिरिक्त कहीं और सम्भव भी नहीं है। साहित्य की धारावाहिकता के अतिरिक्त पूर्वपुरुष के के साथ सचेतन मानसिक-योग कहीं भी रक्षित नहीं रह सकता।" 'बँगला जातीय साहित्य' नामक पुस्तक में कथित रवीन्द्रनाथ के इन विचारों से साम्य रखते हुए टॉल्स्टाय ने भी अपने भाव व्यक्त किये हैं। [3] उन्होंने यह भी कहा है कि क्रिश्चियन-आर्ट मनुष्य के मन में भगवद्विषयक रति ही नहीं मनुष्यविषयक प्रीति भी उत्पन्न करती है। वह सभी मनुष्यों को प्रगाढ़तर बन्धन में बाँध सकती है, अतः अन्य सभी कलाओं से उत्कृष्टतर होती है। उनका कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य की सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ हिंसामूलक भावसंवेग अहिंसामूलक प्रवृत्ति में परिवर्तित होते जाते हैं, उसी प्रकार कला के द्वारा भी यह संकेत मिलता है कि जब उससे अधिकांश रूप से अहिंसा, मैत्री तथा प्रेम के अनुकूल भाव-संवेग अधिक-से-अधिक मनुष्यों को एक करने लगते हैं तब हम उस कला

---

1. Art is not, as a metaphysician says, the manifestation of some mysterious idea of beauty or God; it is not, as the Hsethitical physiologist say, a game in which man lets off his excess of stored-up energy; it is not the expression of a man's emotions by external signs; it is not the production of pleasing objects; and above all, it is not pleasure; but it is a means of union among men joining them together in the same feelings, and indispensable for the life and progress towards well-being of individuals and of humanity. (What is art.—Page 50).

2. If people lack this capacity to receive the thoughts conceived by the man who preceeded them, and he pass on to others their own thoughts, men would be like wild beasts or like Kashar hauser.

3. Art, all art, has this characteristic that it unites people. Every art causes those to whom the artist's feeling is translated to unite in soul with the artist and also with all who receive the same impression—(Ibid What is Art.—Page 163).

को उत्कृष्ट कहते हैं। [1]

कला की उत्कृष्टता के टॉल्स्टाय ने तीन लक्षण बतलाये हैं : १—कला का उद्देश्य एक व्यक्ति के भावों को अन्य में संक्रमित करना है, अतः यह आवश्यक है कि कला में यह भावसंवेग अत्यन्त स्फूर्त होकर व्यक्त हों। अधिक परिमाण में स्फूर्तिमय होकर प्रकाशित न होने पर कोई भी भाव सहज ही अन्य व्यक्ति द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। २—जो कला जितने ही अधिक व्यक्तियों में व्यक्त भाव का संक्रमण करा सकती है, उसे जितने ही लोग समझ सकते हैं, वह उतनी ही उत्कृष्ट होती है। ३—मनुष्य को सहानुभूति या प्रेम से बाँध सकनेवाला भाव-संवेग जिस कला में जितना ही प्रकाशित होता है, वह कला उतनी ही उत्कृष्ट होती है। इसी कारण 'क्रिश्चियन आर्ट' के सम्बन्ध में टॉल्स्टाय ने कहा है कि जिस छवि में सदृशता, धनी व्यक्तियों का आमोद-प्रमोद और कार्यहीन अवसन्न-जीवन का चित्र दिया गया है अथवा नग्न स्त्री मूर्त्ति अंकित की गयी है या सभी स्थलों पर कामोद्दीपक चित्र अंकित किये गये हैं, वह सभी निकृष्ट कोटि की कला हैं। इसी कारण बिठोवन (Beethoven), शीमन (Sheemann), बर्लिओ (Berlioz), लित्ज़ (Liszt), वैग्नर (Wagner) आदि ने जिन समस्त नाट्य, संगीत आदि की रचना की उसे टॉल्स्टाय ने अत्यन्त निकृष्ट कोटि की कला बताया है। कारण यह है कि उनमें न तो भावों की उच्चता ही है और न मनुष्य की एकता का उपादान ही है। साथ ही नाइन्थ सिम्फ़ानी (Ninths ymphony) आदि संगीत को थोड़े लोग ही समझ सकते हैं। अतः संक्रमण के विचार से इन सबकी व्यापकता बहुत कम है। किसी शिल्पी या कवि की ख्याति के आधार पर कला का विचार नहीं किया जाता। उसकी उत्कृष्टता का विचार केवल यह देख-कर होता है कि वह कितने अधिक व्यक्तियों को एक करने में सहायक होती है। यही कारण है कि टॉल्स्टाय ने शेक्सपीयर (Shakespeare) के अधिकांश नाटकों को कुत्सित और निकृष्टतर बताया है। 'रोमियो और जूलियट' के समान काव्य पढ़ने से आस्वादित रस न तो मनुष्य को पवित्र करता है न पवित्रता की ओर प्रवृत्त ही करता है। ईसा के कथनानुसार हम प्रत्येक मनुष्य को समान नहीं सम-झते, इसीलिए दुःख उत्पन्न होता है। हमारी समस्त सभ्यता और हमारे जीवन

1. And as the evolution of knowledge proceeds by truer and more necessary knowledge dislodging and replacing what is mistaken and unnecessary so the evolution of feeling proceeds through art-feelings less kind and less needful for the well-being of mankind are replaced by others kinder and more needful for that end. That is the purpose of art.—(What is Art—page 156).

का उद्देश्य इसी ऐक्य-बन्धन की ओर अग्रसर होता जा रहा है। अतएव वही कला उत्कृष्ट होती है जो इस मार्ग में सहायक हो सके। अब तक सौन्दर्य या आनन्द को ही कला का उद्देश्य मानकर भ्रान्ति से काम लिया जाता रहा है। यदि यह समझ लिया गया होता कि पवित्रता और साधुता का स्पर्श या उसकी अनुभूति में ही कला की चरम सार्थकता है, तो कला कभी विपथगामिनी न होती।[1] केवल आनन्ददायिनी तथा सौन्दर्य-प्रकाशक कला की टॉल्स्टाय ने घोर निन्दा करते हुए उसकी वेश्या से तुलना की है।[2]

टॉल्स्टाय का मूल अभिप्राय यह है कि मनुष्य के चित्त का संगठन करनेवाले महत्वपूर्ण भावों को सभी समझते हैं, अतएव कला जितनी ही उत्कृष्ट होगी उतनी ही वह उच्च भावों की पोषक भी होगी। उनका मत है कि कला यदि ऐसा नहीं कर सकती तो उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, बल्कि इस प्रकार की कला को कला कहना ही ठीक नहीं। बुद्धि द्वारा विचार में न आ सकनेवाले आदर्श को अनुभूति द्वारा ज्वलन्त रूप में प्रेषणीय बना देने में ही कला की सार्थकता है। उनका 'रेसरक्शन' (Resurrection) ग्रंथ सर्वत्र समादृत है। वह धर्मबुद्धि से प्रेरित है और अन्य लोगों में स्वकीय अनुभूति संक्रमित कर सकता है। उसके एक अध्याय में यदि पाप की नग्न कथा वर्णित है, तो दूसरे अध्याय में उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कथा कही गयी है और समस्त समस्या को मुक्त तथा विश्लिष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। अतएव जिस प्रकार एक ओर भावों में स्पष्टता है उसी प्रकार दूसरी ओर अनुभूत विषय की प्रामायिक वर्णना भी है। फिर भी टॉल्स्टाय इस ग्रंथ को अनुत्तम कला का नमूना मानते हैं। कारण यह है कि वह उपन्यास के रूप में लिखा गया है और उससे वही व्यक्ति उपदेश ग्रहण कर पायेगा जिसे उपन्यास पढ़ने का अवसर मिलेगा। टॉल्सटाय का विचार था कि मनुष्य को ईश्वर-पुत्र सिद्ध करनेवाली अथवा मानवमात्र को भ्रातृत्व-संबंध में संगठित करनेवाली कला ही उत्कृष्ट कला होती है और वही मनुष्य के लिए प्रेरक सिद्ध होती है। भविष्य में केवल इसी भाव से प्रेरित

---

1. People have now only to reject the false theory of beauty, according to which enjoyment is considered to be the purpose of art, and religious perception will naturally take its place as the guide of art of our time.—(Page 189).

2. The art of our time and of our circle has become a prostitute and this comparison holds good even in minute detail. Like her it is not limited to certain times, like her it is always adorned, like her it is always saleable and like her it is enticing and ruinous—(Page 119).

होकर कला सम्प्रदाय-विशेष के कार्य में न लगकर समस्त मानवों के कल्याण में नियोजित होगी। टॉल्स्टाय ते इसी प्रकार अनेक अद्भुत् बातें लिखी हैं। उनका विचार है कि वर्त्तमानकालिक कला सम्प्रदाय-विशेष की सेवा के लिए नियोजित होती है। इसीलिए इसे कुछ ही लोग समझ पाते हैं और इसे सीखने के लिए नाना प्रकार के शिक्षा-कौशल की आवश्यकता है। किन्तु भविष्य में कला कुछ विशेष रुचि-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही नियोजित न होगी, अतएव भविष्य के उन्नततर युग में सभी कलाकार बन जायेंगे और कला का भी कोई शैक्षिक प्रयोजन न रह जायगा। उस समय के लोग समझेंगे कि एक बड़े उपन्यास की रचना की अपेक्षा छोटे बच्चों की कविता या गीत की रचना करना कला की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होगा।[1]

इस प्रकार टॉल्स्टाय ने निष्प्रयोजन कला को एकदम सर्वसाधारण धर्मशिक्षा के समान मान लिया है। एक की अनुभूति को दूसरे में संक्रमित न कर सकनेवाली कृति कला नहीं कहला सकती। कला हमारे चित्त का व्यापार है। स्फूर्त एवं अन्य लोगों के हृदय में संक्रमित हो सकनेवाली अनुभूति भी निःसंदेह कला का एक स्वाभविक गुण है जो सभी कलाओं में दिखायी देता है, किन्तु साथ ही सौन्दर्य और आनन्द भी कला की विशेष सम्पदाएँ हैं। आश्चर्य का विषय है कि टॉल्स्टाय जैसे व्यक्ति भी उन्हें अन्य के हृदय में संक्रमण करनेवाला नहीं समझते। उन्होंने साधारणीकरण द्वारा घटित चित्तवृत्ति की उदारता के परिमाण-स्वरूप बढ़नेवाली नैतिक शक्ति की ओर ध्यान नहीं दिया है। केवल संक्रमण-स्वाभाववाली कला को ही महत्व देने के कारण ही वह शेक्सपीयर आदि सर्वजन-स्वीकृत बड़े-बड़े कवियों तथा बिठोवन जैसे बड़े संगीतज्ञों को कलाकार की पदवी से विच्युत कर बैठे। वस्तुतः उन्होंने औचित्य से काम नहीं लिया। उनके विचार अन्तर्विरोध से युक्त हैं, क्योंकि यदि केवल अधिक-से-अधिक लोगों को प्रभावित करना या उनमें संक्रमण करना ही कला का लक्षण है तो अतिनिकृष्ट श्रेणी के संगीत को भी कला कहा जायगा। धर्मभाव के द्वारा बहुत-से लोगों को संक्रान्त करने की अपेक्षा यौनप्रवृत्तिमूलक भाव के द्वारा लोगों को प्रभावित करना अधिक

1. The artist of the future will understand that to compose a fairy tale, a little song which will touch a lullaby or a riddle which will entertain, a jist which will amuse, or to draw a sketch which will delight dozens of generations or millions of children and adults is incomparably more important and more fruitful than to compose a novel or a symphony, or paint a picture which will divert some members of the wealthy classes for a short time, and then be for ever forgotten—(Page 197).

संभव है। परन्तु टॉल्स्टाय ने उन्हें उत्कृष्ट कला स्वीकार ही नहीं किया है। उन्होंने कला के सम्बन्ध में अपने समस्त मतों के मूल में केवल एक ही युक्ति का अवलम्बन किया है। वह यह कि जिस प्रकार समस्त कलाओं में कोई वक्ता या चित्रकार अपने मन के अनुभूत भावसंवेगों को अपर में संक्रमित कराने की चेष्टा करता है वैसे ही अधिकाधिक लोगों में वह भाव संक्रमित होता है और जितने ही गंभीर भाव से उसका अनुभव होता है या वह जितना ही स्पष्ट रूप में व्यक्त होता है कला भी उसी रूप में उत्कृष्ट कहलाने लगती है। किन्तु यह नहीं हो सकता कि उत्कृष्ट भावसंवेग (फीलिङ्ग) होने पर ही उत्कृष्ट कला की सिद्धि हो। उनको कहना यह चाहिए था कि भावसंवेग चाहे जिस स्तर का भी क्यों न हो, उसे कला की संज्ञा केवल तभी दी जा सकती है जब उसकी गहन अनुभूति होती हो और उसकी अभिव्यक्ति में भी स्पष्टता हो। भावसंवेग को श्रेणियों में विभाजित करना और उन्हें उत्कर्ष-अपकर्ष की दृष्टि से देखना नितान्त गौण बात है। सामान्य मत से विचलित हो जाने के कारण ही उनकी उक्तियों में यह मतवैषम्य उपस्थित हो गया है। सही बात यह है कि कला का एकमात्र धर्म दूसरे में संक्रमण करना या या दूसरे के हृदय में पैठ जाना ही नहीं है। कला की अनुभूति से यदि एक व्यक्ति के भाव दूसरे के हृदय में पैठते हैं तो दूसरी ओर सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति भी हुआ करती है। अतएव कला के अन्यान्य धर्मों में से केवल पर-संक्रमण को ही उसका अवच्छेदक धर्म स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है। संक्रमण साधारण जीवन में भी दिखाई पड़ता है। अतएव उसे कला का धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति घुड़दौड़ में बहुत-सा धन जीत कर आता है तो उससे न केवल वही आनन्दित होता है, होता है; बल्कि उसके बन्धु-बान्धवों को भी आनन्द का अनुभव होता है। इसी कारण हम कला मात्र को प्रयोजन-वर्जित मानते हैं। इसके विपरीत टॉल्स्टाय ने अयौक्तिक रीति से सबका हित-साधन ही कला का प्रधान कार्य स्वीकार किया है। इसकी अधिक आलोचना करना यहाँ व्यर्थ जान पड़ता है।

टॉल्स्टाय के समान ही रस्किन (Ruskin) ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'लेक्चर्स ऑन आर्ट' में एक स्थान पर कहा है कि समस्त कलाओं का उद्देश्य या तो मनुष्य के जीवन का रक्षण करना होता है या उसे उन्नत करना।[1] दूसरे स्थान पर उन्होंने कला के तीन प्रधान उद्देश्य बताये हैं:

---

1. All the great arts have further object either the support or exaltation of human life,—usually both. (Page 41).

१. मनुष्य पर धर्म का प्रभाव डालना, २. उनकी नैतिकता की पूर्ण सिद्धि करना अथवा ३. अर्थोपार्जन में सहायक सिद्ध होना। [1] आगे चलकर वह कहते हैं कि कला जिस भावसंवेग को प्रकाशित करती है उसी की शुचिता तथा श्रेष्ठता पर उसकी श्रेष्ठता भी निर्भर रहती है। अभिव्यक्ति के कृतित्व या उसके स्वरूप पर कला का महत्व उतना निर्भर नहीं करता जितना विषयवस्तु और उसकी शुचिता पर निर्भर करता है। [2] 'मॉडर्न पैण्टर्स' नामक ग्रंथ में उन्होंने इसी बात को दुहराते हुए कहा है कि उत्कृष्टतम भावों या विचारों को सबसे अधिक व्यक्त करने वाली कला ही सर्वश्रेष्ठ होती है। उत्कृष्टतम भाव का तात्पर्य हमारे 'चित्त की उच्चतम वृत्ति' लेना चाहिये। [3]

रस्किन का विचार है कि जब कोई बाह्य पदार्थ विचार के अभाव में केवल वस्तु के बाह्य गुणों की सहज कल्पना उत्पन्न करता है तब हम उसे सुन्दर कहने लगते हैं। [4] हम यह नहीं बता सकते कि हम किसी वर्ण अथवा रंग के समवाय में आनन्द क्यों मानते हैं। यह स्थिति ठीक ऐसी है जैसे हम यह नहीं बता सकते कि हमें मीठा खाना क्यों पसन्द है और तीखा हमें क्यों नहीं भाता। भगवदिच्छा के अतिरिक्त इसका और कोई कारण नहीं बताया जा सकता। हम उन व्यक्तियों

---

1. The great arts can have but three principal directions of purpose : first, that of enforcing the religion of men ; secondly, that of perfecting their ethical state ; thirdly, that of doing them material service, (Page 43-44).
2. All right human sound is called similarly, the finished expression by art of the joy of grief of noble persons for right causes. An accurately in proportion to rightness of the cause and purity of the emotion, is the possibility of the fine art. A maiden may sing over lost love, but a miser can not sing of his lost money. And with a absolute precision, from highest to lowest, the fineness of the possible art is an index of the moral purity and majesty of an emotion that it, expresses. (Page 81).
3. But I say that the art is greatest which conveys to the mind of the spectator, by any means whatsoever, the greatest number of the greatest ideas ; and I call an idea great in the proportion as it is received by a higher faculty of the mind, and as it more fully occupies and in occupying exercises and exalts, the faculty by which it is received......He is the greatest artist who has embodied in the sum of his works the greatest number of the greatest ideas. (Modern Painters Vol. I. Edition 1831—Page 11).
4. Any material object which can give us pleasure in the simple contemplation of its outward qualities without any direct and definite exertion of the intellect, I call in some way, or in some degree beautiful. (Page 25).

को सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति कहेंगे जो सुख-दुःख के मूल में भगवदिच्छा की खोज करते हैं या उस वस्तु से ही आनन्द प्राप्त करते हैं, जिसे उनके विचार से भगवान ने अधिकाधिक सुख देने के लिए उत्पन्न किया है। भगवान की इच्छा के अनुकूल चलना ही सुरुचि है।[१] ईश्वर की संभवतः यह आदिम इच्छा रही होगी कि हमें नैतिकवृत्ति समूह के पोषक पदार्थों से ही अधिकाधिक आनन्द मिले। इसी कारण जो व्यक्ति हमारी नैतिक वृत्ति के अनुकूल वस्तु से सबसे अधिक आनन्द पाता है, उसे ही यथार्थ सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति या सहृदय (ए मैन ऑव टेस्ट) कहा जाता है।[२]

रस्किन ने यद्यपि सौन्दर्य के सम्बन्ध में केवल बाह्यवस्तु की कल्पना को ही आनंद स्वीकार किया है, किन्तु ऐसा नहीं है कि उन्होंने बुद्धिवृत्ति की नितान्त उपेक्षा की हो। हमारी बुद्धिवृत्ति के साथ नैतिकवृत्ति तया अनुभूति का इतना घनिष्ट सम्बन्ध होता है कि एक का स्पर्श करने पर दूसरे का स्पर्श न करना संभव नहीं होता। इसी कारण सौदर्न्यबोध में यह दोनों ही बुद्धिवृत्ति के परिचालन के लिए कार्यरत रहती हैं, तथापि सौन्दर्यानुभूति के समय बुद्धिवृत्ति गौण अवश्य हो जाती। किसी वस्तु के सम्बन्ध में हम अपनी बुद्धिवृत्ति से यह निश्चय नहीं कर सकते कि हम उसे सुन्दर क्यों कहते हैं। रस्किन ने यह भी बताया है कि सौन्दर्य-बोध का आनन्द प्रायः अतिसूक्ष्म और अज्ञेय सामंजस्य-बोध से उत्पन्न होता है। चाहे फिर उस बोध के समय दृष्ट रूप में बुद्धि-संचालन का संकेत न हो। यदि किसी वस्तु को अखण्ड रूप में देखते हुए भी उसके अन्तर्निहित सम्बन्धों का स्पष्ट पता लग सकता है तो हमें सम्बन्ध-ज्ञान को भी स्वीकार करना पड़ेगा। सौन्दर्य-बोध के साथ ही नाना सम्बन्धों का भी बोध होता है, किन्तु वह स्पष्ट न रहकर बहुत कुछ अस्पष्ट रहता है। वस्तुतः सम्बन्ध-परम्परा गौण हो जाती है और उसके द्वारा उपस्थापित अखण्ड स्वरूप ही प्रधान हो जाता है।[३]

1. He who has followed up these natural laws of aversion and desire rendering them more and more authoritative by constant obedience, so as to derive pleasure always from that which God originally intended should give him pleasure and who derives the greatest possible sum of pleasure from any given object is a man of taste. (Page 25).
2. Perfect taste is the faculty of receivine the greatest possible pleasure from those material sources which are attractive to our moral nature in purity and perfection. (Page 26).
3. In all high ideas of beauty, it is more than probable that much of the pleasure depends on delicate and untraceable perception of fitness, propriety, and relation, which are purely intellectual and through which

रस्किन ने सौन्दर्य (ब्यूटी) के प्रसंग में गाम्भीर्यबोध (सब्लिमिटी) के सम्बन्ध में भी काफी कहा है। उन्होंने बताया है कि मन को उन्नत करने वाली वस्तु को गंभीर या उदात्त (सब्लाइम) कहते हैं। यह गाम्भीर्यबोध किसी भी रूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए उत्पन्न हो सकता है अतः महत्वबोध के समय जिस छाया से हमारा चित्त अभिभूत हो जाता है उसे ही गांभीर्यबोध कहते हैं। यह महत्व जड़ पदार्थ, आकाश, शक्ति, पुण्य या सौन्दर्य में से किसी का भी हो सकता है।[1] बार्क (Barke) का विचार है कि भय, विपत्ति आदि में जन्म लेने वाली आत्मरक्षण की प्रवृत्ति से ही गांभीर्यबोध होता है। रस्किन ने इसके विरोध में स्वयं भय या मृत्यु-कल्पना को ही गांभीर्यबोध माना है। यदि कोई मृत्यु की गहनता और उसकी अपरिमेयता की कल्पना करे तो उस विराट् मृत्यु की जो छाया उसके भावसंवेग को प्रभावित करेगी, उसे ही गांभीर्य कहा जायेगा। दारुण भय में भी जब कोई मृत्यु का आलिंगन करता हुआ स्थिर और अविचलित चित्त रहता है तब हमें गांभीर्य का बोध होता है। इसी कारण हर प्रकार के सौन्दर्य से गांभीर्यबोध नहीं होता। महत्त्वयुक्त सौन्दर्य की अभिव्यक्त को ही गांभीर्य कहते हैं। मनुष्य का चित्त ऊर्ध्वाभिमुख कर सकनेवाली महनीय अनुभूति से ही हमें गांभीर्यबोध होता है। इसीलिए सौन्दर्य और महत्त्व में श्रेणीगत भेद उपस्थित नहीं किया गया है। इन्हें एक दूसरे से हीन या उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। सारांश यह है कि श्रेष्ठ, महत्वजनित सौन्दर्य की उपलब्धि ही गांभीर्यबोध कहलाती है।

रस्किन ने बाह्य और मानस नाम से सौन्दर्यसृष्टि के दो अंग माने हैं। बाह्य-वस्तु को अंकित करने की इच्छा रखनेवाले चित्रकार के चित्र में व्यक्त सत्य के

we arrive at our noblest ideas of what is commonly and rightly called "intellectual beauty". But that is yet no immediate exertion of the intellect ..... He will not be able to give any distinct reason nor to trace in his mind any formed thought, to which he can appeal as a source of pleasure. He will say that the thing gratifies, fills, hallows, exalts his mind but he will not be able to say—Why or how. If he can, and if he can show that he perceives in the objects any expression of distinct thought, he has received more than an idea of beanty—it is an idea of relation. (Page 26).

1. Anything which elevates the mind is sublime, and elevation of mind is produced by the contemplation of greatness of any kind ; but chiefly of course by the greatness of the noblest things. Sublimity is therefore, only another word for the effect of greatness upon the feelings ;—greatness whether of matter, space, power, version or beauty.—(Page 40).

साथ कवि द्वारा अंकित चित्र का सामंजस्य होना चाहिए। जिस दृश्य को चित्रकार ने अंकित किया है, उसका समस्त रूप उसके चित्र में इस प्रकार प्रकाशित हो जाना चाहिए कि वह उसमें निहित सत्य का परिचय प्राप्त कर सके। छवि के साथ वस्तु की इस प्रकार की समानरूपता ही सत्यता (ट्रुथ) कहलाती है। यह ठीक है कि सत्य मात्र ही किसी चित्र का उद्देश्य नहीं होता, फिर भी यह अवश्य है कि इस पर निर्भर न रहनेवाले समस्त मुख्य उद्देश्य विफल हो जाते हैं। चित्रकार जिस वस्तु का चित्र अंकित करना चाहता है वह उसे आत्मसात् करता हुआ अपने आन्तरिक भावों से अनुप्राणित और रससिक्त करके ही उसकी अभिव्यक्ति करता है। अन्तर में कल्पना या स्वरूप और भाव का आधान ही चित्र का मुख्य उद्देश्य होता है। किन्तु यदि यह मुख्य उद्देश्य भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप से विच्छिन्न होकर व्यक्त होगा तो इसके महत्त्व और उद्देश्य दोनों की हानि होने की संभावना है। सत्य वस्तु के साथ अनुरूप सम्बन्ध न होने पर कोई भी भाव यथार्थ रूप से परिकल्पनामय तथा लावण्यमय नहीं हो सकता। सत्य से सम्बन्ध रखे बिना सौन्दर्य का प्रकाशन संभव नहीं होता। हम किसी भावसंवेग-विहीन चित्र के द्वारा यह अनुमान नहीं कर सकते कि चित्रकार ने वस्तु की सत्यता को पर्याप्त परिमाण में व्यक्त किया है, अपितु उससे यही जान पड़ता है कि वह उपलब्ध सत्य के यथार्थ प्रकाशन के लिए उपयोगी सामग्री नहीं जुटा सका है। कभी-कभी कोई-कोई चित्रकार अपने चित्र में समालोचक की चित्तभूमि से अतिक्रान्त ऐसे भाव अंकित कर जाता है कि समालोचक उसके भावसंवेग तथा परिकल्पना को ग्रहण नहीं कर पाता। चित्रकार के साथ समानधर्मा न होने पर उसके चित्र के प्रति पूर्ण सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती और उसके भावसंवेग या उसकी कल्पना तक नहीं पहुँचा जा सकता। चित्रकार जितना किसी व्यक्ति के चित्त के अनुरूप भावों को प्रदर्शित कर पाता है, उतना अंश तो सभी ग्रहण कर सकते हैं। चित्र में अंकित की जानेवाली वस्तु की समानरूपता के साथ उसकी कल्पना की भावोज्वलता का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि चित्रकार के भावसंवेग को सम्पूर्ण रूप में स्वायत्त न कर सकने पर भी उसके द्वारा अंकित चित्र की वस्तु के स्वरूप से ही चित्रकार का महत्व समझ में आ सकता है। रस्किन ने इसी को कला का उद्देश्य माना है।[1] किन्तु कला का यह दूसरा उद्देश्य कितनी ही बार इसलिए सफल

1. The landscape painter must always have two great and distinct ends; the first, to produce in the spectator's mind the faithful conception of any natural object whatsoever; the second, to guide the spectator's mind to those objects most worthy of its contemplation and to inform

नहीं हो पाता कि द्रष्टा के हृदय में उसके अनुकूल सहानुभूति नहीं होती। यही कारण है कि वह चित्रकार के हृदय में प्रवेश करके उसके साथ एकाकार नहीं हो पाता किन्तु कला के पहले उद्देश्य, अर्थात् प्रकृति के साथ समानरूपता, के अभाव में कला का कोई भी उद्देश्य सफल नहीं होता। जहाँ प्रकृति के साथ चित्र की समानता नहीं होती, वहीं असत्य और असुन्दरता दिखाई पड़ते हैं। रस्किन का बार-बार सत्य को ही कला का उद्देश्य मानने का तात्पर्य यही था कि चित्र और प्रकृति की समानरूपता आवश्यक है। प्राकृतिक वस्तु मनुष्य की कल्पना की अपेक्षा इतनी महत्त्वपूर्ण और सुन्दर होती है कि उसकी उपेक्षा करते ही असुन्दर की सृष्टि हो जाती है। किन्तु प्रकृति या प्राकृतिक वस्तु का सत्य अनेकमुखी होता है। उसे जानने के लिए बाह्य चक्षुओं से देखना ही पर्याप्त नहीं है। उसे देखने के लिए बाह्य चक्षुओं के साथ समस्त इन्द्रियों का व्यवहार करते हुए जब हम उसके साथ हृदय को वास्तविक रूप में व्यवहार में लाते हैं, तभी यथार्थ दर्शन होता है। यों

---

him of the thoughts and feelings with which these were regarded by the artist himself. (Page 43)........Now although the first mode of selection when guided by deep reflection may rise to the production of works possessing a noble and ceaseless influence on the human mind, it is likely to degenerate into or rather nine cases out of ten, it never goes beyond, a mere appeal to such parts of our animal nature as are constant and common—shared by all and perpetual in all......But art in its second and the highest aim is not an appeal to constant animal feelings, but an expression and awakening of individual thought; it is therefore as various and as extended in its efforts as the compass and the grasp of the directing mind (Page 44) ...... Hence although there can be no doubt which of these branches of art is the higher, it is equally evident that the first will be the most generally felt and appreciated. For the simple statement of the truths of nature must in itself be pleasing to every order of mind; because every truth of nature is more or less beautiful: ...... But the highest art being based on the sensations of peculiar minds, sensations occuring to them only at particular times, and to a plurality of mankind perhaps never, and being expressive of thoughts which could only rise out of a mass of the most extended knowledge, and of dispositions modified in a thousand ways by peculiarity of intellect, can only be met and understood by person having some sort of sympathy with the high and solitary minds which produced it—sympahty only to be felt by minds in some degree high and solitary themselves. He alone can appreciate the art, who could comprehend the conversation of the painter, and share in his emotion, in moments of his most fiery passion and most original thought. (P. 45).

तो किसी व्यक्ति को बाँधकर और उसके शरीर को लकड़ियों में रखकर जलाने या केवल लकड़ियों के ढेर को जलाने में भी जलना ही दीख पड़ता है, किन्तु जबतक जलनेवाले व्यक्ति के मुख पर जलने की यन्त्रणा न दीख पड़े, तबतक वास्तविक रूप से शरीर-दाह का चित्र उपस्थित नहीं होता। मनुष्य के शरीर के साथ उसके मनोभावों का गहन सम्पर्क होता है। अतएव केवल शरीर को अंकित करने से शरीर की सत्यता प्रकट नहीं होती।

सौन्दर्य शब्द के द्वारा रस्किन ने केवल सुख या आनन्द-रूप इन्द्रियसंवेदन या अन्वीक्षामूलक मनन का ही अर्थ ग्रहण नहीं किया है, बल्कि उन्होंने कहा है कि ऐन्द्रिय सुखबोध से मन में ह्लाद का जन्म होता है और उस ह्लाद से जिस विषय का अवलम्बन लेकर ऐन्द्रिय सुख उत्पन्न होता है, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। इस प्रेम के परिणाम-स्वरूप भगवान् की करुणा का बोध होता है, उसके प्रति मन भक्ति और करुणा से भर जाता है। जबतक यह भाव पूर्णता पर नहीं पहुँचता तबतक केवल विषयजनित ह्लाद को सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि हृदय के पवित्र न होने पर सुन्दर भी सुन्दर नहीं लगता। ऐसी अवस्था में सुख से केवल लोभ उत्पन्न होता है। [१]

रस्किन का विचार था कि जिस प्रकार नैतिक व्यवहार में प्रलोभनों के सामने हम लोगों को शम-दम का प्रयोग करके अपने को न्याय-मार्ग पर रखना होता है, उसी प्रकार हमें बारम्बार विचार और अनुध्यान के सहारे इन्द्रियविलास का दमन करना भी सीखना पड़ता है। यदि कभी हमारी कोई इन्द्रिय हमारे सम्मुख भोग की ऐसी दशा उत्पन्न कर दे कि विकृत सत्य प्रकाशित हो उठे या अन्य इन्द्रिय-वृत्तियाँ उसे व्यवहार में न ला सकें तो उस इन्द्रिय-विशेष को यथोचित दमन के द्वारा न्याय-मार्ग पर लाना सबका कर्त्तव्य है। दृष्टान्तस्वरूप कहा जा सकता है कि जिह्वेन्द्रिय को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने पर अन्य समस्त इन्द्रियों से चारुता-

---

1. As it is necessary to the existence of an idea of beauty, that the sensual pleasure which may be its basis should be accompanied first with joy, then with love of the object, then with the perception of kindness in a superior intelligence, finally with thankfulness and veneration towards that intelligence itself; ...... We do indeed see constantly that men having naturally acute perception of the beautiful, yet not receiving it with a pure heart, nor into their hearts at all, never comprehended, nor received good from it, but make it a mere minister to their desires, an accompaniment and seasoning of lower sensual pleasures until all their emotions take the same earthly stamp and the sense of beauty sinks into the servant of lust. (Modern Painters, Vol. II, Edition, 1856 P. 16).

बोध का आनन्द नष्ट हो सकता है। इसी कारण जिह्वेन्द्रिय के आनन्द को यथोचित निम्न स्थान पर ही इस प्रकार रखना होगा जिससे उसके अनुचित प्राधान्य के कारण अन्यान्य इन्द्रियों के यथोपयुक्त व्यवहार से उनके प्राप्तव्य से हम वंचित न हो जाँय। इसी कारण किसी इन्द्रिय को आवश्यकता से अधिक तीव्र नहीं करना चाहिए।[1]

रस्किन का विचार था कि 'सौन्दर्य' कहने से बाह्य तथा आन्तरिक सत्ताओं का संकेत मिलता है। जिस बाहरी गुण के कारण किसी प्रस्तर, पुष्प, मनुष्य या प्राणी में सौन्दर्य पाया जाता है, वही सौन्दर्य की बाह्य प्रकृति है। वस्तुतः यही भगवान का गुण-विशेष है। इसे रस्किन ने 'टिपिकल ब्यूटी' की संज्ञा दी है। जो सुखबोध किसी जीवन्त प्राणी के चित्त में किसी आनन्दमय या न्याय-संगत जीवन-यापन के साथ उत्पन्न होता है, वह आन्तर सौन्दर्य (वाइटल ब्यूटी) कहा गया है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग उसका अपप्रयोग ही कहलायेगा।

इस प्रसंग में रस्किन ने कहा है कि सुन्दर एवं सत्य तथा सौन्दर्य एवं प्रयोजनीयता एक ही वस्तु नहीं हैं। अभ्यास करने से भी सौन्दर्यबोध संभव नहीं होता। बहुत-से लोगों का विचार है कि किसी वस्तु से हमारे मन में आनन्द उत्पन्न हो जाने पर ही नाना विचार-धाराओं का जन्म होता है। जो वस्तु इस प्रकार बहुरूपी विचारधारा उत्पन्न करती है, वही सुन्दर कहलाती है। रस्किन ने कहा है कि विचारधारा की उत्तेजना अन्वीक्षामूलक होती है और इसी कारण इसे सौन्दर्य का कारण नहीं कहा जा सकता। यह बताना कठिन है कि सौन्दर्यबोध का कारण क्या है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिन्हें देखकर हमारे मन में नैतिक इष्टसिद्धिजनित आनन्द उत्पन्न होता है और जो दृष्ट वस्तुएँ हमारे आनन्द का आलम्बन बन जाती हैं, उन्हें हम सुन्दर कहते हैं। फिर भी यह नहीं बताया जा

1. (a) And this duty is, evidently, to bring every sense into that state of cultivation in which it shall form the truest conclusions respecting all that is submitted to it and procure us the greatest amount of pleasure consistent with its due relation to other senses and functions. (Ibid P. 21).

(b) It will certainly be found with all the senses that they individually receive the greatest and the purest pleasure when they are in right condition and degree of subordination to all the rest—that by the over cultivation of any one we shall add more to their power as instruments of punishment than of pleasure.

सकता कि बाह्य वस्तु किन कारणों, बाह्य संयोगों अथवा सादृश्यों के आधार पर हममें नैतिक उत्कर्ष का उद्रेक कर सकती है। हाँ, उनमें से कुछ ही का थोड़ा-बहुत संकेत किया जा सकता है।[1] हमारे यहाँ के आलंकारिक मानते हैं कि सत्वोद्रेक की बहुलता के परिणामस्वरूप आह्लाद उत्पन्न करनेवाली वस्तु ही सुन्दर कहलाती है। रस्किन का विचार था कि हम बाल्यावस्था से ही सौन्दर्य के आदि-संस्कार का अनुभव करते हैं। यह संस्कार आयु बढ़ने के साथ-साथ क्रमशः क्षीण होता हुआ प्रायः परिणत वय में लुप्त हो जाता है:—

Heaven lies about us in our infancy.
. . . .
At length a man perceives it die away
And fade into the light of common day.

यदि वयस्क जीवन के चित्रपट पर इसी शिशुकाल के अनुभव की गहरी छाप अंकित होती और हम वयस्क होकर उस पर अपने बुद्धि-विचार का प्रयोग कर सकते तो सौन्दर्यबोध के सम्बन्ध में अनेक नवीन तत्वों एवं रहस्यों का उद्घाटन हो सकता था। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि वयस्कता के साथ-साथ यह प्रभाव नष्ट होता चलता है। शिशुकाल में खुले मैदान या आकाश में मेघ देखकर बहुतों को ऐसा लगता है मानो उनके पीछे अनन्त समुद्र है। वयस्क जीवन में भी यह भाव पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाता है। प्रायः देखने में आता है कि शिशुकाल में हमें तीव्र रंगों के सम्मिश्रण से जैसा आनन्द आता था उसकी अपेक्षा वयस्क जीवन में गोधूलि के म्लान आलोक में जब क्रमशः दूरवर्ती वृक्षराशि म्लानतर होती हुई किसी अज्ञात अकथित दूरी पर मिलकर एक अनन्त लोक को हमारे सामने प्रकट कर देती है, तब हमें अधिक आनन्द मिलता है। जहाँ आलोक की तरलता अथवा रेखा की बंकिम भंगिमा में अनन्तता का संकेत मिलता है, वहीं गंभीर

---

1. "It may be generally observed that whatever good there may be desirable by man more especially good belonging to his moral nature, there will be a corresponding agreeableness in whatever external object reminds him of such good, whether it reminds him by arbitrary association, or by typical resemblence ; and that the infinite ways, whether by reason or experience discoverable, by which matter in some sort may remind us of moral perfections, are hardly within any reasonable limits to be explained, if even by any single mind they might all be traced. Yet certain palpable and powerful modes there are, by observing which we may come at such general conclusions on the subject as may be practically useful. (P. 36 Vol. II Modern Painters).

सौन्दर्य प्रकट होता है। इस सम्बन्ध में रस्किन का कथन है कि यद्यपि विशालता से भी अनन्तता का बोध होता है, तथापि उसे अनन्तता नहीं कहा जा सकता। हमारी निजी क्षुद्रता के कारण अनेक बार आपेक्षिक विशालता की प्रतीति होती है और साथ ही उदात्तता या गांभीर्यबोध (सब्लिमिटी) भी उत्पन्न होता है, किन्तु यह गांभीर्यबोध सौन्दर्यबोध से सर्वथा भिन्न होता है। जहाँ विशालता होती है वहाँ हमें किसी वस्तु को ठीक से न जानने का-सा बोध हुआ करता है। हम सोचते हैं कि वहाँ कुछ ऐसा है जिसे हम नहीं जानते। इसी से रहस्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु भगवान की अनन्तता अज्ञान-जनित रहस्य से सम्बन्धित नहीं है। उसमें आवरण की गुप्तता के स्थान पर यथार्थ गंभीरता की अमरता रहती है। यों तो प्रकृति भी रहस्यात्मक, विशाल और अनन्त ज्ञात होती है, किन्तु वस्तुतः वह अपूर्ण है और इसी कारण उसकी अज्ञेयता बनी हुई है। अतएव उससे उत्पन्न गाम्भीर्य-बोध सौन्दर्यनिरपेक्ष रह जाता है। वस्तुतः हम जिसे सूक्ष्म कहते हैं उसकी अज्ञेयता उसकी अथाह गंभीरता के कारण मानी जाती है। भगवान् की यह सूक्ष्मता एवं गंभीरता अनन्तता की इसी प्रकार द्योतक है जिस प्रकार नीलाम्बुधि की अथाह नीलिमा अनन्त और अज्ञेय होती है।[1]

इस प्रसंग में रस्किन ने यह भी कहा है कि भगवान् में हम सभी सम्मिलित हैं। सम्मिलित होने पर ही वस्तु का यथार्थ उत्कर्ष प्रतीत होता है। इस सम्मिलन को एकत्व नहीं कह सकते। इसका अर्थ है अनेक का एक में सामंजस्य। जड़ का श्रेष्ठ सामंजस्य इस बात में है कि वह सजातीय वस्तु के सम्मिलन का ही प्रयत्न न करे अपितु चित्स्वरूप को भी व्यक्त करे। इसके विपरीत निम्न कोटि के सामंजस्य में अनेक जड़ वस्तुएँ परस्पर विशेष-रूप से सम्बद्ध होकर भी इसी सम्मिलित भाव की प्रतीति उत्पन्न करा सकती हैं। किसी विशेष आकर्षण अथवा प्रभाव के अन्तर्गत होनेवाला किसी वस्तु का एकत्र सम्मिलन अधीन सम्मिलन (सब्जेक्शनल यूनिटी) कहलाता है। जैसे, विद्युत् शक्ति के प्रभाव से मेघ का विचित्र अवस्थान। जब एक कारण से उत्पन्न होनेवाली विभिन्न वस्तुओं का सामंजस्य होता है तब उसे

---

1. Further expressions of infinity there are in the mystery of Nature, and, in some measure, in her vastness ; but these are dependent on her own imperfections, and therefore though they produced sublimity they are unconnected with beauty. For, that which we foolishly call vastness, is, rightly considered, not more wonderful, not more impressive than that which we insolently call littleness; and the infinity of God is not mysterious it is only unfathomable ; not concealed, but incomprehensible ; it is clear infinity, the darkness of the pure unsearchable sea. (Ibid. P. 47).

औत्पत्तिक सम्मिलन (ओरिजिनल यूनिटी) कहते हैं । जैसे, वृक्ष की जीवनी-शक्ति से प्रेरित होकर उसकी शाखाएं एक विशेष सामंजस्य को ग्रहण कर लेती हैं। कारण-कार्य के क्रम से उनके विस्तार पाने पर ही पारस्परिक सम्मिलन होता है । सुर-लहरी में यही होता है। एक और प्रकार का ऐसा सम्मिलन होता है, जिसे 'आत्मीयता का सम्मिलन' कहते हैं । इसमें कुछ अंश सम्मिलित होकर अखण्ड अवयवी को प्रकाशित करते हैं ।

ऐसे स्थलों पर अंशों का विभिन्न प्रकार का होना आवश्यक है। अनेक विचारक तो वैचित्र्य मात्र को ही सौन्दर्य का कारण मानते हैं, किन्तु यह विचार उचित नहीं जान पड़ता। अनेक बार देखा गया है कि बहुत तीव्र अनेक रंगों के सम्मिश्रण प्रायः आँखों को कष्टदायक सिद्ध होते हैं, अशोभन लगते हैं। किन्तु यदि उनमें सामंजस्य हो और उनके द्वारा विशेष उद्देश्य अथवा किसी अखण्ड रूप का प्रतिपादन होता हो तो उन्हें सुन्दर कहा जाता है । [1]

ऐक्य के अभाव में वैचित्र्य कभी भी उच्चतर 'सौन्दर्य का आनन्द नहीं दे सकता। साधारणतः मनुष्य वैचित्र्य-प्रिय और परिवर्तनप्रिय है, किन्तु इस वैचित्र्य का प्रभाव इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धिवृत्ति पर ही अधिक दिखायी देता है। बुद्धिवृत्ति के सामने नयी-नयी वस्तुएँ आती हैं, अतएव वह उन्हें सहज ही ग्रहण कर सकती है । इन्द्रियों की भी यही विशेषता है। नयी वस्तुओं की प्रेरणा से बुद्धिवृत्ति में आनन्द और वैचित्र्य घटित होता है, किन्तु बुद्धिवृत्ति से भी ऊपर ध्यानलोक का सहारा लें तो परिवर्तन और वैचित्र्य की शून्यता दिखाई पड़ती है। अन्तर के द्वारा ग्रहण किये जाने पर जान पड़ता है कि परिवर्तन एक ऐक्य का आश्रय लेकर रहता है। जिस परिवर्तन से ऐक्य प्रस्फुटित होता है, वही सुन्दर प्रतीत होता है। केवल ऐक्य-विहीन वैचित्र्य से तृप्ति प्राप्त करना दुर्बलता मात्र का द्योतक है। जिनका हृदय कठोर, बुद्धि क्षीण तथा मन दुर्बल है, केवल वही वैचित्र्य की खोज में घूमते फिरते हैं। इसके विपरीत वैचित्र्य के मूल में रहनेवाला ऐक्य ही महत्त्व-पूर्ण है और उसके प्रति श्रद्धा ही सौन्दर्यबोध का कारण है । परम्परा-क्रम से घटित होनेवाला स्वर और सुर का वैचित्र्य एक अखण्ड रागिनी में अपना अनुपात (प्रोपोर्शन) व्यक्त करता है। वैचित्र्य के साथ ही अनुपात का प्रसंग भी जुड़ा

1. It is therefore only harmonious and chordal variety, that variety which is necessary to secure an extent unity (for the greater the number of objects which by their differences become members of one other, the more extended and sublime is their unity), which is rightly agreeable ; and so I name not variety as essential to beauty because it is only so in the secondary and casual sense. (*Ibid.* P. 51).

हुआ है। हम जिस किसी को भी सुन्दर कहते हैं, उसमें यह अनुपात ही दीख पड़ता है। उदाहरणतः हमारे हाथ के साथ हमारे पैर, सिर, गर्दन, कंधा या मुँह के विशेष अनुपात के सम्बन्ध में अच्छा, बुरा, उचित-अनुचित आदि का विचार नहीं किया जाता। उनके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जाता है कि वह सुन्दर हैं या असुन्दर। रस्किन ने इसे प्रत्यक्षानुपात (ऐपेरेण्ट प्रोपोर्शन) नाम दिया है। जब सुसंगत अंश का अनुपात के अतिरिक्त और कोई विधेय नहीं होता तब उसे प्रत्यक्षानुपात (ऐपेरेण्ट प्रोपोर्शन) कहते हैं।[1]

किन्तु जब अनुपात में सुसंगत अंशों का कुछ और ही विधेय होता है, उस समय उसे संघटनात्मक अनुपात (कॉन्स्ट्रक्टिव प्रोपोर्शन) कहते हैं।[2] दृष्टान्तस्वरूप कहा जा सकता है कि किसी खंभे का सामंजस्य केवल उसके व्यास और उसकी दीर्घता के अनुपात मात्र में ही नहीं है, बल्कि उसके उपादान की दृढ़ता, भार का परिमाण एवं गृह की उच्चता पर भी निर्भर है। हम एक काठ के खंभे के सम्बन्ध में जैसा अनुपात खोजते हैं, किसी पत्थर के खंभे के सम्बन्ध में भी वैसा ही विचार नहीं करते। इसी विशिष्टजातीय अनुपात के अभाव से हमारी बुद्धि विकल होती है, जिसके फलस्वरूप हम किसी वस्तु को असुन्दर मानने लगते हैं। बर्क (Burke) आदि किसी-किसी विचारक ने कहा है कि यद्यपि विभिन्न प्राणियों में उनके अवयवों के परस्पर अनुपात के बीच कोई निर्दिष्ट मान नहीं पाया जाता, तथापि प्राणि देखने में सुन्दर होते हैं। इसीलिए अनुपात सौन्दर्याधायक नहीं होता। उदाहरणतः किसी अश्व के मस्तक के साथ उसके पैरों का जो सम्बन्ध होता है, किसी मनुष्य के सिर के साथ आकारानुयायी उसके पैरों का भी वही सम्बन्ध नहीं होता। इतना होने पर भी मनुष्य भी सुन्दर होते हैं और अश्व भी। किन्तु बर्क आदि की इस युक्ति के आधार पर अनुपात का सौन्दर्याधायकत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि परिमाणगत अनुपात के साथ संस्थानगत विशेषत्व को ग्रहण करके ही यथार्थ अनुपात घटित होता है। विभिन्न प्राणियों में विभिन्न अवयव विभिन्न स्थानों पर अवस्थित होते हैं अतः उनमें परस्पर परिमाणगत अनुपात का व्यतिक्रम न होना संभव नहीं है।

भिन्न स्थितियों में भी जब परस्पर समान रूप से एकता रहती है, तब उसे अनुपात कहते हैं। अतएव यदि भिन्न-भिन्न अवयवों में परस्पर विसदृशता

1. Apparent proportion takes place between quantities for the sake of connection only without any ultimate object or casual necessity.
2. Constructive proportion has reference to some functions to be discharged by the quantities depending on their proportion.

दिखाई दे तो उसे अनुपात का न तो विरोधी ही कह सकते हैं और न उसके सम्बन्ध में यह आरोप ही किया जा सकता है कि वह सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। उदाहरणतः, सभी पशु-पक्षी या मनुष्य आदि की स्वस्थ देह में अवयवों के बीच स्वरूप की भिन्नता रहते हुए भी उनमें आनुपातिकता पायी जाती है। फिर भी इतना अवश्य है कि इसी विशेषता के कारण एक प्राणी दूसरे प्राणी की अपेक्षा देखने में सुन्दर प्रतीत होता है।

बर्क ने एक और असंगत कल्पना करते हुए कार्योपयोगिता को ही आनुपातिक सौंदर्य का आधार बताया है। हम मानते हैं कि समस्त वनस्पतिजगत्, (लता, पत्तों और वृक्षों) के अवयवों में आनुपातिकता होती है जो अवश्य कार्योपयोगी होती है। जैसे, जड़ जितनी ही विस्तृत होगी, डण्ठल जितना ही उभरा हुआ होगा, फूल जितना ही आवृत्त होगा अथवा जिस प्रकार के पत्ते होंगे उन सबमें मिला-जुलाकर उस वृक्ष के प्रति किसी-न-किसी उपयोगिता की सृष्टि अवश्य होगी। वे अवश्य ही उसके लिए उपयोगी होंगे। किन्तु हम इसी उपयोगिता पर ध्यान नहीं देते या केवल इससे ही परिचित नहीं रहते। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हम वृक्ष आदि का सौन्दर्य नहीं जान पाते। अतएव उस कार्यो-पयोगिता को जान लेने पर हमारी बुद्धिवृत्ति को एक प्रकार का सन्तोष अवश्य होता है, किन्तु वह न तो सौन्दर्यबोध से उत्पन्न होता है और न सौन्दर्यबोध में सहायक ही होता है। [1]

इस प्रसंग में रस्किन ने यह भी कहा है कि भगवान समस्त शक्ति के अखण्ड प्रतीक हैं। अखण्ड बल में चंचलता या गति नहीं रहती। वह अभंग, अचल, अटूट और कूटस्थ है। इस कारण किसी की अमित, अटूट शक्ति देखकर हमारा मन सौन्दर्य-परिप्लुत हो जाता है। यदि विशाल हिमालय गतिवान हो उठता तो अत्यंत भयावह ध्वंसलीला उपस्थित हो जाती। इसी कारण हिमालय की निश्चल स्थिति से एक गंभीर सौन्दर्य प्रकट होता है। [2] इसी कारण ध्यानमग्न बुद्ध का गंभीर, शान्तभाव हमारे चित्त को आकर्षित करता है। बुद्ध ने मानो अनन्त शक्तिपुंज और गंभीर ज्ञानराशि को सामंजस्य के साथ अपने में अन्तर्लीन कर

1. The constructive proportion is agreeable to the mind where it is known or supposed, and that its seeming absence is painful in a like degree; but that this pleasure and pain have nothing in common with those dependent on ideas of beauty. (Page 62).

2. Having once seen a great rock come down a mountain-side we have a noble sensation of its rest, now bedded immovably among the fern; because the power and fearfulness of its motion were great, and its stability and negation of its motion are now great in proportion (P. 64).

लिया है, जिसके कारण वह शान्त और स्थिर दिखाई पड़ रहे हैं। उनकी ऐसी स्थिति में ही शान्ति भी चित्ताकर्षक लगने लगती है।[1]

आनुपातिकता के प्रसंग में ही सामंजस्य या साम्य (सिमेट्री) का प्रसंग उपस्थित होता है। समग्र अवयवों के विषम अंशों अथवा विषम परिमाण के बीच घटित होनेवाले सम्बन्ध का नाम ही आनुपातिकता है। किन्तु समपरिमाण या समावयव के द्वन्द्व द्वारा उपस्थित होनेवाली अवयवों की सुसंगति सिमेट्री कहलाती है।[2] प्रायः ऐसा होता है कि यदि किसी वस्तु के ऊपर-नीचे, दायें-बायें युगबद्ध भाव से एकजातीय विन्यास नहीं हो पाता तो उस वस्तु की सुषमा ही प्रकट नहीं हो पाती। सामंजस्य (सिमेट्री) से प्रकट होनेवाली सौन्दर्य से भी यही प्रकट होता है कि विचित्र गुणों के द्वन्द्वाकार में श्रीभगवान का समावेश है। असीम शक्तिवान होने पर भी वह परम क्षमाशील है, परम कारुणिक है तथा अगाध ज्ञानी होने पर भी वह सर्वदा मौन है।

पवित्रता के सम्बन्ध में रस्किन ने कहा है कि जागतिक जड़ वस्तु से ही हमें आध्यात्मिक पवित्रता की धारणा हो पाती है। जिस वस्तु से जितना ही अधिक प्रकाश प्रस्फुटित होता है, वह वस्तु अपने अवयवों को भी उतना ही व्यक्त कर सकती है। उसी को हम साधारणतः पवित्र कहा करते हैं। इसीलिए एक हीरकखण्ड एक प्रस्तरखण्ड की अपेक्षा पवित्रतर माना जाता है और इसीलिए प्रस्तर-राशि का एक टुकड़ा एक ईंट से पवित्रतर समझा जाता है। किन्तु इस प्रतिफलन के मूल में किसी वस्तु के आभ्यन्तरीण परमाणु-पुंज की गतिशीलता रहा करती है। जिस स्थान पर आभ्यन्तरीण परमाणु-पुंज की गतिशीलता जितनी ही अधिक होगी, उस स्थान पर प्रतिफलन भी उतना ही अधिक होगा। इसीलिए चाहे जीव-घटित हो चाहे अजीव-घटित गतिशीलता, शक्ति या वीर्य (एनरजी) को ही पवित्रता कहते हैं। राशिकृत धूलि को हम अपवित्र नहीं कहते, किन्तु मैल जमने पर मनुष्य-शरीर को हम अवश्य अपवित्र कहते हैं। उसका कारण यही है कि उसकी जीवनी-शक्ति का ह्रास हो जाने के कारण उसका चर्म मैलयुक्त हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि गति, शक्ति या वीर्य की व्याहतता को ही हम अपवित्रता कहते हैं।

---

1. The Universal instinct of repose
   The longing for confirmed tranquility
   Inward and outward humble yet sublime
   (Wordsworth, Excursion Bk III).

2. Symmetry is the opposition of equal quantities to each other ; proportion, the connection of unequal quantities with each other. (Ibid. Page 70).

इस सम्बन्ध में रस्किन ने कहा है कि सौन्दर्यसृष्टि के लिए संयम मॉडरेशन नामक गुण नितान्त आवश्यक होता है। जिस प्रकार भगवान में असीम शक्ति होने पर भी उसमें असीम धैर्य और संयम वर्त्तमान है, जिस प्रकार उसका शक्ति-व्यवहार में भी आत्म-नियंत्रण रहता है, शिल्पी के लिए भी सौन्दर्यसृष्टि के लिए उसी संयम की एकान्त आवश्यकता है। शिल्पी में कितनी भी शक्ति क्यों न हो, यदि उसमें संयम या आत्म-नियन्त्रण नहीं है, तो उस शक्ति के सहारे सृष्टि संभव नहीं है। इसी कारण प्राकृतिक जगत में दिखाई देने वाली रेखाओं की वक्रता में भी एक प्रकार की स्वाभाविकता रहती है जिससे उसकी वक्रता हमें रूढ़ ज्ञात नहीं होती। प्राकृतिक जगत में पत्ते, लता, वृक्षादि सभी स्थानों पर वक्रता विद्यमान है, किन्तु वह वक्रता इतनी धीरे और दुष्प्रेद्य भाव से आत्मप्रकाश करती है कि हम उसे सहसा नहीं देख पाते। प्राकृतिक जगत में दिखाई देनेवाले रंग-वैचित्र्य में भी उसी प्रकार की कोमलता दिखाई पड़ती है। इसी कारण गहरे सब्ज़ रंग की अपेक्षा हमारे चित्त में हल्का सब्ज़ रंग अधिक प्रीति उत्पादन करता है। वस्तुतः संयम (मॉडरेशन) के अभाव में सौन्दर्य की सृष्टि प्रायः असंभव ही है।

रस्किन द्वारा कथित बाह्यवस्तु के सौन्दर्य के उपादानों का इतना ही तात्पर्य है कि बाह्यजगत में ऐसे कुछ उपादान हैं जिनके द्वारा भगवान के नानाविध गुण हमारे मन में अभिव्यक्त होकर हमारे चित्त में सौन्दर्य का संस्कार उत्पन्न करते हैं। इन समस्त उपादानों के माध्यम से श्रीभगवान ने अपने स्वरूप को जगत में लक्षित करा दिया है। हम देखें या न देखें, हमारी आँखों के सम्मुख अथवा दुरारूढ़ पर्वतशिखर या गंभीर कन्दरा में सर्वत्र ही श्रीभगवान ने अपने स्वरूप को अंकित कर रखा है। उसने अपने-आप को अपनी महिमा से प्रकट कर रखा है, तथापि हमें सौन्दर्य की शिक्षा देने के लिए किसी-किसी स्थल पर सौन्दर्य का अधिक प्रकाश दीख पड़ता है और किसी स्थान पर उसकी कुछ न्यूनता दिखाई पड़ती है। मनुष्य को शिक्षा देने के अतिरिक्त इसका और कोई उद्देश्य नहीं है। चारों ओर फैले हुए भगवान के इस रूप को उपलब्ध करने की हमारी ईश्वर-प्रदत्त शक्ति ही हमारी सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है। इसी शक्ति के उत्कर्ष-बल के परिणाम स्वरूप हमारा भगवान से मिलन होता है। जिसका चित्त जितना ही उत्कृष्ट या उन्नत और जितना ही पवित्र है उतने ही उत्कृष्टतर भाव से वह भगवान के स्वरूप को जगत में देख पाता है और सौन्दर्यरस में परिप्लुत हो सकता है। श्रीभगवान ही यथार्थ सौन्दर्य-स्वरूप हैं।

यदि मनुष्य के चित्त में स्वाभाविक मैत्रीभाव या उसकी सहानुभूतिपूर्ण सदय

दृष्टि न हो तो पृथ्वी के सौन्दर्य को सम्पूर्णतया ग्रहण करना असंभव है। लता, गुल्म, वनस्पति प्रभृति के प्रति भी हमारे चित्त में एक स्वाभाविक कोमलता का होना आवश्यक है। प्रत्येक जीवित वस्तु में उसकी प्राणक्रिया का प्राचुर्य उसे सुन्दर बनाता है। प्रत्येक, वृक्ष, लता, गुल्म तथा जीव अपने अवयव की सहायता से एक विशिष्ट कार्य सम्पन्न कर सकता है। जिस स्थान पर उसके अवयवों से उसकी पूर्णता का परिचय मिलता है वहीं उसका स्वाभाविक जैव-सौन्दर्य (वाइटल ब्यूटी) व्यक्त होता है। हम साधारणतः जिन समस्त वृक्ष, लता आदि अथवा समस्त नाना-जातीय जीवों को देखते हैं उनकी जैव-सौन्दर्य की पूर्णता को किसी एक आदर्श के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। शिल्पी अपनी कल्पना के द्वारा आदर्श प्राणी या आदर्श वृक्ष की सृष्टि करता है। उस वृक्ष या प्राणी का इस प्रकार अंकित किया जाना आवश्यक है जिससे उसके समस्त अवयवों की प्राण-स्फूर्ति की पूर्णता उसमें पूर्ण आदर्श के साथ विकसित हो सके। इसी सौन्दर्य को हृदयंगम करने के लिए उस प्राणी या वृक्ष के प्राण-धारण और समग्र प्राण-स्फूर्ति के आनन्द के साथ हमारे हृदय को प्रयोजन-निरपेक्ष भाव से प्रवृत्त करना भी आवश्यक है। प्राणिजगत या वनस्पति-जगत के साथ हमारा प्रयोजन-सापेक्ष सम्बन्ध है। उसके प्रति तिलमात्र भी ध्यान न देकर उनके जीवन की आनन्द-स्फूर्ति तथा प्राण-स्फूर्ति के साथ मैत्री भाव से विगलित होकर यदि हम उससे एक हो सकें, तभी हम उनकी प्राण-स्फूर्ति के रहस्य में प्रवेश कर सकते हैं। अनेक बार रेखागत या वर्णगत सौन्दर्य के साथ इसी प्राणगत सौन्दर्य का विरोध देखा जाता है। प्राणगत सौन्दर्य का प्रधान विकास चक्षु द्वारा होता है। इसीलिए कीटाणु आदि के निष्प्रभ तथा छोटे-छोटे चक्षुओं में जैवधर्म की गति परिस्फुट नहीं होती, जिसके कारण वह कुत्सित माने जाते हैं। जिनके चक्षु हिंस्रभाव से परिपूर्ण होते हैं वे और भी कुत्सित जान पड़ते हैं। जिसके नेत्रों से मृदुता और माधुर्य प्रकाशित होता है अथवा बुद्धि की दीप्ति प्रकाशित होती है, वही देखने में सुन्दर जान पड़ता है। यही कारण है कि जहाँ जैवधर्म के साथ-साथ नैतिकधर्म भी प्रकाशित होता है वहीं सौन्दर्य अधिक प्रकट होता है। किन्तु प्रत्येक प्राणी या जीव को हम तभी यथार्थ रूप में देख पाते हैं जब अपने साथ मित्रता, शत्रुता या निरीहता आदि के सम्पर्क से उसे वर्जित करके देखते हैं और भगवान ने उसकी जिस उद्देश्य से सृष्टि की है उसी उद्देश्य की परिपूर्णता के कारण उसके समग्र अवयवों की उपयोगिता और प्राणस्फूर्ति की परिपूर्णता की ओर ध्यान रखकर उसका निरीक्षण करते हैं। जगत के प्रति हमारे निस्वार्थ प्रेम अथवा हमारी

सहानभूतिमय दृष्टि होने पर हमारे सामने समग्र जगत का सौन्दर्य व्यक्त हो जाता है।[1]

तात्पर्य यह है कि अनेक बार हम अपने अपकार या उपकार को ही दृष्टि में रखकर प्राणिवर्ग को सुन्दर या कुत्सित मान लेते हैं। करुणामय श्रीभगवान ने समस्त प्राणियों की एक-न-एक उद्देश्य से सृष्टि की है। किसी के द्वारा वह हिंसा और किसी के द्वारा साक्षात् रूप से उपकार कराते हैं, किन्तु प्राणि के द्वारा जो हिंसा कराते हैं, उस हिंसा में भी किसी-न-किसी रूप में उनकी करुणा ही व्यक्त होती है। इस कारण जो लोग भगवान की इच्छा में ही अपनी इच्छा अन्तर्लीन कर देते हैं और जो उसी में सौन्दर्य-दर्शन यह मान कर करते हैं कि श्रीभगवान की इच्छा के अनुकूल भाव की परिपूर्ण स्फूर्ति में ही उस प्राणि की सार्थकता है, वही उसे देख पाने के अधिकारी हैं। इस कारण निस्वार्थ होकर समदर्शिता, सब प्राणियों से प्रेम और एकान्त रूप से भगवान की इच्छा का अनुगमन करते हुए समस्त प्राणियों का ध्यान रखना न सीखने पर प्राणि या वनस्पति समूह के सौन्दर्य का यथार्थ रूप से आविष्करण संभव नहीं है। मनुष्य के सम्बन्ध में हम इसी विपद में फँस जाते हैं कि नाना प्रकार के प्राकृतिक, नैतिक और मानसिक कारणों से मनुष्य इतना विषमभावापन्न हो जाता है कि शरीर या मन के द्वारा यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि चित्रकार का आदर्श-मनुष्य किस जाति का पुरुष हो सकता है। प्राचीन यूनानियों ने व्यायाम-परिपुष्ट, दृढ़, सुदीर्घ, बलिष्ठ और मांसल मनुष्य को ही अपना आदर्श स्वीकार किया है, किन्तु साधारणतः व्यायाम के द्वारा जब किसी व्यक्ति का कोई एक अवयव दूसरे की अपेक्षा अधिक परिपुष्ट दिखाई दे तो उस व्यक्ति को आदर्श नहीं माना जा सकता। मनुष्य का चित्र अंकित करते हुए केवल शरीर-परिपुष्टि से ही काम नहीं चल सकता, बल्कि शरीर में मनुष्य की बुद्धि, नैतिक चरित्र की दीप्ति एवं उसकी आध्यात्मिकता जितनी ही सुव्यक्त होती है उतना ही उस व्यक्ति

1. Whence, in fine, looking to the whole kingdom of organic nature, we find that our full receiving of its beauty depends, first on the sensibility, and then on the accuracy and faithfulness, of the heart in its moral judgements; so that it is necessary that we should not only love all creatures well, but esteem them in that order which is according to God's laws and not according to our own human passions and predilections ...... and testing the clearness of our moral vision by the extent and fulness, and constancy of our pleasure in the light of God's love as it embraces them, and the harmony of His holy laws, that for ever bring mercy out of rapine, and religion out of wrath. (P. 96, 97).

को आदर्श सुन्दर कहा जा सकता है। मनुष्य-बुद्धि की दीप्ति उसके शरीरावयव में एक विशेष परिवर्तन करती है और बुद्धि की दीप्ति के साथ साधु-प्रवृत्ति का योग बुद्धि की गति नियमित करके उसकी शक्ति को बढ़ा देता है। तब भी देखने में यह आता है कि चित्त की निर्मलता और पवित्रता जितनी ही बढ़ती है, उतना ही बुद्धि का प्रभाव कम होता जाता है। जिस बुद्धि की प्रबल चेष्टाओं द्वारा हम बोधव्य वस्तु को आयत्त करते हैं, उसी बुद्धि की चेष्टाएँ श्रेष्ठ आध्यात्मिकता के उदय होने पर शान्त हो जाती हैं।[1]

इसी कारण देखा जाता है कि आध्यात्मिकता-पूर्ण मुख पर जो कान्ति फूटती है वह गंभोर चिन्ता के कारण पड़ी हुई बंकिम रेखाओं के समान छाया नहीं डालती। आध्यात्मिकता की क्रमोन्नति के साथ-साथ अनेक बार शरीर की क्षीणता और दुर्बलता दिखाई देने लगती है। मानवीय आदर्श की एक निश्चित छवि पाना दुःसाध्य है, किन्तु नाना रूपों में विभिन्न प्रकार का आदर्श पाया जा सकता है। जिस प्रकार आध्यात्मिकता और ज्ञान की दीप्ति की वृद्धि से मनुष्य देह में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार काम क्रोधादि रिपुओं की वृद्धि के साथ-साथ देह की विकृति आरंभ हो जाती है।

विचार करने पर जान पड़ता है कि रस्किन के मतानुसार सौन्दर्य का स्थान केवल दृश्य जगत् में है। इस जगत् में रेखा-विन्यास या वर्ण-विन्यास आदि विभिन्न उपायों के द्वारा हमारे अन्तःस्थित नाना रूपों की स्मृति जाग्रत की जा सकती है। या तो यह उपाय उनके नाना गुणों के प्रतीक स्वरूप उपस्थित हो सकते हैं या जीव-जगत् के प्राणानन्द प्रकाश के स्वरूप में जान पड़ सकते हैं अथवा इस जीव-जगत् में भगवान् ने जिस कार्य के लिए प्राणी की सृष्टि की है, उस कार्य की दक्षता में सौन्दर्य का विकास हो सकता है। इस प्रकार सौन्दर्य हमें उक्त चार प्रकार से प्रभावित कर सकता है, किन्तु यह चार प्रकार की स्थिति भी

---

1. The simulteneous exercise of both being in a sort impossible, we occasionally find the moral part in full development and action without corresponding expansion of the intellect ...... If we look far enough we shall perhaps find that it is not intelligence itself but the immediate act and effort of a laborious struggling, an imperfect intellectual faculty with which high moral emotion is inconsistent ; and though we cannot while we feel deeply, reason shrewdly, yet I doubt if except when we feel deeply we can ever comprehend fully ; so that it is only the climbing and mole like piercing and not the sitting upon their central throne nor emergence into light of intellectual faculties which the full heart feeling allows not. (Ibid. P. 111).

भगवान् की ही स्थिति है।[१]

सौन्दर्यविचार में रस्किन ने अनेक श्रेष्ठ भावनाओं की अवतारणा की है। उनकी विचारधारा की पवित्रता और उसका गांभीर्य हमारे चित्त को स्पर्श और पवित्र करता है। रस्किन टॉल्स्टाय के समान "जो सबके चित्त में संक्रमित हो सके उसे ही कला कहते हैं" इस नियम का अनुसरण नहीं किया है और न "जो सबके उपकार में प्रयुक्त होता है उसी को कला कहते हैं" इस नियम का ही पल्ला पकड़ा है। उन्होंने कला को प्रयोजनातीत तथा प्रयोजननिरपेक्ष ही बताया है, साथ ही नीति और धर्म की शिक्षा देना उसका एक प्रधान उद्देश्य माना है। उन्होंने बताया है कि एकमात्र बाह्यवस्तु ही सौन्दर्य का आधार है। वह सौन्दर्य को 'टिपिकल' और 'वाइटल' दो प्रकार का मानते हैं। कोई वस्तु हमें सुन्दर लगती है और कोई असुन्दर इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि जिसे हम 'टिपिकल' सौन्दर्य कहते हैं उसमें रेखा तथा वर्ण-विशेष के विशिष्ट सम्मिलन से रेखा के बंकिमता आदि धर्मों में हमारे चित्त में भगवान् की अनन्तता, महत्ता और एकत्व-समवादिता तथा संयम प्रभृति धर्म व्यंजित होते हैं। श्रीभगवान् ने अपने अमूर्त्त धर्म को मूर्त्त रूप के द्वारा व्यंजित करने की व्यवस्था की है, इसलिए जिन समस्त मूर्त्त धर्मों के द्वारा उनके अमूर्त्त धर्म, अभिव्यंजित होते हैं, उनके दृष्टिगोचर होने पर हम उसे सुन्दर कहते हैं। 'वाइटल ब्यूटी' के मूल में प्रधानतः दो प्रकार के सौन्दर्य का बोध होता है। एक वह जहाँ जीवन्त प्राणी में प्राण रूपी भगवान् की प्राणमूर्त्ति अजस्र रूप में प्रवाहित हो उठती है, दूसरे भगवान् ने जिस जीव की जिस कार्य के लिए सृष्टि की है उसमें उसकी उपयोगिता और सामर्थ्य आदर्श रूप में परिस्फुट होती है। मनुष्य में चिन्ताशक्ति, नैतिक चरित्र और आध्यात्मिकता के साथ शरीरसौष्ठव अभिव्यक्त होता है, इसलिए नाना आदर्शों के विचार से मनुष्य का सौन्दर्य भी नाना जातीय हो सकता है।

रस्किन के इस सौन्दर्य-विश्लेषण के सम्बन्ध में हमारी प्रधान आपत्ति यह है कि केवल आध्यात्मिकता और ईश्वरीयता के अभिव्यंजन में ही सौन्दर्य-बोध का घटित होना स्वीकार नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिकता का

---

1. We have seen that this subject matter is referable to four general heads. It is either the record of conscience written in things external, or it is a symbolising of Divine attributes in matter, or it is the felicity of living things, or the perfect fulfilment of their duties and functions. In all cases it is something Divine, either the approving voice of God, the glorious symbol of Him, the evidence of His kind presence or the obedience to His will by Him induced and supported. (Ibid. P. 131).

गहन सम्पर्क होना तो संभव हो सकता है और यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि उससे मनुष्य के चित्त में एक विशेष निर्मलता उत्पन्न होती है, किन्तु इस प्रकार की आध्यात्मिकता को सौन्दर्यबोध का घटकीभूत अथवा अवच्छेदक धर्म किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता। सौन्दर्यबोध चित्त की निर्मलता का सम्पादन कर सकता है, किन्तु वह उसका गौण फलमात्र है। सौन्दर्यबोध के साथ आध्यात्मिकता का कोई विषयगत सादृश्य नहीं है। हमारे चित्त में अनेक उपायों से सौन्दर्यबोध उत्पन्न हो सकता है, किन्तु उन उपायों को हम सुन्दर नहीं कह सकते। किसी साधु पुरुष के वाक्य सुनकर या कोई साधु आदर्श देखने पर हमारे चित्त में निर्मलता और पवित्रता उत्पन्न होती है, इसे हम अस्वीकार नहीं करते। किन्तु हम उसे इसीलिए सुन्दर नहीं कहा करते। वस्तुतः आध्यात्मिकताबोध और सौन्दर्यबोध इन दोनों में प्रकारगत पार्थक्य इतना अधिक है कि इन दोनों का स्वरूपगत ऐक्य अंगीकार नहीं किया जा सकता। हम यह नहीं बता सकते की कोई भी मूर्त्त रूप प्रत्यक्ष कर लेने पर यदि उससे हमारे चित्त में कोई अमूर्त्त अनन्तता प्रतिफलित होती है तो उस प्रकार के अनन्तताबोध को हम क्यों सुन्दर कहेंगे? रस्किन ने एक ओर सौन्दर्यबोध को प्रयोजन-निरपेक्ष स्वीकार किया है और दूसरी ओर 'वाइटल ब्यूटी' के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि भगवान् ने जिस प्राणी की जिस कारण सृष्टि की है, तदुपयोगी अवयव-संस्थान ही सौन्दर्य का कारण है। हम किसी प्राणी के सौन्दर्य को तो प्रत्यक्ष देखकर जान पाते हैं, किन्तु भगवान् ने किस प्राणी की किसलिए सृष्टि की है इसे तो सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक भी निःसंशय भाव से नहीं बता सकता। भगवान् ने जगत् में अपने स्वरूप को किसी विशेष कारण से ही अंकित किया है। यह नहीं बताया जा सकता कि उसके अतिरिक्त उसका और क्या उद्देश्य है। यदि इस जगत् को भगवान् की सृष्टि के रूप में भगवान् का प्रकाश मान लिया जाय तो फिर किसी भी वस्तु को असुन्दर नहीं कहा जा सकता। रस्किन के पूर्व शेफ्ट्सबरी (Shaftesbury) ने भी कुछ इसी प्रकार के भावों का पोषण किया था। उनका भी यही विचार था कि बाह्य जगत् में भगवान् के प्रकाश का प्रस्फुटन ही सौन्दर्य है, तथापि वह यह न समझा सके कि केवल इसी कारण कोई वस्तु सुन्दर अथवा कुरूप क्यों हो जायगी।[1]

1. Shaftesbury stands, so far as aesthetic is concerned on the same metaphysical ground of the Christian intelligence, behiving beauty to be an expression of the divine light of the world which he contrasts with dead matter in a way too much akin to Plotinus and is therefore unable to

शेफ्ट्सबरी ने भी आध्यात्मिक मंगल (गुडनैस ऑव मोरैलिटी) समझकर सौन्दर्य और आध्यात्मिकता के बीच गड़बड़ी उत्पन्न की थी।

इस प्रसंग में विशेष रूप से काण्ट की समस्यापूरण की बात का ध्यान आता है।

बॉमगार्टन (Baumgarten—१७१४-१७६२) ने निष्प्रयोजन ऐन्द्रियक बोध के आनन्द के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए जिस शास्त्र का प्रणयन किया है वह ऐस्थेटिका (Aesthetica) के नाम से प्रसिद्ध है। तभी से सौन्दर्यशास्त्र का नाम 'ऐस्थेटिक' चला आ रहा है। डेकार्टे (Descartes), स्पिनोज़ा (Spinoza), लिबरित्ज़ (Lebritz) एवं वुल्फ (Wolff) इत्यादि सभी के मतानुसार सुखादि भावसंवेग और ऐन्द्रियक बोधज्ञान दोनों एक ही प्रकार के स्वीकार किये गये हैं। स्पिनोज़ा ने ऐन्द्रियकबोध (सेंस परसेप्शन) एवं भावसंवेग (पैशन) दोनों को एक रूपआवृतक ज्ञान (Confused acts of thoughts) माना है। वुल्फ ने अपने मनोविज्ञान में भावसंवेगादि को ज्ञान का एक विशेष विभाग बताया है। बॉमगार्टन ने उसी मत के पोषण में ऐन्द्रियक-बोध का एक स्वतन्त्र विभाग करते हुए उसे पृथक् रूप से जानने के लिए ऐस्थेटिक नामक एक स्वतन्त्र शास्त्र की कल्पना की है। इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय आवरणता-वच्छेद में आवृतक ज्ञान समूह का विशेष परिचय प्राप्त करना है (obscure conception qua obscure)। यह आवरणावच्छेद धर्म ऐन्द्रियबोध का भावसंवेगात्मक धर्म है, अतएव बॉमगार्टन के मत से सौन्दर्यशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है कि ऐन्द्रियकबोध हममें निष्प्रयोजन रूप से किस सुखदुःखादि को उत्पन्न करता है, किन्तु ऐन्द्रियक बोध को इन लोगों ने क्यों अस्फुट और आवरणात्मक कहा है, यह समझना कठिन है। संभव है ऐन्द्रियकबोध को उसके विशेष रूप में किसी के निकट प्रकाशित नहीं किया जा सकता, ऐसा समझकर ही उन्होंने इसे आवरणात्मक (कनफ्यूज्ड) माना है। बॉमगार्टन का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि ऐन्द्रियकबोध में एक स्वगत सामंजस्य होता है जिससे हमारे चित्त में सुख उत्पन्न होता है और जिस सुख तथा सामंजस्य को हम ज्ञान की भाषा में प्रकाशित नहीं कर सकते, उसे सौन्दर्य कहा जा सकता है। जिस प्रकार स्फुट ज्ञान के प्रकाश में एक प्रकार का सामंजस्य दिखाई देता है, उसी प्रकार अस्फुट ऐन्द्रियकबोध में भी एक सामंजस्य होता है। उस सामंजस्य के बोध से हमारे हृदय में आनन्द उत्पन्न

---

find an explanation for ugliness or evil. (Bosanquet's History of Aesthetic, P. 177).

होता है।[1] बॉमगार्टन का मत है कि सामंजस्य की पूर्णता (परफेक्शन) को ही सौन्दर्य कहते हैं। इसीलिए सौन्दर्य बाह्य न होकर आभ्यन्तरिक माना जाता है। ऐन्द्रियक वस्तु के सामंजस्य को सुन्दर नहीं कहा जा सकता, किन्तु ऐन्द्रियकबोध के सामंजस्य को अवश्य कहा जा सकता है। स्फुट ज्ञानाकार में इस बोध के उत्पन्न हो जाने पर, वह सत्य-सा प्रकाशित होता है।[2]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सामंजस्यबोध की पूर्णता ही सौन्दर्य है। अवयव के साथ समग्रता के पूर्ण अविरोध को ही, बॉमगार्टन आदि ने पूर्णता स्वीकार किया है।[3] वुल्फ तथा बॉमगार्टन दोनों ने विभिन्नता में प्रतीत होनेवाली एकता को सौन्दर्य कहा है। सौन्दर्य का नाम लेने से इसी पूर्णता का ज्ञान होता है और शेष अवयवों के साथ समग्र के सामंजस्य का अभाव होने पर ही कुत्सित की सृष्टि होती है। बॉमगार्टन ने यह भी कहा है कि प्राकृतिक जगत् ही एतादृश सामंजस्य का चरम आदर्श है, इसलिए प्रकृति का अनुकरण करना ही कला की चरम सिद्धि है। यद्यपि इस रूप में प्लेटो के साथ बॉमगार्टन का सादृश्य दिखाई पड़ता है, तथापि दोनों की दृष्टि में भिन्नता है। प्लेटो के मत में प्राकृतिक जगत् सबसे निकृष्ट है, किन्तु बॉमगार्टन उसी को पूर्ण आदर्श स्वीकार करते हैं। यह पूर्णता का आदर्श ही उनके विचार से कला का आदर्श है।

यह नहीं कहा जा सकता कि काण्ट सौन्दर्यालोचन में बॉमगार्टन या बर्क से तनिक भी प्रभावित नहीं हुए हैं, तथापि यह कह सकते हैं कि काण्ट की विचार-धारा पूर्णतया मौलिक है। काण्ट ने तीन प्रधान ग्रंथों की रचना की है : १—क्रिटिक ऑव प्योर रीज़न, २—क्रिटिक ऑव प्रैक्टिकल रीज़न और ३—क्रिटिक ऑव द पावर ऑव जजमेण्ट। प्रथम दो पुस्तकों के सम्बन्ध में दो-एक बातें बताये बिना तीसरे ग्रंथ का तात्पर्य समझाना संभव नहीं है। इस कारण हम पहले क्रिटिक ऑव प्योर रीज़न के सम्बन्ध में थोड़ा विचार करेंगे। यह ग्रंथ अत्यन्त विस्तृत है और अपूर्व मनीषापूर्ण है। आज भी बहुत-से ख्यातनामा दार्शनिक

---

1. The sphere of Aesthetic then, is the whole complex of faculties, those which represent any connection in a confused form and which taken together form the parallel or parody of reason in the province of confused knowledge (A. Zimmermann 1. P. 165).
2. He gives to the perfection of sensuous knowledge i.e. of feeling or sensation, the name of beauty as the manifestation in feeling of that attribute which when manifested intellectual knowledge is called truth.
3. Perfection might be generally defined as the character of a whole in so far as this whole is affirmed by its parts without counteraction.

नित्य नवीन विचार करके इसमें से नवीन तथ्यों का उद्‌घाटन करते हैं। विभिन्न व्याख्याकारों के बीच इसके तात्पर्य के सन्बन्ध में बहुत मतभेद देखा जाता है, किन्तु उस समस्त विवाद में न पड़कर सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी अपने लिए उपयोगी दो-एक बातों पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। प्राकृतिक जगत के सम्बन्ध में दर्शन, इतिहास, विज्ञान तथा साहित्य आदि में हम अनेक प्रकार के उपायों से अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं। एक प्रकार से यह सभी विचार व्यक्तिगत रूप में असंख्य और अनन्त होते हैं, तो भी हमारे एक भाव के साथ दूसरे किसी भाव का सम्बन्ध या एक के आभ्यन्तरीण घटकीभूत सम्बन्धों के बीच कई प्रकार के निर्दिष्ट प्रकार हैं, जिन्हें अतिक्रम करना इनमें से किसी के लिए भी संभव नहीं है। कोई भी दो भाव परस्पर एक होकर एक-दूसरे के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं या विच्छिन्न हो जाते हैं। एक भाव दूसरे भाव के साथ कारणवश ही आबद्ध होता है। विषयवस्तु का अनन्त वैचित्र्य होने पर भी उनके बीच कुछ निर्दिष्ट धाराएँ हैं जो दैनिक और कालिक सम्बन्ध के अतिरिक्त पूर्वकथित गुण तथा संख्यागत या कारण-कार्यगत कुछ निर्दिष्ट सम्बन्धों में परस्पर अन्वित रहती हैं। जब यह कहा जाता है कि सभी मनुष्य मरणधर्मा हैं, तब मनुष्य के साथ मरण-धर्म के विशेष्य-विशेषण भाव का अन्वय होता है, जो केवल एक मनुष्य के सम्बन्ध में सत्य नहीं है, अपितु सब कालों में सब मनुष्यों के साथ वह सत्य होता है—इस प्रकार का अनेकरूप परिचय हमें प्राप्त होता रहता है। मनुष्य के इस भाव का विश्लेषण करके भी इस रूप के सम्बन्धों का परिचय हमें मिलता रहता है। यह सम्बन्ध निराधार नहीं है। किसी भी एक ऐन्द्रियकबोध को विषय-वस्तु के रूप में ग्रहण करके उसको नाना सम्बन्धों में बाँधकर अन्यान्य भावों के साथ जोड़ते हुए एक-एक वाक्य-भाव की उत्पत्ति होती है। किन्तु नितान्त सम्बन्ध-निरपेक्ष विषयवस्तु का स्वरूप क्या है, अर्थात् स्वलक्षण भाव से उसकी प्रकृति क्या है, बाह्यजगत में किस प्रकार की विषयवस्तु सम्बन्ध-निरपेक्ष रहकर हममें विचित्र इन्द्रियबोध उत्पन्न करती है, आदि बातों के जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। हमारी इन्द्रिय के साथ दैनिक तथा कालिक वृत्तियाँ इस प्रकार अनुस्यूत रहती हैं कि अज्ञात बहिर्वस्तु के प्रभाव से हमारी इन्द्रियों में किसी बोध के उत्पन्न होने के साथ-साथ ही वह देशाकार और कालाकार में प्रतीत होने लगती हैं। इन देशाकार या कालाकार के अतिरिक्त ऐन्द्रियबोध के स्वलक्षण स्वरूप का निर्णय करने का कोई उपाय नहीं है। इसी कारण बहिर्वस्तु हमारे निकट सदा ही आवृत्त होकर अज्ञात मायाकार में रहती है। यही बहिर्वस्तुएँ अपनी विक्षेपशक्ति

से हमारी इन्द्रियों में जिस बोध को उत्पन्न करती हैं वह ऐन्द्रियक, दैशिक और कालिक वृत्तियों द्वारा परिवर्तित होकर दैशिक और कालिक आकार में ज्ञात होती हैं। यही दैशिक और कालिक आकार में परिवर्तित ऐन्द्रियबोध बुद्धिवृत्ति द्वारा नाना सम्बन्धों के योग से नाना प्रकार के ज्ञानाकार में अहंबोध के साथ प्रकाशित होता है। यह अहंबोध भी बुद्धिवृत्ति की क्रिया के पावन पुन्य के परिणामस्वरूप एक विकल्पात्मक सृष्टिमात्र ही है। इसी कारण ऐसा दिखाई पड़ता है कि हमारा सभी प्रकार का ज्ञान हमारी एक आत्मा की सृष्टि मात्र है। वह बाह्यजगत की किसी सत्ता पर प्रतिष्ठित है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उस सत्ता का स्वरूप नितान्त अज्ञात है। इसी कारण हमारे ज्ञानलोक में जिसकी अनुभूति होती है बहिर्लोक में उसकी कोई सत्ता नहीं होती। उसकी सत्यता केवल हमारे अन्तर्लोक में है। इसी कारण अन्तर्लोक की विज्ञप्ति के सहारे जब किसी प्रकार की बहिस्सत्ता के सम्बन्ध में हम कोई मत व्यक्त करते हैं या जब कहा जाता है कि ईश्वर है, आत्मा है, आत्मा अविनश्वर है अथवा जगत है या जगत आदि-अनादि है, तब हम अनेक विरोधों और असामंजस्य से घिर जाते हैं। किन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हममें एक ऐसी वृत्ति है जिससे हम आत्मा आदि की निरपेक्ष, स्वाधीन एवं स्वतन्त्र सत्ता अंगीकार करने के लिए तैयार होते हैं। इसी वृत्ति को काण्ट ने अलौकिक अनुभूति (रीज़न) कहा है। इसके फलस्वरूप बाहर कई प्रकार की विक्षेप-शक्ति की क्रिया चलती रहती है और अन्दर से कई एक ऐन्द्रिय और बुद्धिवृत्तियाँ काम करती रहती हैं। इस दोनों प्रकार की क्रिया के फलस्वरूप इन्द्रिय द्वार पर उपनीत बहिःशक्ति का प्रभाव परिवर्तित होकर 'अहं इदं जानामि' के समान अहमत्व और इदमत्व तथा 'जानामि' इस प्रकार विचित्र विज्ञप्ति रूप में निरन्तर प्रतीत होता है। केम्प स्मिथ (Kemp Smith) ने इसी भाव को अपनाया है।[1]

बाह्य और आन्तर दोनों ही शक्तियाँ अज्ञात हैं, दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया

1. The synthetic processes must take place and complete themselves before any consciousness can exist at all. And as they thus pre-conditioned consciousness they themselves cannot be known to be conscious ; and not being known to be conscious it is not even certain that they may legitimately be described as mental. We have no right to conceive them as the activities of a normal self, we know the self only as conscious and the synthetic processes being the generating conditions of consciousness are also generating conditions of the only sense of which our experience can vouch. (Commentary to Kant's Critique of Pure Reason. P. 277).

रूप में हमारी समस्त ज्ञानधारा एवं उसकी अनुभविता की उत्पत्ति होती है। इसीलिए इस ज्ञानधारा के आधार पर बाह्य प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कह सकते। हम अपने ज्ञान और अनुभव के बल पर न तो यही बता सकते हैं कि बाह्यप्रकृति हमारे ज्ञान के अनुरूप है या नहीं, न यही कि हमारे जीवन में यह समस्त विविध जातीय आकांक्षा उत्पन्न होती है और हमारे चित्त में साधु और मंगल की दिशा में जो प्रवृत्ति निरन्तर जागरूक रहती है उसे हम बाह्यजगत् में कार्यान्वित कर सकते हैं कि नहीं। स्थूल रूप से, ज्ञान-प्रक्रिया की आलोचना में हमें बाह्यजगत् के सम्बन्ध में कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। बोसांके (Bosanquet) ने एक स्थान पर काण्ट के सम्बंध में विचार करते हुए इस का मर्मोद्घाटन किया है[1] कि ज्ञानलोक में ऐसा कुछ नहीं है, जिसके द्वारा हम यह अनुमान कर सकें कि हमारे सुख अथवा नैतिक जीवन के कारण समस्त प्रयोजन उसके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर सुसम्पन्न हो सकेगा। समस्त ज्ञानधारा माया का खेलमात्र है। बुद्धि (अण्डर स्टैंडिंग) अपने क्षेत्र में विविध प्रकार की स्वजातीय-विजातीय सम्बन्ध-परम्परा को एकत्र कर देती है। इससे हमारे अन्तर्लोक में कुछ विषयों में एक लोकातिक्रान्त दृष्टि का उन्मेष हो जाता है, जिसके बल पर हम कुछ तत्त्वों की सत्यता अंगीकार तो करना चाहते हैं, किन्तु प्रमाणित नहीं करना चाहते। उन्होंने कहा है कि हम किसी वस्तु को कोटि-कोटि विशेषणों से युक्त करके देख सकते हैं, हम कह सकते हैं कि यह वस्तु या तो यह है या वह है। इस प्रकार जिसे जगत के असंख्य, अनन्त काल्पनिक विशेषणों से युक्त देखते हैं, उसमें एकसाथ सारे विशेषणों का आरोप करके एक सर्वाधार की कल्पना की जा सकती है। यद्यपि यह सर्वाधार हमारे अन्तर्लोक में दिव्यदृष्टि द्वारा व्यक्त होता है, तथापि इसकी न तो ज्ञान में ही सत्ता प्रमाणित की जा सकती है और न बहिर्लोक में ही। इसी को ऑइडियल ऑव रीज़न अर्थात् अतीन्द्रिय अनुभव कहते हैं। हमारे ज्ञानलोक में प्राप्त होनेवाली सभी स्थितियाँ परतन्त्र हैं, इसीलिए यद्यपि हमारे मन में यह कल्पना तो उदित होती है कि स्वतन्त्र और स्वयं सत् कुछ है अवश्य, किन्तु हम उसकी सत्यता के सम्बन्ध में कुछ बता नहीं पाते। बुद्धिवृत्ति में ज्ञानलीला की प्रस्फुटित कल्पना के द्वारा अवयव-सन्निवेश में ही अवयवी की धारणा व्यक्त हो जाती

1. "We do not see any ground whatever for supposing that the natural reality thus brought before our minds, a reality which is taken to include our own sentiment and emotional nature, is in any way bound to continue in accord with our intelligence or in the smallest degree to take account of our moral or endaemonistic requirements". (Ibid p. 258).

है। वह अवयवी अन्य किसका अवयवी है इसकी कल्पना करने का कोई उपाय नहीं रह जाता। किन्तु अतीन्द्रिय अनुभव (आइडियल ऑव रीज़न) में भासमान कल्पना में हम अवयव के अतिरिक्त केवल अवयवी का परिचय ही पाना चाहते हैं। इसीलिए इस कल्पना की कोई ज्ञानगत यथार्थता नहीं मानी जाती।

अतीन्द्रिय कल्पना (आइडियल ऑव रीज़न) में बुद्धि (अण्डरस्टैंडिंग) और अन्तर्दृष्टि (रीज़न) का जो वैपरीत्य दिखाया गया है, उसी के किंचित् निराश के लिए 'क्रिटिक ऑव प्रेक्टिकल रीज़न' लिखा गया है। हमारा अन्तर्जगत केवल ज्ञान से ही सम्बद्ध नहीं है, अपितु इसमें इच्छा भी एक प्रधान उपादान है। इच्छा में हम अपनी स्वतन्त्रता का दर्शन करते हैं। स्वतन्त्रता या स्वाधीनता का अर्थ समस्त आधीनता या परतन्त्रता से मुक्ति है। हमारी स्वतन्त्रेच्छा में हमें बाधाहीन प्रवृत्ति का परिचय मिलता है और हम उसके दायित्व का अनुभव करते हैं। इसी में हमारे नैतिक जीवन का रूप प्रकट होता है। निरपेक्ष स्वाधीनता और क्रियाप्रवृत्ति में हमारी स्वाधीनता की सूचना मिलती है और उससे यह भी संकेत मिलता है कि हम आन्तरिक रूप में जिस क्रियाप्रवृत्ति का अनुभव करते हैं, उस प्रभाव को बाह्यजगत में प्रस्फुटित भी कर सकते हैं। हम जिस स्वाधीनता का अनुभव करते हैं, उसका कोई भावात्मक स्वरूप-लक्षण नहीं दिया जा सकता। नकारात्मक रूप में हम उसे अन्य-अनाधीन अथवा अन्य-निरपेक्ष कह सकते हैं। इसीलिए जब हम किसी प्रकार के भावसंवेग के आधीन या किसी उद्देश्य के वशवर्ती होकर कोई काम करते हैं, तब चाहे वह भावसंवेग कितना भी पवित्र या उच्चतर प्रवृत्ति वाला क्यों न हो, हम अपने-आपको उस समय किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं कह सकते। किसी के दुःख से प्रभावित होकर दान करने या समाज-रक्षा के उद्देश्य से सत्य कहने पर उस प्रकार की क्रिया को स्वतः प्रवृत्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस स्थल पर हम भावसंवेग और उद्देश्य विशेष के आधीन होकर कार्य करते हैं। काण्ट कहते हैं कि इस प्रकार किसी उद्देश्य या भावसंवेग के आधीन न होकर हम अपनी एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति, इच्छाशक्ति, का परिचय पाते हैं। 'इस प्रकार करना होगा' केवल इसी विधि-रूप में हमें इसका परिचय मिलता है। जहाँ 'इसलिए ऐसा करना होगा' के समान रूप होता है वहाँ इच्छा कारण के आधीन होकर व्यक्त होती है। किसी भी कारण के आधीन न रहकर हम जो एकान्त स्वतन्त्र भाव से किसी प्रकार के कार्य में प्रवृत्त होने की इच्छा करते हैं, उसी इच्छा को यथार्थ स्वाधीन एवं यथार्थ नैतिक इच्छा कहते हैं। इस प्रकार की इच्छा की सत्ता द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि बाह्य जगत में इस

इच्छा को कार्य में परिणत करना संभव है। इस प्रकार की सम्भावना न रहने पर यह इच्छा ही निर्थक हो जाती है एवं इस इच्छा में हम जिस कर्त्तव्य के प्रभाव का अनुभव करते हैं, वह भी मिथ्या हो जाता है। यदि बाह्यजगत में अपनी इच्छा या प्रवृत्ति को कार्य रूप में सफल करना संभव हो तो यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि अज्ञात बाह्यजगत के साथ हमारे अन्तर की अभिव्यक्त इच्छा या क्रियाशक्ति का एक गहरा सम्बन्ध है। 'क्रिटिक आव प्योर रीज़न' ग्रंथ से हम इसके अतिरिक्त और कुछ भी अनुमान नहीं कर सकते कि बाह्यजगत से अनेक प्रभाव हमारे इन्द्रिय द्वार तक आते हैं। हमारे चित्त की अतीन्द्रिय भूमि पर अतीन्द्रिय अनुभव (आइडियल आव रीज़न) के रूप में आत्मा की सत्ता, उसका अविनश्वरत्व, बाह्य जगत का अवयवित्व और पूर्णत्व या ईश्वर की सत्ता आदि के सम्मबन्ध में हम जो कुछ निर्देश करना चाहते हैं, उसका युक्ति द्वारा तनिक भी संस्थापन नहीं होता।

'क्रिटिक आव प्योर रीज़न' के सिद्धांत के आधार पर आंतर अनुभूति के अतिरिक्त बाह्यजगत के सम्बंध में हम कुछ भी नहीं कह सकते, किन्तु इसके सिद्धांत के साथ 'क्रिटिक आव प्रैक्टिकल रीज़न' का सिद्धांत मिला देने पर हम समझते हैं कि हमारे भीतर के प्रभाव के साथ बाह्यजगत का संबंध है। बोसांके ने इस प्रसंग में कहा है कि आदर्शों में विश्वास रखने वाले व्यक्ति काण्ट के मत को ग्रहण कर सकते हैं [1]।

अपनी इच्छाशक्ति के प्रभाव से हम यह जान सकते हैं कि हम बाह्य जगत में अपनी स्वाधीन इच्छा को कार्यान्वित कर सकते हैं, किन्तु उससे हमारे बाह्य तथा आभ्यन्तर जगत् के बीच के सामंजस्य का ज्ञान नहीं हो सकता। काण्ट ने इसी सम्बन्ध का ज्ञान कराने के हेतु ही 'क्रिटिक ऑव प्योर जजमेण्ट' ग्रंथ की रचना की है। हमें इन्द्रियबोध तथा विषयबोध से सर्वथा पृथक् रूप में अपनी स्वाधीनता का बोध हुआ करता है। इन्द्रिय और विषय की अनुभूति से भी हमारी एक अलग ही सत्ता है। यह स्वाधीनताबोध पूर्ण रूप से निर्विषय, आत्मनिष्ठ, अतीन्द्रिय तथा विषयस्पर्शहीन होता है। कारण-कार्य से बँधकर भी हममें एक स्वतन्त्र शक्ति विद्यमान रहती है। अतएव यदि हम अपनी इस शक्ति का प्रसार विषयबोध के क्षेत्र में करना चाहेंगे तो उसे ऐसा होना चाहिए कि संसार से ही

---

1. Those who believing in a universe that as a whole is in no way relevant to any rational end, nevertheless think it practically certain that morality is possible and life, with its implied reference on a nobler earthly future is worth living, are in a position to appreciate Kant's doctrine of Practical Reason. (Bosanquet's History of Aesthetic. P. 260).

विषय ग्रहण करने पर भी हम उन्हें अपनी शक्ति से एक सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत कर सकें। हमारी आत्मशक्ति का प्रसार ही इस जगत में दिखाई देता है। इसे हम जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं। तात्पर्य यह है कि बाह्य जगत् के मूल में रहनेवाली अतीन्द्रिय सत्ता तथा अन्तर्जगत् में स्वाधीनताबोध करानेवाली अज्ञात सत्ता में इस प्रकार का ऐक्य या मिलन-सूत्र दिखाई देता है जिसके द्वारा अन्तः-सत्ता के द्वारा प्रेरित इच्छा-शक्ति को बाह्य जगत् में अनुकूल भाव से प्रेरित किया जा सकता है।[1] अभिप्राय यह है कि बाह्यजगत् का अन्तर्जगत् के स्वाधीनता-बोध के साथ और अतीन्द्रिय अवस्था में अतीन्द्रिय अनुभव (आइडियल ऑव रीज़न) के रूप में अभिव्यक्त ईश्वर तथा आत्मा आदि नाना तत्वों का एक नियमबद्ध अनुवर्तिताघटित सम्बन्ध रहता है। अन्तर्जगत् के साथ बाह्यजगत् का अनुवर्तिता सम्बन्ध है अर्थात् बाह्यजगत् अन्तर्जगत का साधन है और स्वयं अन्तर्जगत साध्य है। इस प्रकार दोनों में उद्देश्य-विधेयता सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध को काण्ट ने उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध या 'टेलियो लॉजिकल जजमेण्ट' कहा है और इसका अपने 'क्रिटिक ऑव जजमेण्ट' ग्रंथ में विचार किया है। अनेक विचित्रताओं के रहते हुए भी बाह्यजगत् में एक ऐक्य रहता है, जिसके कारण यह जगत् हमारे ज्ञान तथा हमारी इच्छा के अनुरूप परिवर्तित हो जाता है। इस ऐक्य को जान लेने पर हमें बाह्यजगत् की प्राकृतिक एकता से आनन्द मिलता है। यह आनन्द साधारण प्रयोजन-सिद्धि के आनन्द से भिन्न रूप वाला होता है। इस सामंजस्य या ऐक्यबोध-जनित आनन्द को ही सौन्दर्यबोध का आनन्द कहते हैं। व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) होने पर भी यह आनन्द वस्तु के रूपमात्र का ही अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रयोजन-वर्जित होने के कारण यह सर्वनिष्ठ (यूनिवर्सल) और सर्व-साधारण होता है।[2]

---

1. Nature must be thought of in such a way that the law-abidingness of its form may be compatible at least with the possibility of the ends imposed by the laws of freedom which are to be effected within it. Therefore, there must, after all, be a ground of the unity of the supra-concious which lies at the root of nature with that which the conception of freedom practically contains—a ground of the conception of which, although unable to attain cognition of it (the ground) either in theory or in practice and therefore possessing no peculiar territory, nevertheless makes possible a transition from the mode of thinking dictated by the principles of the one world to that dictated by the principles of the other world. (Ibid P. 261).
2. The power of judgment is reflectives, not determinent, and prescribes to

संश्लेषात्मक वृत्ति को 'जजमेण्ट' कहते हैं। हम जिन पदार्थों को अलग-अलग देखते हैं उन्हीं को इस वृत्ति के द्वारा अवयव-अवयवी भाव से संश्लिष्ट रूप में देखा करते हैं। जब हम यह अनुभव करते हैं कि हमने अनेक दलों वाला कमल देखा है तो हम उस समय इसी वृत्ति से काम लेते हैं। इसे समीक्षावृत्ति कह सकते हैं। बुद्धि (अण्डर-स्टैंडिंग) के द्वारा हम वस्तु को केवल उसके विश्लिष्ट रूप में देख पाते हैं और अतीन्द्रिय अनुभव (आइडियल ऑव रीज़न) के समय हमें केवल समष्टि का बोध होता है, परन्तु समीक्षावृत्ति (जजमेण्ट) के द्वारा हम विश्लिष्ट को संश्लिष्ट करके अवयव-अवयवी भाव से देखते हैं। इसी कारण इस वृत्ति को बुद्धि (अण्डरस्टैंडिंग) और अतीन्द्रियता (रीज़न) के बीच की स्थिति माना जाता है। इस प्रकार सुखदुःखादिबोध को ज्ञान तथा इच्छा दोनों का संयोजक माना जाता है। इन्हीं की प्रेरणा से हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इनका स्वरूप कर्म या प्रयोजन-सिद्धि से विच्छिन्न रूप में भी प्रतीत हुआ करता है। किसी वस्तु को सुन्दर कहने पर हमें प्रसन्नता होती है। इस प्रसन्नता का कारण है हमारी बुद्धिवृत्ति के साथ बाह्यवस्तु के सामंजस्य की गहन अनुभूति। जब हमारी बुद्धि का बाह्य वस्तु के साथ गहन सामंजस्य हो जाता है तब उसकी अनुभूति से ही हमें प्रसन्नता मिलती है। इस सामंजस्य के स्वरूप को हम नहीं बता सकते। इसी प्रकार जब हमें किसी छवि या कल्पना में इस सामंजस्य का अनुभव होता है तो हम प्रसन्न हो उठते हैं। सौन्दर्य का आनन्द भी इसी प्रकार सामंजस्य की जानकारी से उत्पन्न होता है। यदि किसी वस्तु के प्रति हमारा स्वार्थ-विशेष बाधक न बने तो निश्चय ही सर्वसाधारण आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। सौन्दर्य का आनन्द सुख एवं मंगल के आनन्द से भिन्न प्रकार का होता है। सुख केवल व्यक्तिनिष्ठ होता है और कार्य के अनुकूल होने पर ही व्यक्ति को सुख होता है। इसी प्रकार मंगलबोध में पूर्वापर अवस्था के साम्य-वैषम्य का ज्ञान रहता है। इसके विपरीत सौन्दर्यबोध में किसी प्रकार का स्वार्थ-जनित ज्ञान नहीं रहता। सौन्दर्य कहते ही हमें समझना चाहिए कि सुन्दर कहलाने वाली वस्तु हमारे अन्तर में किसी अज्ञात आदर्श को पूर्ण करती है और

---

itself the conception of purposiveness in nature as if nature in all its variety had had a unity imposed upon it by an intelligence such as to conform to our cognition. This conformity to our cognition, our power of apprehension produces, when perceived, the feeling of pleasure wholly distinct from that which belongs to conformity of our desires. (Ibid P. 261).

अज्ञात रूप में हमारे मन के अनुकूल हुआ करती है, फिर भी हमें यह ज्ञान नहीं रहता कि वह कैसे हमारे चित्त या बुद्धि का प्रयोजन सिद्ध करती है। [1]

सुखबोध (प्लेज़ेण्ट) और सौन्दर्यबोध में प्रधानतः एक भेद यह है कि सुखबोध मूलतः किसी ज्ञात और स्पष्ट आकांक्षा की परितृप्ति से उत्पन्न होता है और उसके द्वारा स्पष्टतः किसी आभ्यन्तरिक उद्देश्य या व्यक्तिगत स्वार्थ (डिस्टिंक्टिव सब्जेक्टिव परपज़) की सिद्धि होती है, किन्तु सौन्दर्यबोध से किसी ऐसी आकांक्षा की परितृप्ति या उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती जो पहले से ज्ञात अथवा निश्चित हो। किसी ज्ञात आकांक्षा के तृप्त होने पर उत्पन्न होनेवाला बोध सौन्दर्यबोध नहीं होता। श्रेय (गुड) में भी एक प्रकार की उद्देश्य या आकांक्षा-सिद्धि रहती है, फिर चाहे वह उद्देश्य केवल निरपेक्ष श्रेय-साधन ही क्यों न हो। उसकी सिद्धि अन्य लोगों के सुख के लिए भी हो सकती है और नितान्त निरपेक्ष रूप में भी। हम केवल श्रेय के लिए ही श्रेयसाधना में रत हो सकते हैं अथवा हम किसी को सुख पहुँचाने के लिए श्रेय का मार्ग अपना सकते हैं। श्रेय की अन्य-निरपेक्ष साधना से श्रेय अपने वास्तविक पूर्ण रूप में उपस्थित होता है जब कि दूसरे पक्ष में वह दूसरे के सुख के साधन के रूप में केवल उपयोगी स्थिति में ही ग्राह्य होता है। इस प्रकार एक से उसकी पूर्णता (परफेक्शन) का ज्ञान होता है और दूसरे से उसकी उपयोगिता (यूटिलिटी) का। वुल्फ (Wolff) के मतानुसार सौन्दर्य और पूर्णता दोनों एक ही वस्तु हैं। फिर भी किसी वस्तु को पूर्ण कहना हो तो उसके लिए किसी विशेष उद्देश्य या आदर्श का स्पस्ट ज्ञान होना आवश्यक है, किन्तु सौन्दर्यबोध के लिए किसी उद्देश्य या आदर्श का ज्ञान आवश्यक नहीं होता। सौन्दर्यबोध की उद्देश्यसिद्धि में उद्देश्य का स्पष्ट पता ही नहीं चलता। इस प्रकार सौन्दर्य उपयोगिता तथा पूर्णता दोनों से विलग रहता है। हमारी विकल्पवृत्ति (फैकल्टी ऑव इमेजिनेशन) और बुद्धिवृत्ति (अण्डरस्टैंडिंग) के पारस्परिक सामंजस्य के फलस्वरूप प्रकाशित होनेवाली अनुभूति से ही सौन्दर्यबोध होता है। किन्तु इस परिणामी अनुभूति में किसी उद्देश्य का बोध नहीं होता। यह निरपेक्ष कहा जा सकता है। दार्शनिक पदावली में कहा जा सकता है कि सौन्दर्यबोध में उद्देश्य-सिद्धि वृत्ति-व्याप्यत्व रूप में न होकर फलव्याप्यत्व रूप में होती है, अर्थात् आनन्द उसका फल है, किन्तु उद्देश्यसिद्धि सौन्दर्य नहीं है।

---

1. In respect of the relation which the judgment of taste implies the beautiful is the form of purposiveness in un object in as far as can be perceived without the idea of an end. (Ibid p. 264).

निष्प्रयोजन होने से ही किसी वस्तु को सुन्दर नहीं कहा जाता। प्रागैतिहासिक काल के अनेक शिलाखण्ड प्राप्त होते हैं जिनका कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य है, भले ही हम उसे न बता सकें, किन्तु इतना निश्चित है कि हम उसका प्रयोजन न जानने के कारण ही उन्हें सुन्दर नहीं बताया करते। हम गुलाब का फूल देखकर उसे सुन्दर कहते हैं। उससे भी हमारा एक विशेष उद्देश्य सिद्ध होता है, ऐसा कहा तो जा सकता है पर वह प्रयोजन क्या है उसे बताया नहीं जा सकता।[1] अभिप्राय यह कि सौन्दर्यबोध न तो किसी की बुद्धि की परिकल्पना है न उसे इन्द्रियसुख या नैतिक वृत्ति की परिस्फूर्ति ही कहा जा सकता है। सौन्दर्यबोध ऐन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय (सैन्स एंड रीज़न) के सम्मिलन से ही उत्पन्न होता है। वह मूलतः एक भावसंवेग मात्र है, इसी कारण यह नितान्त आभ्यन्तरीण एवं व्यक्तिनिष्ठ भी होता है। इसे भावसंवेगात्मक मानने पर इसके वेदनात्मक स्वरूप को बोधात्मक या ज्ञानात्मक नहीं कह सकते। (The judgment of test contributes in no way to cognition). किसी विषय को देखने के समय हमारी आभ्यन्तरीण वृत्तियों (फैकल्टी ऑव इमेजिनेशन एंड अण्डर स्टैंडिंग) में अनुभूत होनेवाले सामंजस्य की फलात्मक अनुभूति सौन्दर्यबोध या सौन्दर्यवेदना कहलाती है। सौन्दर्यवेदना में इस बात का परिचय नहीं मिलता कि किस वृत्ति का अथवा किस प्रकार का सामंजस्य हुआ है। इस स्थल पर हम केवल उसी आभ्यन्तरीण सामंजस्य को उपस्थित करनेवाले व्यापार की, परिपक्व फल के समान, विशिष्टजातीय अनुभूति का परिचय प्राप्त करते हैं।[2]

पहले ही बताया जा चुका है कि सौन्दर्यवेदना व्यक्तिनिष्ठ होती है, किन्तु व्यक्तिनिष्ठ होने पर भी काण्ट ने इसको साधारण या सर्वनिष्ठ स्वीकार किया है। साधारणतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो व्यक्तिनिष्ठ है वह सर्वनिष्ठ कैसे हो सकता है? जो व्यक्तिनिष्ठ है वह एक ही व्यक्ति की अनुभूति पर निर्भर करता है और उस व्यक्ति के न होने पर उसकी अनुभूति नहीं हो सकती। इसके विपरित सर्वनिष्ठ किसी एक व्यक्ति की अनुभूति पर निर्भर नहीं रहता। किन्तु पहले कहा जा चुका है कि जब किसी एक परिदृश्यमान वस्तु को लक्ष्य करके एक सामंजस्य घटित होता है तो उसके परिणामस्वरूप एक प्रकार की अनुभूति हुआ

1. A flower, for instance tulip, is considered beautiful because a certain purposiveness is found in the perception of it, which is not within our act of judging referred to a name (Ibid P. 264).
2. It simply expresses a felt harmony in the play of our own powers on occasion of certain perception.

करती है। यह व्यक्तिगत सामंजस्य सर्वपुरुष साधारण व्यापार है और किसी विशिष्ट व्यक्ति का स्वीय या विशिष्ट सामंजस्य नहीं है। इसीलिए किसी वस्तु को देखकर एक व्यक्ति के चित्त में जैसा सामंजस्य घटित होता है, उसी प्रकार की वस्तु देखकर अन्य व्यक्ति के चित्त में भी वैसा ही वृत्ति-सामंजस्य सिद्ध होता है। इसीलिए फलीभूत सौन्दर्यवेदना के व्यक्तिनिष्ठ होने पर भी उसका कारण सर्वपुरुष-साधारण होता है, अतएव उसे व्यक्तिनिष्ठ माना जाता है। इस कारण काण्ट ने कहा है कि जो एक व्यक्ति के लिए सुन्दर प्रतीत होता है वह दूसरे को भी सुन्दर ही प्रतीत होगा। नीति के सम्बन्ध में भी काण्ट ने इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि जो एक को अच्छा या श्रेयस्कर प्रतीत होता है वह दूसरे को भी वैसा ही प्रतीत होगा।

काण्ट के सौन्दर्यवाद की प्रधान विशेषता यही है कि वह स्रष्टा और दृश्य के बीच अज्ञात सामंजस्य के परिणामस्वरूप घटित वेदना को ही सौन्दर्यवेदना मानते हैं। सौन्दर्यवेदना मात्र स्वार्थविहीन आनन्द है और व्यक्तिनिष्ठ होकर भी सर्वनिष्ठ होती है। काण्ट की कमज़ोरी यह है कि उन्होंने यह बताने की चेष्टा नहीं की है कि किसी वस्तु को हम उसके किस परिचायक धर्म के आधार पर सुन्दर कहें? उनके मत से स्पष्ट रूप से इस बात का भी पता नहीं लगता कि सौन्दर्य से हम वस्तुतः क्या अर्थ ग्रहण करें? किसी फूल को देखकर हम उसे सुन्दर तो कहते हैं, किन्तु उसे क्यों सुन्दर कहते हैं इसका कारण हम न तो अपनी व्यक्त मनोवृत्ति में ही खोज पाते हैं और न उपस्थित बहिर्वस्तु फूल में ही। इसका कारण समझाते हुए काण्ट ने कहा है कि सौन्दर्यानुभूति हमारी आभ्यन्तरीण अतीन्द्रियवृत्ति के साथ बुद्धिस्थ वृत्ति के अलौकिक सामंजस्य का बाह्य फल मात्र है। इस अलौकिक सामंजस्य का विशिष्ट परिचय प्राप्त करने या उसका रूप समझने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है।

किसी एक बाहरी वस्तु को एक ओर जितना ज्ञान के द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है, दूसरी ओर उतना ही सुख या दुःख के द्वारा भी उसकी उपलब्धि हो सकती है। जिस समय कोई वस्तु हमें सुखदुःख वेदना से स्पर्श करती है, उस समय उस स्पर्श से उस वस्तु के सम्बन्ध में कोई ज्ञानात्मक परिचय नहीं होता एवं इसी कारण वह वेदना व्यक्तिनिष्ठ होती है। इस स्पर्श से केवल वस्तु-विशेष पर अवलम्बित व्यक्ति की निजी वेदना की उपलब्धि सूचित होती है।[1]

1. This denotes nothing in the object but is a feeling which the subject has in itself and the manner in which it is effected by the representation. (Critique of Judgment P. 42. Meredith's translation. 1911).

दृश्यानन्द के साथ वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति या किसी अन्य प्रकार के विचार का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं होता। किसी वस्तु को देखने मात्र से उद्भूत होनेवाला आनन्द ही सौन्दर्यवेदना का आनन्द होता है, किन्तु यह तभी हो सकता है जब वस्तु को सब प्रकार के स्वार्थ से मुक्त या सम्पर्क से निरपेक्ष रखकर देखा जाय। यही कारण है कि सौन्दर्य का आनन्द किसी अभिलाषघटित आनन्द (इन्टरेस्ट) के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। आनन्द के साथ जुड़ी रहनेवाली अभिलाषा सदा ही उस काम्य वस्तु के साथ भी जुड़ी रहती है, किन्तु सौन्दर्यवेदना का आनन्द वस्तु को उपलक्ष्य करके उत्पन्न होने पर भी एकान्त रूप से वस्तु-निरपेक्ष होकर केवल चित्त की आनन्दानुभूति में ही निबद्ध रहता है। हरे मैदान देखकर उत्पन्न होनेवाला आनन्द हरे मैदान से एकान्ततः विश्लिष्ट होता है। यही वस्तु-निरपेक्ष किन्तु वस्तु के उपलक्ष्य से उत्पन्न एकान्ततः आध्यात्मिक अनुभूति का आनन्द ही सौंदर्यानन्द है। किसी को हम जब भला या श्रेयस्कर कहते हैं तब या तो वह दूसरी कोई भली वस्तु उत्पन्न करता है या वह स्वयं अन्य-निरपेक्ष रूप में भला होता है। यद्यपि सुखबोध भला या श्रेयत्व-बोध से स्वतंत्र होता है, तथापि सुखबोध में भी इन्द्रियसुख का विधान करनेवाली वस्तु के प्रति लिप्सा होती है। केवल सौंदर्यवेदनाजन्य आनन्द ही वस्तु-लिप्सा से सम्पूर्णतया विश्लिष्ट होता है। इसी कारण किसी प्रकार की वस्तु के साथ इसका सम्बंध नहीं जोड़ा जा सकता। इसके सम्बंध में केवल यही बताया जा सकता है कि यह वस्तु के उपलक्ष्य से उत्पन्न होता है। इसके विपरीत ऐन्द्रिय सुखबोध अथवा किसी वस्तु का श्रेयत्वबोध इन दोनों का ही वस्तु-नियन्त्रित किसी-न-किसी लिप्सा से सम्बंध रहता है। (Both the agreeable and the good involve a reference to the faculty of desire.) परन्तु जिस रुचि द्वारा हम केवल आनन्द की दृष्टि से किसी वस्तु का विचार करते हैं, उसी वृत्ति को रुचिवृत्ति (टेस्ट) एवं एकान्त निरपेक्ष आनन्द के विषय को सुन्दर कहते हैं। किसी वस्तु को देखने पर यदि उससे किसी अभिलाषा या लोभ का सम्बंध नहीं रहता, बल्कि उसके देखने से केवल आनन्द घटित होता है, तब वही आनन्द सबके लिए समभाव से साक्षियोग्य या सर्वसाधारण के द्वारा उपभोग बन जाता है। जब हम किसी वस्तु को अपनी अभिलाषा का विषय बनाकर एकान्ततः निजी रूप में उसका भोग करना चाहते हैं, उस समय वह दूसरे के उपभोग के योग्य नहीं रह जाती। किन्तु अभिलाष-सम्बंध से वर्जित होकर उस दृष्ट वस्तु में किसी द्रष्टा-विशेष का ऐसा निजस्व नहीं होता, कि उसके कारण अन्य द्रष्टा उस विषय में किसी अन्य

द्रष्टा के तुल्य आनन्द न पा सकें। यह आनन्द किसी भी अभिलाषा के नियन्त्रण से उत्पन्न नहीं होता। इस कारण यह आनन्द एक ओर जितना ही स्वतंत्र, स्वाधीन और अन्य-निरपेक्ष होता है दूसरी ओर उतना ही द्रष्टा-निरपेक्ष भी होता है। व्यक्तिगत किसी भी स्वार्थ-तुष्टि के द्वारा नियंत्रित न होने के कारण यह सर्वनिष्ठ होता है।[1]

तात्पर्य यह है कि जब कोई भी वस्तु अभिलाष-निरपेक्ष भाव से किसी भी द्रष्टा को सुन्दर प्रतीत होती है, तब उसको ऐसा लगता है मानो सौन्दर्य उस वस्तु का ही एक इन्द्रियग्राह्य धर्म है एवं इसी कारण वह उसी रूप में सभी को दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः सौन्दर्य प्रकार-प्रकारीभाव या गुण-गुणीभाव से किसी भी वस्तु का धर्म नहीं है, क्योंकि धर्म-धर्मीभाव, गुण-गुणीभाव या प्रकार-प्रकारीभाव से ज्ञात होनेवाले सम्बन्धज्ञान के साथ आनन्द का तनिक भी सम्बन्ध नहीं है, तथापि एकान्ततः नियन्त्रण-शून्य और स्वार्थ-लेश-शून्य होकर जब किसी वस्तु को उपलब्ध करके कोई आनन्द उत्पन्न होता है, तब हम उस वस्तु को ही उस आनन्द का विषय मानकर उसका विचार या उसकी कल्पना करते हैं, मानो उस वस्तु का कोई भी एक धर्म हमें आनन्द देता है। उस विषयीभूत धर्म को सौन्दर्य और

---

1. For since the delight ie not based on any inclination of the subject (or any other delibrate interest), but the subject feels himself completely free in respect of the liking which he accords to the object, he can find as a reason for his delight no personal conditions to which his own subjective self might alone be party. Hence he must regard it as resting on what he may also presuppose in every other person ; and therefore, he must believe that he has reason for demanding a similar delight from every one. Accordingly he will speak of the beautiful as if beauty were a quality of the object and the judgment logical (forming a cognition of the object by concepts of it) ; although it is only aesthetic, and contains merely a reference of the representation of the object to the subject ;—because it still bears this resemblance to the logical judgment, that it may be presupposed to be valid for all men. But this universality cannot spring from concepts. For from concepts there is no transition to the feeling of pleasure or displeasure (save in the case of pure practical laws, laws, which, however, carry an interest with them and such an interest does not attach to the pure judgment of taste). The result is that the judgment of taste, with its attendant consciousness of detachment from all interest, must involve a claim to validity for all men, and must do so apart from universality attached to object. i.e. there must be coupled with it a claim to subjective universality. (Ibid Page 51).

वस्तु को सुन्दर कहते हैं। वह विषयीभूत धर्म जिस क्षण बहिर्वस्तु के धर्म के रूप में प्रतीत होता है, तभी सब लोग समानभाव से उसे सुन्दर कह सकते हैं। इस सौन्दर्य के आनन्द और भला लगने के सुख में पूर्णतया भेद है। भला लगने का सुख व्यक्तिगत होता है, इन्द्रिय या मन के ऊपर निर्भर करता है। इसी कारण जो एक को भला लगता है, वह संभव है कि दूसरे को भला न लगे। राम को जो भोजन अच्छा लगता है वह श्याम को अच्छा नहीं लगता और जो श्याम को अच्छा लगता है वह यदु को अच्छा नहीं लगता। कोई बैंजनी रंग पसन्द करता है और किसी की आँख में वह रंग बैठता ही नहीं, उसे निष्प्रभ जान पड़ता है। कोई वीणा की झंकार पसन्द करता है और किसी को सूक्ष्म तन्त्री की आवाज़ वैसी सुखद नहीं लगती। इस सम्बन्ध में कोई तर्क नहीं दिया जा सकता कि ऐसा क्यों होता है। प्रत्येक को भला-बुरा लगना उनकी इन्द्रिय-रुचि पर निर्भर करता है, किन्तु सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी यही नियम लागू नहीं होता।

यदि सौन्दर्य केवल भला लगने पर निर्भर करता तब तो उसे सौन्दर्य ही नहीं कहा जा सकता था। (If it merely pleases him, he must not call it beautiful)। जब कोई किसी वस्तु को सुन्दर कहता है तो उसके मन में यह सन्देह नहीं होता कि दूसरे लोग भी इसे सुन्दर कहेंगे अथवा नहीं। इसके विपरीत वह निश्चिन्त होता है कि जो वस्तु उसे सुन्दर प्रतीत होती है, वह दूसरे को भी सुन्दर लगेगी। यदि एक व्यक्ति को सुन्दर लगनेवाली वस्तु को कोई दूसरा सुन्दर न कहे तो पहला व्यक्ति उसे दोष देता हुआ कहता है कि उस व्यक्ति में सौन्दर्यबोध की शक्ति नहीं है। अतएव सौन्दर्यबोध के सम्बन्ध में लोग मत-भेद सहन नहीं कर पाते। इसके विरोध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि केवल भला लगने में भी पर्याप्त ऐक्य होता है। यदि किसी एक व्यक्ति द्वारा निमंत्रित दस व्यक्ति एक-सा भोजन करके सन्तुष्ट होकर अपने घर लौटें तो कहना पड़ता है कि उस व्यक्ति को खिलाना आता है, वह आदर करना जानता है और उसे रुचिबोध है। फिर भी इस रुचिबोध को सर्वतोभावेन सर्वसाधारण नहीं कहा जा सकता। भद्र समाज में समादर की एक विशेष रीति है, जिसके अनुसार चलने पर व्यक्ति उस समाज में सभी की प्रीति का भाजन बन जाता है। इसीलिए किसी विशेष समादर को सर्व-साधारण के लिए प्रीतिकर मानने पर भी उस समादर-क्रिया में ऐसा कोई नित्य नियामक धर्म नहीं पाया जाता जिससे उसको सर्वतोभावेन सर्वसाधारण कहा जा सके।[1] सौन्दर्य के मूल में उत्पन्न होनेवाले इस

1. Yet even in case of the agreeable we find that the estimate men form do-

व्यक्ति, वस्तु तथा अभिलाष-निरपेक्ष आनन्द का कोई कारण निश्चित करना सरल नहीं है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि इन्द्रिय को अच्छा लगना एकान्त व्यक्तिगत इन्द्रिय-रुचि का संकेतक है, किन्तु सौन्दर्य का आनन्द आध्यात्मिक रुचि-सापेक्ष्य और व्यक्तिनिष्ठ होकर भी सर्वनिष्ठ होता है। साधारणतः सर्वनिष्ठ प्रत्यय, वस्तु-धर्म सापेक्ष होता है। जब हम कहते हैं कि कोयल काली है या सभी कोयलें काली हैं, तब इस सर्वनिष्ठ विश्वास के मूल में कोयल का कृष्णत्व विद्यमान रहता है। किन्तु वस्तु में हम किसी सर्वगोचर धर्म का संकेत नहीं पाते। कोई ऐसा निश्चित धर्म नहीं बताया जा सकता कि अमुक धर्म को देखकर किसी वस्तु-विशेष को सुन्दर कहा जायगा। धर्म-धर्मी सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाले सभी सर्व-सात्विक प्रत्यय अन्वीक्षामूलक (लॉजिकल) होते हैं, किन्तु काण्ट का कथन है कि सौन्दर्यवेदना में कोई भी अन्वीक्षामूलक प्रत्यय नहीं होता। द्रष्टा किसी वस्तु को देखकर सर्व-निरपेक्ष आनन्द का अनुभव करता है और उस वस्तु को ही आनन्दानुभव का विषय स्वीकार करके उसे सुन्दर कहता है। आनन्दानुभूति एकान्त आध्यात्मिक है और इसीलिए वह वस्तुधर्म नहीं है। वह व्यक्तिनिष्ठ एवं द्रष्टा का हृद्गत धर्म है परन्तु उसी हृद्गत अनुभूति के बल पर प्रत्येक द्रष्टा जिसे स्वयं सुन्दर कहकर स्वीकार करता है उसके सम्बन्ध में वह अनुभव करता है कि सभी उसे सुन्दर कहेंगे। अन्वीक्षामूलक न होकर भी केवल आत्मानुभूति के आधार पर सर्वनिष्ठता ही सौन्दर्यवेदना की विशिष्टता मालूम होती है। इन्द्रियानुभूति का सुख या भला लगना व्यक्तिनिष्ठ है। इसीलिए सभी यह मानते हैं कि इन्द्रियरुचि का भला-बुरा लगना भी व्यक्तिनिष्ठ ही है। वहाँ कोई भी सर्वनिष्ठता का दावा नहीं करता [1]।

---

betray a prevalent agreement among them, which leads to our crediting some with taste and denying it to others, and that too, not as an organic sense but as a critical faculty in respect of the agreeable generally. So of one who knows how to entertain his guest with pleasure (of enjoyment through all the senses) in such a way that one and all are pleased, we say that he has taste. But the universality here is only understood in a comparative sense ; and the rules that apply are, like emperical rules, general only, not universal,—the latter being what the judgment of taste deals or claims to deal in. (Ibid Page 53.)

1. There can be no rule according to which any one is to be compelled to recognise anything as beautiful. Whether a dress, a house or a flower is beautiful is a matter upon which one declines to allow one's

साधारण ऐन्द्रियक भला लगने और सौन्दर्यवेदना के आनन्द का भेद समझाने के लिए दो-एक बातें और कहनी हैं। वस्तु देखने के समय हमारे मन में उसकी छवि व्यक्त होती है, जिसका फल सुखबोध होता है। इस सुखबोध को सर्वनिष्ठ नहीं कह सकते। जहाँ सब इन्द्रियों को भला लगता है, वहीं यह रूप उपस्थित होता है अर्थात् हम इन्द्रियों के द्वारा वस्तु की जो छवि या उसका स्पर्श पाते हैं उसके परिणामस्वरूप घटित होनेवाला आनन्द हमारा निजी धर्म है। इस कारण इस सम्बन्ध में सबके साथ हमारा मेल होना आवश्यक नहीं है। यदि हममें उत्पन्न होकर भी आनन्द सर्वनिष्ठ हो सकता है तो उसे हमारी मन की वस्तुच्छवि से उत्पन्न कहना स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारी मन की वस्तु-छवि से उत्पन्न सुख केवल हमारा ही हो सकता है। वस्तु-छवि तैयार होने के लिए हमारे मन में दो प्रकार की प्रक्रिया चलती है, एक को विकल्पवृत्ति (पावर्स ऑव इमेजिनेशन) कहा जा सकता है और दूसरे को बुद्धिवृत्ति (अंडरस्टैंडिंग)। विकल्पवृत्ति खण्डशः गृहीत रूपों को एकत्र उपस्थित करती है और बुद्धिवृत्ति द्वारा वे एक अखण्ड ऐक्य में बँधे प्रतीत होते हैं। विकल्पवृत्ति अतीन्द्रिय होती है इसकी सत्ता का अनुमान मात्र किया जा सकता है। इन दोनों वृत्तियों में किसी वस्तु को उपलक्ष्य करके उत्पन्न होनेवाली सामंजस्य की अनुभूति वस्तु-छवि ग्रहण करने के पूर्व ही घटित होती है, इसीलिए यह वस्तु-छवि-निरपेक्ष होती है। इसके न होने पर वस्तु-छवि को ग्रहण नहीं किया जा सकता। चाहे किसी चित्र में किसी भी प्रकार की वस्तु-छवि क्यों न पाई जाती हो, इस सामंजस्य की अनुभूति वहाँ अवश्य होगी। इसीलिए इस अनुभूति का आनन्द वस्तु-छवि के ग्रहण करने का पूर्ववर्ती है और इसी कारण यह जोर देकर कहा जा सकता है कि यह सभी के द्वारा अनुभूत होगा। इन्द्रिय को भला लगने पर पहले वस्तु-स्पर्श या वस्तु-ग्रहण होता है, तत्पश्चात् आनन्द उत्पन्न होता है। किन्तु सौन्दर्य-वेदना में पहले आनन्दानुभूति होती है, उसके बाद वस्तु-छवि-ग्रहण और तदनन्तर भ्रमप्रयुक्त वस्तु-छवि और बाह्य वस्तु में उसका मिथ्या आरोप होता है [1]।

---

judgment to be swayed by any reason or principles. We want to get a look at the object with our own eyes, just as if our delight depended on sensation. And yet if upon so doing we call the object beautiful, we believe ourselves to be speaking with universal voice and lay claim to the concurrence of every one whereas no private sensation would be decisive except for the observer alone and his life. (Ibid P. 56.)

1. Were the pleasure in a given object to be the antecedent and were the universal communicability of this pleasure to be all that the judgment of

बाह्य प्रत्यक्ष का अवलम्बन करके उत्पन्न होने पर भी सौन्दर्यवेदना का आनन्द ऐन्द्रियक नहीं होता। विकल्प तथा बुद्धिवृत्ति में घटित होनेवाला सामंजस्य एकान्ततः आभ्यन्तरीण, अप्रत्यक्ष और इन्द्रिय को आगोचर होता है। इसी सामंजस्य की सिद्धि में सौन्दर्य का आनन्द है, इस कारण यह आनन्द ऐन्द्रियक सुख से नितान्त असंश्लिष्ट रहता है। इसी आनन्दप्रयोग से ही द्रष्टा का दर्शन-कार्य संपादित होता है, परन्तु उसके द्वारा निरूपित दर्शन-कार्य किसी विशिष्ट वस्तु के स्वरूप के द्वारा नियन्त्रित नहीं होता। सर्व-नियंत्रण-निरपेक्ष भाव से विकल्प और बुद्धिवृत्ति की स्वाधीन परम्परानुवर्तिता के लिए पारस्परिक परिचय के परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाला आनन्द ही सौन्दर्य कहलाता है। उसे ही सौन्दर्यवेदना का आनन्द कहते हैं।[1] यह आनन्द किसी विचार का आनन्द नहीं होता। यह न तो लिप्सा-जनित होता है न ऐन्द्रिय या यांत्रिक-बोधजनित ही

---

taste is meant to allow to the representation of the object such a sequence would be self-contradictory. For a pleasure of that kind would be nothing but the feeling of mere agreeableness to the senses and so for its very nature would posses no more than private validity......A representation whereby an object is given involves, in order that it may become a source of cognition at all imagination for bringing together the manifold of intuition, and understanding for the unity of the concept uniting the representations. This state of free play of the cognitive faculties attending a representation by which an object is given must admit of universal communication......As the subjective universal communicabilty of the mode of representation in a judgment of taste is to subsist apart from the presupposition of any definite concept, it can be nothing else than the mental state present in the free play of imagination and understanding (so far as these are in mutual accord, as is requisite for cognition in general) : for we are conscious that this subjective relation suitable for a cognition in general must be just as valid for everyone and consequently as universally communicable, as any determinate cognition, which always rests upon that relation as its subjective condition. (Ibid 58),

1. The consciousness of mere formal finality in the play of the cognitive faculties of the subject attending a representation whereby an object is given is the pleasure itself because it involves a determining ground of the subject's activity in respect of the quickening of its cognitive powers' and thus an internal causality (which is final) in respect of cognition generally but without being limited to definite cognition and consequently a mere form of the subjective finality of a representation in an aesthetic judgment. (Ibid Page 64).

होता है, फिर भी इसी के द्वारा वस्तु-छवि अन्य उद्देश्य-निरपेक्ष होकर ज्ञान के आकार में प्रकट होती है।[1]

काण्ट ने सभी वस्तुओं के दो भेद किये हैं। एक को स्वरूप (फॉर्म) कहते हैं और दूसरे को गुण-धर्म (क्वालिटी)। 'हरा' कहने पर हमें जो कुछ दिखाई देता है, उसके भी दो भाग किये जा सकते हैं। किसी हरेपन के बोध होने पर अनेक क्षणों में कठिनाई से उपचित हरेपन का पृथक्-पृथक् बोध एक अखण्ड हरेपन के बोध के रूप में मन के सम्मुख उपस्थित हो सकता है। दुर्ग्राह्य अनेक क्षणों में पृथक् रूप से होनेवाले बोध का जो एक अखण्ड, निस्पन्द बोध-रूप में ग्रहण किया जाता है, काण्ट ने उसी को वस्तु की स्वरूपता कहा है। इसके अतिरिक्त एक हरे प्रत्यय में निहित 'सब्ज़' नामक धर्म को उन्होंने सब्ज़ का गुण-धर्म बताया है। यह हरापन अंशतः इन्द्रियग्राह्य होता है, इसी कारण हरा कहने से जिस भला लगने का संकेत मिलता है, वह सर्वनिष्ठ नहीं है। अर्थात् इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि जो एक को सब्ज़ के रूप में अच्छा लगता है, वह दूसरे को भी भला लगेगा कि नहीं। किन्तु बहु-दुर्ग्राह्य क्षण-परम्परा में खण्डशः गृहीत सब्ज़ प्रत्यय को एक अखण्ड प्रत्यय के रूप में ग्रहण करना अतीन्द्रिय मनोव्यापार-साध्य है एवं इसी कारण वह इन्द्रियनिरपेक्ष होता है। वही आनन्द सभी में एक-रूप होने के लिए बाध्य है। इसी कारण एक अमिश्र वर्ण को तो सुन्दर कहा जाता है, किन्तु मिश्र वर्ण को नहीं कहा जा सकता। किसी छवि या किसी प्रस्तरशिल्प को सुन्दर कहते समय हम उसके दृष्ट रूप को सुन्दर नहीं कह सकते, क्योंकि वह ऐन्द्रिय होता है। सुन्दर कहने से हम उस समय उसके आकार (फॉर्म) का अर्थ लेते हैं।[2] सारांश यह है कि नाना प्रकार के वर्णों के वैचित्र्य से किसी भी

---

1. This pleasure is also in no way practical, neither resembling that from the pathological ground of agreeableness nor that from the inellectual ground of the represented soul. But still it involves an inherent causality, that, namely, of preserving a continuance of the state of the reprentation itself another active angagement of the cognitive power without ulterior aim. (Ibid Page 64),

2. In painting, sculpture, and in fact in all the formative arts, in architecture and horticulture, so far as fine arts be designed is what is essential. Here it is not what gratifies in sensation but merely what pleases by its form. that is the fundamental pre-requisite for taste. The colours that give brilliancy to the sketch are part of the charm. They may no doubt, in their own way, enliven the object for sensation, but make it really worth looking at and beautiful they cannot. (Ibid Page 67).

वस्तु के विशुद्ध स्वरूप या आकार को इन्द्रिय-विलोभनीय बनाया जा सकता है, किन्तु यह वर्ण-लिप्सागत इन्द्रियसुख सौन्दर्य का आनन्द नहीं होता और न उस जाति का ही होता है। इसी कारण सौन्दर्यवेदना के आनन्द में किसी भी प्रकार के भावसंवेग (इमोशन) के होने पर उसे भी एकान्त अवास्तव धर्म मानना पड़ेगा।[1]

सौन्दर्यानन्द की प्रयोजन-निरपेक्षता के सम्बन्ध में काण्ट से भी पूर्व टामस एक्वीना (Thomas aquinas) ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया था। मूसा मेन्देलसाँ (Moses mendelssohn) ने अपने ग्रंथ मोरँस्तन्दाँ (Morgenstunden) में कहा है कि हमारी आत्मा में ज्ञानवृत्ति तथा अभिलाषवृत्ति नामक दो वृतियाँ होती हैं। अभिलाषवृत्ति के साथ सुख-दुःखबोध जड़ित रहता है, किन्तु ज्ञानवृत्ति और अभिलाषवृत्ति इन दोनों की अन्तर्वर्त्तिनी एक वृत्ति और है जिसे अनुमोदनावृत्ति कहते हैं। इसी वृत्ति के द्वारा हम जब किसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं तो उसे देखने में कोई अभिलाषा या उसके उद्रेक सहित सुखबोध नहीं रहता। सुन्दर वस्तु के दर्शन के साथ स्वाभाविक रूप से ही एक शान्त आनन्द जुड़ा रहता है एवं उस आनन्द के साथ किसी प्रकार के लाभालाभ या, स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं होता।[2]

हचसन (Hutcheson) ने मेन्देलसाँ (Mendelssohn) के ग्रंथ के प्रकाशित होने के पूर्व यह मत अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक प्रकट किया था। उन्होंने कहा था कि किसी भी लाभ या हानि से निरपेक्ष रूप से किसी वस्तु को देखने मात्र से आनन्द उत्पन्न होता है और किसी वस्तु को देखने से दुःख उत्पन्न होता है। किसी भी

1. To say that the purity alike of colours and tones, or their variety and contrast seem to contribute to beauty, is by no means to imply that because in themselves a greeable, they therefore yield an addition to the delight in the form and are on par with it. (Page 68).
2. It is usual to distinguish in the soul the congnitive faculty from the faculty of desire and to include the feeling of pleasure and displeasure under the latter. It seems to me however that between knowing and desiring lies approving, the satisfaction of the soul, which is strictly speaking, removed from desire. We contemplate the beautiful in Nature and in art without the least motion of desire with pleasure and satisfaction. It apperas rather to be a particular mark of the beautiful, that it is comtemplated with quiet satisfaction, that it pleases, even though it be not in our possession and even though if never so far removed from the desire to put it to our use. (Leberweg, Hist. of Philosophy vol. ii, 528).

स्वार्थ-सिद्धि से सम्बन्ध न रखते हुए किसी भी वस्तु के दर्शनमात्र से उत्पन्न होनेवाला आनन्द ही सौन्दर्य का परिणाम होता है।[1] यहाँ तक की नेटेल्टन (Nettleton) ने भी सौन्दर्यानन्द को एकान्त निष्प्रयोजन तथा केवल विचार या आन्तर-दर्शन का आनन्द कहकर स्वीकार किया है।[2]

यद्यपि सौन्दर्यानन्द को एकान्त प्रयोजन-सम्पर्क-विहीन बताना काण्ट का कोई नवीन आविष्कार नहीं है, किन्तु उनके मत की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने सौन्दर्य को दर्शन से मुक्त करके अपना मत प्रस्तुत किया है और श्रेयबोध के समान सौन्दर्यबोध को भी प्रात्यक्षिक ज्ञान का पूर्ववर्ती एक आभ्यन्तरीण (ए प्रायॅरी) व्यापार बताया है। काण्ट की युक्ति का सारमर्म यह है कि जिस प्रकार सौंदर्यबोध की वेदना एकान्ततः बाह्यकारण-निरपेक्ष और व्यक्तिगत रुचि-निरपेक्ष होती है, उसी प्रकार वह एक ओर सर्वनिष्ठ और सर्वजन-वेद्य तथा दूसरी ओर सभी मनुष्यों के अन्तर में स्थित एक ही प्रकार के आन्तरिक कारण से उत्पन्न भी होती है। यह अन्तःकरण क्या है? काण्ट का कहना है कि यह विकल्पवृत्ति और बुद्धिवृत्ति का सामंजस्य है। सौंदर्यबोध या सौंदर्यवेदना इसी का फलीभूत व्यापार है। विकल्पवृत्ति के साथ बुद्धिवृत्ति का सामंजस्य किस प्रकार होता है, इसे हम मालूम नहीं कर पाते। हमें केवल उसका परिणाम आनन्द ही ज्ञानगोचर होता है, किन्तु इस आनन्द से उस आनन्द का क्या सम्बन्ध है, इसे हम नहीं समझ पाते। इसी कारण काण्ट ने कहा है कि दृश्यमान वस्तु का जो गुण हमारी इन्द्रिय की प्रीति

---

1. Many of our sensitive perceptions are pleasant and many painful immediately, and that without any knowledge of the cause of this pleasure or pain or how the objects excite or are the occassions of it, or without seeing to what further advantage or detriment, the use of such object might tend; nor would the most accurate knowledge of these things vary either the pleasure or pain of perception, however it might give a rational pleasure distinct from the sensation; or might raise a distinct joy, from a prospect of further advantage in the object or aversion from an apprehension of evil. (Inquiry Sec. I Sub. Sec. V).
2. The productions of Nature and art, when they came under our survey and contemplation do many of them excite a pleasant admiration. They are no sooner brought into our view but they effect us with pleasure directly and immediately without our reflecting on the reason they do so and without their being considered with relation to our selves; or as advantages in any other respect, even where there is no possession no enjoyment or reward but barely seeing and admiring. (A Treatise on Virtue and Happiness 3rd Ed. Page 112)-

या अप्रीति उत्पन्न करता है, उसके अतिरिक्त केवल दृश्यत्व या आकृति के सम्बन्ध में वस्तु का स्वरूप किस प्रकार हमारी बुद्धि में उपस्थित होता है, उस प्रक्रिया में सौन्दर्यबोध का कारण भी छिपा रहता है। इसी कारण सौंदर्यबोध का कारण एकान्त आभ्यन्तरीण (ए प्रायॅरी) है। आभ्यन्तरीण विशिष्ट व्यापार के संघटन में वस्तु की सुन्दरता प्रकट होती है और उसके परिणामस्वरूप आनंद उत्पन्न होता है। पहले आनन्द उत्पन्न हो और बाद में सुन्दर की उपस्थिति इस प्रकार का क्रम नहीं होता, बल्कि सुन्दर के बाद आनन्द आता है। मेरेडिथ (Meredith) ने इसी बात को समझाते हुए कहा है कि जो बाह्य धर्मों से विनिर्मुक्त केवल वस्तु के निजी स्वरूप में चित्त में अवस्थित होता है और जिसका बार-बार ध्यान आता है, उसके परिणामस्वरूप अनुभव को एक ओर हम जितना विकल्प तथा बुद्धिवृत्ति के सामंजस्य का परिणाम मानते हैं, दूसरी ओर उतना ही उस अनुभव के साथ मानस-वृत्ति के सम्बंध को आनन्द कहकर अनुभव करते हैं। यह आनन्द वस्तु के साथ युक्त होकर प्रकाशित होता है, इसी कारण हम वस्तु को सुन्दर कहते हैं।[1]

काण्ट ने अपने 'क्रिटिक ऑव प्योर रीज़न' ग्रंथ में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि हम अपने ज्ञान में जो कुछ प्राप्त करते हैं, उसकी सीमा ज्ञान तक ही है। यदि हम ज्ञान के बाहर उसकी सत्ता या असत्ता को मानें तो अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है। यही कारण है कि ज्ञानगत उपलब्धि की बहिर्सत्ता के सम्बंध में हम कुछ भी नहीं कह सकते, परन्तु इस ज्ञान में ही ऐसे बहुत-से लक्षण पाये जाते हैं जिनके द्वारा किसी-न-किसी रूप में अतीन्द्रिय सत्ता की सूचना मिलती है। इस अतीन्द्रिय सत्ता का जगत् ज्ञानगत सीमा-रेखा के बाहर है एवं इसी कारण उसका स्वरूप बन्धन-विहीन और स्वतंत्र होता है।[2] इसी के साथ-साथ काण्ट के

---

1. We have negatively an abstraction from everything but the form of the object and positively the contemplation of this form. This contemplation strengthens and reproduces itself and we have a sensation of a certain mental state, which sensation is at once referred, as effect to the harmony of imagination and under-standing, and being at once so referred becomes at once a feeling of pleasure—a sense of the bearing of the sensation upon the whole state of the mind. (Meredith's introductory Essay—The Beautiful—Page LXIII—to his translation of Kant's Critique of Aesthetic Judgment.)

2. Yet these ideas of reason find beyond the limits of experience to a supersensible world which is the world with which the concept of freedom is concerned. (Meredith's introductory Essay, Page XX).

मन में यह बात भी आई थी कि यद्यपि कितने ही नियंत्रणों के परिणामस्वरूप हमारे मन में ज्ञान नाना आकारों में प्रकट होता है, तथापि किसी एक विशेष व्यक्ति या अहं बुद्धि के साथ उसकी संगति न होने पर वह व्यक्त नहीं हो सकता। साथ ही उनका विचार था कि हम जिस अहंशक्ति का परिचय पाते हैं, वह सभी प्रकार से अनियंत्रित और निरपेक्ष इच्छा-व्यापार में होती है। यदि यह कार्य द्वारा अपने को चरितार्थ नहीं कर सकती तो इस इच्छा-व्यापार का कोई मूल्य नहीं रह जाता। यदि यह कार्य द्वारा चरितार्थ हो तो यह भी अनुमान किया जा सकता है कि बाह्य जगत् के साथ अहंशक्ति का ऐसा सामंजस्य है कि उसके बल पर बहिर्जगत में इच्छाशक्ति व्यापार सिद्धि पा सकता है।

यद्यपि काण्ट चाहते तो इतना ही कहकर विराम करते, किन्तु उनका विचार था कि ज्ञान और इच्छावृत्ति के अनुशीलन के द्वारा जो संभावित है उसका विचार और प्रयोग तो वह कर चुके हैं अब केवल आनन्दवृत्ति रह जाती है, जिसका विचार करना है। ज्ञानवृत्ति के साथ इच्छावृत्ति के योग को वह पहले ही समझा चुके थे और उनकी धारणा थी कि मन में इस प्रकार की एक विशेष क्षमता है जिसके द्वारा ज्ञान और इच्छावृत्ति में सामंजस्य उपस्थित हो सकता है। इस सामंजस्य को उपस्थित करनेवाली वृत्ति में एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा ज्ञान और इच्छावृत्ति दोनों के मध्य वर्तमान वैषम्य में भी आभ्यन्तरीण उपाय से एक सामंजस्य उपस्थित किया जा सकता है। उन्होंने आनन्दवृत्ति का विश्लेषण करके यह निश्चित किया कि बुद्धिवृत्ति के साथ विकल्प या अतीन्द्रियवृत्ति का सामंजस्य ही निरपेक्ष-आनन्द का कारण होता है। अपनी बुद्धिवृत्ति के द्वारा हम ज्ञान का अभाव-मात्र प्राप्त करते हैं। अपनी अतीन्द्रियवृत्ति के द्वारा हमारे मन में यह धारणा उत्पन्न होती है कि बहिर्जगत् के साथ हमारा कोई मूलगत ऐक्य है। इससे हमारे मन में यह विश्वास उत्पन्न होता है कि हमारे अन्तर्जगत् के सामंजस्य के अनुरूप बाह्य जगत् में भी एक सामंजस्य रहता है। किन्तु इनकी किसी भी वृत्ति के द्वारा हम बाह्य जगत् के साथ अपना सामंजस्य अनुभव नहीं कर सकते। अर्थात् ज्ञानवृत्ति, अतीन्द्रियसाद्दिक 'रीज़न' तथा इच्छा-व्यापार में आधारभूत विश्वास इन तीनों की उपलब्धियों में हम अपनी सौंदर्यवृत्ति के द्वारा ही सामंजस्य उपस्थित करते हैं। सौंदर्यवृत्ति का विचार करते हुए काण्ट ने इसे संश्लेषात्मक-वृत्ति (जजमेंट) के अन्तर्गत रखा है। संश्लेषात्मक (जजमेंट) कहने से धर्माधर्ममूलक ज्ञान का अर्थ ग्रहण किया जाता है। इसी कारण वह बुद्धिवृत्ति के अन्तर्गत आता है। उसके द्वारा बहुधा विभिन्नता को ऐक्यगत सामंजस्य के रूप

में ग्रहण किया जाता है। इसके प्रसार होने पर समस्त बहिर्जगत् का अपने मनोजगत् के साथ ऐक्य स्थापित करते हुए एक सामंजस्य के रूप में ग्रहण करना संभव हो सकता है, परन्तु यदि मनोजगत् में ही विच्छेद है तो बहिर्जगत् का सामंजस्य कैसे घटित हो सकता है ? इस कारण जब ऐसी वृत्ति का परिचय मिलता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय आत्मोपलब्धि तथा अतीन्द्रिय बहिर्जगत् के साथ ऐक्य-बोध होने पर दोनों का ही सामंजस्य उपस्थित हो जाता है तो इस सामंजस्य के परिचय के फलस्वरूप ही हमें आनन्द की उपलब्धि होती है। कैर्ड (Caird) ने अपने ग्रंथ "क्रिटिकल फिलासफी ऑव काण्ट" में इस सम्बंध में लिखा है कि काण्ट के विचार से ज्ञान तथा इच्छावृत्तियों के अतिरिक्त हममें एक अनुभूति (फीलिङ्ग) होती है। इस प्रकार हम जिसे ज्ञान से नहीं जान पाते या इच्छावृत्ति से जिसके सम्बंध में काम नहीं ले पाते उसकी अनुभूति (फीलिङ्ग) हो सकती है। इस अनुभूति के माध्यम से ही हमें दृश्य रूपों (फिनॉमिलन) और सत्य रूपों (रीयल) के बीच सम्बंध का ज्ञान होता है। इस चेतना को न तो दृश्य रूपों से सम्बंध रखनेवाला ज्ञान ही कहा जा सकता है, न सत्य के प्रति अन्तर्दृष्टि के रूप में ही इसका उल्लेख किया जा सकता है। यही सौंदर्य की अनुभूति है जो कला का माध्यम ग्रहण किया करती है।[१]

सौन्दर्य का स्वरूप समझाते हुए काण्ट ने उदात्तता या गांभीर्य (सब्लिमिटी) के संबंध में भी बहुत-सी बातें कही हैं। इनसे पूर्व बर्क ने अपने ग्रंथ फिलॉसॉफिकल इन्क्वायरी इन् टू द ओरिजिन ऑव आइडियाज ऑव द सब्लाइम एण्ड ब्यूटी-

---

1. In the aspects of things which they present to Understanding, we deal with them as phenomena ; in the aspects of things which they present to Reason, we deal with them as things in themselves ; in what other aspects can we deal with them? To the former of these questions, Kant answers that besides knowledge and will, there is in us a capacity of feeling : so the latter he answers that we can discover a third aspect of things, when we relate our knowledge of them as phenomena to our consciousness of them as things in themselves. This answer implies that we can feel what we can neither know nor will ; and that through this feeling, we have the conciousness of a relation between the phenomenal and the real, which yet is neither the knowledge we have of the former, nor the faith of reason which goes along with our thought of the latter. Now according to Kant, the feeling or consciousness which is thus possible, is the feeling or consciousness of the beautiful, which finds its expression in Art.

फुल' में यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि सुख और दुःख का परस्पर सापेक्ष रूप में ज्ञान नहीं होता। इन दोनों की स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष सत्ता है। उन्होंने यह भी कहा था कि रुचि (टेस्ट) के नाम से हमारी एक विशेष वृत्ति होती है। इसी के द्वारा हम किसी वस्तु के सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। हम समस्त विषयों को अपनी इन्द्रियों के द्वारा एक ही रूप में ग्रहण करते हैं। जो पदार्थ हमारी जीभ को अम्ल ज्ञात होता है, वह दूसरे की जीभ को भी वैसा ही जान पड़ता है। इसी प्रकार हमारी जीभ को मीठा लगने वाला पदार्थ दूसरे की जीभ को भी मीठा लगता है। किन्तु यह हो सकता है कि हमें एक पदार्थ जितना मीठा और भला लगता हो वह दूसरे को भी उतना ही मीठा या सुस्वादु न लगता हो। इसी प्रकार यद्यपि सुन्दर वस्तु को सभी सुन्दर ही मानते हैं, तथापि किसी की दृष्टि में वह कम और किसी की दृष्टि में अधिक सुन्दर हो सकती है। इसका एक ही कारण है। वह है हमारी रुचि जो भिन्न प्रकार के अभ्यास से भिन्न वस्तुओं की अभ्यस्त हो जाती है। शिक्षा और अभ्यास के फलस्वरूप मनुष्य की इन्द्रियों का स्वाभाविक बोध भी बदलता रहता है। अतएव परिमार्जित रुचि का मतलब यह नहीं निकाला जा सकता कि हम किसी सर्वथा नवीन रुचिशक्ति का परिचय दे रहे हैं। फिर भी ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता है, हममें विचार और तुलना करने की अधिकाधिक शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों हमारी इन्द्रिय की साधारण रुचि समाप्त होती जाती है और एक विशिष्ट रुचि जन्म ले लेती है [१]। उदाहरण के रूप में यों कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति ने किसी भी प्रकार की मूर्ति नहीं देखी है वह किसी भी मूर्ति को देखकर प्रसन्न हो सकता है, किन्तु जिसने अनेक मूर्तियाँ देखी हैं उसी की दृष्टि किसी मूर्ति के अनेकानेक दोषों पर पड़ सकती है। कहते हैं एक बार किसी मोची ने एक चित्रकार का चित्र देखा और उसमें एक दोष बता दिया। चित्रकार जूते को अंकित करने में भूल कर गया था, अतः मोची की दृष्टि तुरन्त उस दोष को पकड़ सकी। तात्पर्य यह कि रुचि (टेस्ट) के नाम से कोई एक अखण्ड शक्ति नहीं बताई जा सकती, फिर भी जब सूक्ष्म इन्द्रियबोध, कल्पना-शक्ति, विचार-शक्ति,

---

1. Taste is nothing more than that faculty or those faculties of the mind which are affected with or which form a judgment of the work of imagination and the elegant art.

2. The principle of judgment depends upon experience and observation and not upon the strength or weakness of a natural faculty and it is from this difference in knowledge that we commonly call a difference in taste proceeds.

तुलना करने की शक्ति और अभिज्ञता की विविधता एकसाथ संयुक्त होकर कार्य में प्रवृत्त हो जाती हैं तभी हम रुचि की पृथकता को समझ पाते हैं। यों यह रुचि भी ज्ञान और अभिज्ञता के परिशोधन के साथ-साथ मार्जित होती जाती है। बर्क ने यह भी कहा है कि आत्मरक्षा और सन्तति-रक्षा इन दोनों को केन्द्र मानकर हममें अनेक भावावेग उत्पन्न होते हैं। स्त्री जाति को लक्ष्य करके उत्पन्न होनेवाले भावावेग को 'काम' कह दिया जाता है। फिर भी यह सर्वथा सिद्ध बात है कि काम सर्वप्राणिसुलभ होता है और किसी भी शारीरिक विशेष धर्म को देखने से उद्रिक्त हो जाता है। सही बात तो यह होगी कि हम कहें कि किसी स्त्री के समस्त शारीरिक गुण देखने पर यदि हमारा चित्त उसकी ओर आकर्षित होता है तो हमें मानना चाहिए कि उसमें सौन्दर्य है। दूसरी जगहों पर तो हम सौन्दर्य शब्द का केवल गौण या औपचारिक प्रयोग करते हैं। इस सौन्दर्य को देखकर हमारे चित्त में जो आकर्षण की अनुभूति उत्पन्न होती है वही प्रेम कहलाती है और हम उसके वशीभूत होकर उस वस्तु-विशेष को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। इस प्राप्ति चेष्टा का नाम ही है 'काम'[२]। अद्भुत या गांभीर्य के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार बर्क का विचार था कि जिस वस्तु से हमारे चित्त में भय उत्पन्न होता है, उसी से रस भी उत्पन्न होता है। यह रस अत्यन्त घनीभूत तथा दुःख-बहुल रूप में उपस्थित होता है। उनका विचार था कि अधिक-से-अधिक भयोत्पादक, अधिक-से-अधिक कष्टकर और आतंकपूर्ण वस्तु से हमारे भाव अत्यधिक उत्तेजित हो जाते हैं और इस प्रकार यही भयावह और आतंकपूर्ण वस्तु गांभीर्य (सब्लिमिटी) का कारण बन जाती है। इसका कारण यही है कि दुःख सुख से अधिक प्रभावशाली होता है। जैसे पहली-पहली बार समुद्र देखने से हमारा मन एकबारगी दमित हो जाता है और फिर धीरे-धीरे उज्जीवित होता है उसी प्रकार अद्भुत् रस में भी अवसाद और पुनरुज्जीवन का अंगांगिभाव पाया जाता है।

---

1. By beauty I mean that quality or those qualities in body by which they cause love or some passion similar to it. Beauty in this sense must be distinguished from the many figurative uses of the word and to be limited to the merely sensible quality of things. Love that is excited by beauty is a subjective satisfaction arislng in the mind upon contemplating anything beautiful and is different from desire or lust which is an energy of the mind that hurries us on to the possession of certain objects not because they are beautiful but for other reasons.

2. Whatever is fitted in any sort to excite the ideas of pain and danger, that is to say, whatever is in any sort terrible, or is conversant about terrible

बर्क का विचार था कि सौन्दर्यबोध के समय होनेवाले सामंजस्यबोध के समान अद्भुत रस या गांभीर्य की उपलब्धि में इसका बोध नहीं होता, अपितु वह व्याहत हो जाता है ! मानो विषय को ग्रहण न कर सकने के कारण हमारी आत्मा स्तम्भित हो जाती है। हम सौन्दर्य का जितने सहज रूप से बाह्यवस्तु पर आरोप कर सकते हैं, उसी तरह इस आत्मस्तम्भनात्मक गांभीर्य को ग्रहण नहीं कर सकते। हम इसको मानो अपना आत्मधर्म मानकर ही इसका अनुभव करते हैं। बर्क ने इस रस को जितना भयंकर कहा है उतना काण्ट ने नहीं माना। काण्ट के मत में भय-मिश्रित प्रशंसा के साथ इस रस में एक गंभीरता या स्तम्भनात्मक प्रतीति प्रस्फुट हो उठती है। किन्तु इसकी उपलब्धि के स्वरूप का वर्णन करते हुए काण्ट ने सौन्दर्योपलब्धि के स्वरूप का अनुसरण करते हुए कहा है कि गांभीर्य रस की अनुभूति ठीक सौन्दर्यबोध के समान बहिर्वस्तु से ही उत्पन्न होती है एवं उसके मूल में किसी भी प्रकार का महिमा-चिंतन या आश्चर्यानुभूति की भावना नहीं होती। यह रस प्रधानतः प्रकृति से ही उत्पन्न हो सकता है। प्रकृति के महत्त्व पर दृष्टिपात करने पर एक ओर हम जितना उसकी विशालता द्वारा अभिभूत होते हैं, दूसरी ओर उतनी ही उसकी विशालशक्ति के निकट हम अपनी क्षुद्रता और असहायता की उपलब्धि करते हैं। अपने अन्तर में भी हम अपने श्रेयबोध का जो अधिकार अनुभव करते हैं, वह भी इस बहिर्जगत के अति गहन अनुभव के समान या उसकी अपेक्षा भी गहनतर है। इस गांभीर्यानुभूति की आरोप्य-विषय के रूप में कोई बहिर्वस्तु नहीं होती। यह एकान्ततः आभ्यन्तरीण अनुभव है। यद्यपि काण्ट ने सौन्दर्य एवं गांभीर्य को प्रथम स्थान दिया है, तथापि दोनों ही अध्यात्म या आभ्यन्तरीण उपलब्धि हैं अतः वह उन्हें एकान्वय में उपस्थित कर सके हैं।

काण्ट के पूर्ववर्तियों में लेसिङ्ग (Lessing) और विंकलमैन (Winckelmann) का नामविशेष उल्लेखनीय है। विंकलमैन लेसिंग से १२ वर्ष बड़े थे एवं दोनों ने ही स्वतंत्र रूप से निजी गवेषणा की थी। किन्तु इनमें से किसी ने भी काण्ट के समान सौन्दर्यतत्त्व का विश्लेषण करने की चेष्टा नहीं की। लेसिंग और विंकलमैन ने प्रधानतः विशिष्ट शिल्प कलाओं का स्वरूप ध्यान में रखकर

objects, or operates in a manner analogous to terrors is a source of the sublime ; that is, it is productive of the strongest emotion, becaust the ideas of pain are much more powerful than those of pleasure. But as pain is stronger in its operation than pleasure, so death is in general a much more affecting idea than pain.

ही विचार किया है। लेसिंग का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय यही था कि कविता के द्वारा छवि का काम नहीं निभता, एवं छवि के द्वारा भी कोई बड़ा मनोभाव प्रकाशित नहीं हो पाता। इसी के साथ लेसिंग ने यह भी कहा है कि प्रकाशन की दृष्टि से काव्य छवि की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। दूसरी ओर विंकलमैन काव्य की अपेक्षा छवि की श्रेष्ठता दिखाने में व्यस्त रहे। दोनों ने ही इस बात का विचार किया था कि सौन्दर्यमात्र से किसी भी स्वरूप का आत्मप्रकाश होता है एवं इस आत्मप्रकाश के तारतम्य पर ही सौंदर्य का महत्त्व या उसका लघुत्व निर्भर है। कला का उद्देश्य निष्प्रयोजन आनन्द होता है। राष्ट्राधिपति का कर्त्तव्य है कि वह लोक के लिए उपभोग्य आनन्द की जाति का निर्देश कर दे।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि प्राचीन विद्वानों का नियम था कि इस सौंदर्य को व्याहत करके वे कुछ भी प्रकाशित नहीं करना चाहते थे। इसी कारण उनके द्वारा गढ़ी हुई मूर्त्ति में भयंकर क्रोध आदि अंकित करते हुए भी असुन्दर की सृष्टि करने की तनिक भी चेष्टा नहीं की गई है। इस कारण लेसिंग ने कहा है कि लाकून (Laokoon) की प्राप्त मूर्ति में किसी असाधारण यंत्रणा को व्यक्त करने की चेष्टा नहीं की गई है। इसका कारण यह है कि यूनानी समाज में जितना एक ओर इस प्रकार के यंत्रणा-व्यजंक चित्रों का प्रदर्शन नियम के विरुद्ध समझा जाता था, उतना ही उसे दूसरी ओर सौन्दर्य-विघातक भी माना जाता था। किन्तु 'लाकून' के परवर्ती समालोचकों ने लेसिंग की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया है और प्रायः सभी ने एक स्वर से कहा है कि उससे दैहिक यंत्रणा अत्यधिक स्पष्ट झलकती है। यह चित्र वस्तुतः रोमी शिल्प का नमूना है, किसी यूनानी शिल्पी का रचना-कौशल नहीं। लेसिंग ने सौन्दर्य शब्द से केवल जड़-सौन्दर्य का ही अर्थ ग्रहण किया है और उन्होंने चित्र तथा कविता की भी इसी दृष्टि से आलोचना की है कि उनसे जड़-सौन्दर्य कहाँ तक व्यक्त हो पाता है। 'लाकून' में उन्होंने कहा है कि यद्यपि कविता में बाह्य-सौन्दर्य उसी रूप में व्यक्त नहीं हो पाता जिस प्रकार वह चित्र में हो सकता है, तथापि यह कहने में कोई हानि नहीं है कि कवि उसके द्वारा हमारे चित्त पर पड़े हुए प्रभाव का वर्णन करके बाह्य-सौन्दर्य का-रूप हमारे सम्मुख रख ही सकता है। इलियड (Illiad) महाकाव्य में हेलेन को देखकर वृद्ध ट्रायवासी बोले कि ऐसे सौन्दर्य के कारण इतना भयंकर युद्ध

---

1. The aim of arts is pleasure which is not indispensable ; and it may, therefore, depend upon the law-given to decide and what degree of every kind he would allow. (Laokoon, Page 14.)

करना अथवा ऐसा अश्रुपात करना तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है। केवल इतनी बात कहलाकर कवि ने हेलेन के आकर्षण का जो अंकन कर दिया है उसी आकर्षण-वर्णन के सहारे उसके सौन्दर्य का पूरा वर्णन हो गया है। यद्यपि चित्र में गतिशीलता नहीं दिखाई जा सकती, तथापि किसी सुन्दरी की पदगति से उसका सौदर्न्य अवश्य प्रकट हो जाता है। इस विषय का वर्णन तो केवल काव्य ही कर सकता है। ओविड (Ovid) की अलसिनी (Alcini) के वर्णन में यही कौशल दीख पड़ता है। [1]

उक्त बातों से यह विदित होता है कि संभवतः बर्क के समान लेसिंग ने भी सौन्दर्य का अर्थ 'मनुष्य-सौन्दर्य' ही ग्रहण किया है। लेसिंग ने सुन्दर के समान ही स्वतन्त्र रूप से असुन्दर या कुत्सित को भी स्वीकार किया है। जिस प्रकार अंगों की संगति के बीच से सुन्दर वस्तु की सुन्दरता झलकती है, उसी प्रकार कुत्सित अंगों की संगति में भी सौन्दर्य झलकता है। सामान्य असंगति मात्र से सुन्दर को कुत्सित नहीं बनाया जा सकता। अतः लेसिंग ने कुत्सित का लक्षण न देकर उसे केवल सुन्दर का विरोधी या विलोम बताया है। [2] उनका विचार है कि साधारणतः काव्य में कुत्सित को स्थान नहीं है, किन्तु भयानक, बीभत्स या हास्य रस की अभि-व्यक्ति के कारण उसका भी काव्य में प्रवेश हो ही जाता है। हाँ, चित्र या भास्कर्य में उसे निश्चय ही कोई स्थान नहीं दिया जा सकता, वहाँ कुत्सित कुत्सित ही बना

---

1. Her eyes make an impression upon us not because they are black and fiery, but because they look gracefully around her, and move slowly because love hovers them, and empties his whole quiver from them. Her mouth enraptures, not because two rows of choice pearls are enclosed by the native vermilion of her lips, but because here is formed that lovely smile which in itself already opens a paradise upon earth ; because from it proceeds the sound of those friendly words by which every rude heart is softened. Her bosom charms less because milk and ivory and apples are called up by its whiteness and delicate shape, than because we see it softly swell and fall, as the wave upon the extreme edge of the shore, when the zephyr playfully contends with the ocean'—Laokoon, Page 125-26.

2. A single unbecoming part may disturb the harmonious operation of many in the devotion of beauty without the object necessarily becoming ugly. Even ugliness requires several unbecoming parts all of which we must be able to take at the same view before we experience sensations the opposite of those which beauty produces, (Laokoon XXIII).

रहता है अपने-आपको रसान्तर में परिणत नहीं कर सकता। परन्तु यह सब कहने पर भी लेसिंग ने सुन्दर-असुन्दर या सुन्दर और कुत्सित में कोई भेद नहीं बताया है। तारतम्य-भेद से सुन्दर भी कुत्सित के स्थान पर अधिकार कर सकता है कि नहीं, इस सम्बन्ध में भी उन्होंने अपने विचार व्यक्त नहीं किये हैं।

हमने पहले ही बताया है कि सौन्दर्य का विचार करते हुए लेसिंग ने मानव सौन्दर्य का ही विचार किया है। संभव है उन्होंने इसी कारण परिस्फूर्ति (एक्प्रेशन) और सत्याभिव्यक्ति (ट्रुथ) दोनों को ही प्रधान रूप से सौन्दर्य से अलग स्थान दिया है। इन दोनों को सौन्दर्य-क्षेत्र से बाहर रखने के कारण लेसिंग किसी भी रूप में सौन्दर्य के स्वरूप का निरूपण न कर सके। सौन्दर्य की सृष्टि वस्तुतः एक परिस्फूर्ति पर निर्भर करती है। यही कारण है कि किसी गंभीर वेदना या भावसंवेग के न रहने पर कोई भी शिल्पी या चित्रकार सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकता। किन्तु लेसिंग ने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया है। विंकलमैन की 'कला का इतिहास' (हिस्ट्री ऑव आर्ट) पुस्तक प्रकाशित होने के बाद लेसिंग ने अपने इस मत को थोड़ा बदल दिया और इसी कारण उन्होंने 'लाकून' के द्वितीय भाग में कहा है कि भाव की परिस्फूर्ति यदि सौन्दर्य को व्याहत न करे तो उस रूप की परिस्फूर्ति में भी दोष नहीं रहता। विंकलमैन का अनुसरण करते हुए उन्होंने कहा कि प्रकृति के दृश्य आँकने में कोई चतुराई नहीं होती। जड़ जगत् या मनुष्येतर प्राणियों में ऐसा कोई भी आदर्श संस्थान नहीं दीख पड़ता जिसके वर्णन करने या अंकित करने से सौन्दर्य की सृष्टि की जा सके। आश्चर्य तो हमें इस बात पर होना चाहिए कि बिना परिस्फूर्ति के मनुष्य-शरीर की आदर्श अभिव्यक्ति कैसे संभव है। पता नहीं कैसे लेसिंग की यह धारणा बन गई थी कि यद्यपि आन्तरिक भाव ही मनुष्य का प्राणप्रद-धर्म है, किन्तु बिना उसे प्रकट किये केवल उसके अंग-प्रत्यंग का वर्णन या चित्रण कर देने से ही उसका आदर्श रूप उपस्थित किया जा सकता है। लेसिंग जड़-संस्थान के विशेष आदर्श रूप को ही सौन्दर्य मानते रहे।

विंकलमैन—१७१७ से १७६८—ने लेसिंग और बर्क के समान मनुष्य के शरीर-संस्थान के सौन्दर्य को ही प्रधान स्थान दिया है, किन्तु लेसिंग से उनका भेद वहाँ दिखाई देता है जहाँ उन्होंने मनुष्य के द्वारा किये गये प्रकृति के अनुकरण का भी सौन्दर्य के क्षेत्र में अधिकार स्वीकार कर लिया है। आश्चर्य है तो इसी बात पर कि लेसिंग के साथ उन्होंने भी भावपरिस्फूर्ति को सौन्दर्य का विरोधी बताया है। होगार्थ (Hogarth) के समान ही विंकलमैन ने भी अवयव-संस्थान की

विचित्रता में सुन्दरता मानी है। आकार और रेखा के परस्पर सामंजस्य में ही सौन्दर्य होता है। किसी सुन्दर देह का सौन्दर्य उसकी रेखाओं की विचित्र बंकिमता पर ही निर्भर करता है। भावपरिस्फूर्ति को छवि में उतारते हुए मनुष्य की आत्मा के धर्म को बाह्य रूप में अनुकृत करके मूर्तित करना पड़ता है। यही कारण है कि उसके द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि नहीं होती। सौन्दर्य-मात्र जड़ देह के विशिष्ट सामंजस्य का परिणाम होता है। उसमें आत्मा के विविध भावावेगों के प्रसार के कारण देह-विकार उत्पन्न हुआ करता है। इस देह-विकार से सौन्दर्य नष्ट ही होता है। अतएव भावपरिस्फूर्ति सौन्दर्य की विरोधी होती है। वह सौन्दर्योपिघातक है।[१] फिर भी चाहे विंकलमैन इन दोनों में तनिक भी सम्बन्ध स्वीकार करें या न करें इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि उन्होंने विशेष भावपरिस्फूर्ति मूर्तियों को ही महत्त्व दिया है। ऐसी मूर्तियों को ही उन्होंने श्रेष्ठ समझा है। वास्तविक बात तो यही है कि कोई भी भावावेग-विहीन मूर्ति यथार्थ सौन्दर्य को प्रकाशित नहीं कर सकती। विंकलमैन की धारणा थी कि सुन्दर मूर्ति अनिवार्यतः विशेषत्व-वर्जित होती है। अतएव उन्होंने मन की परिकल्पना अथवा भाव मात्र को रूप देनेवाली मूर्ति को कलाकृति स्वीकार नहीं किया है। उनका विचार था कि यथार्थ आदर्श सौन्दर्य अंकित करने के लिए हमें तिलोत्तमा की निर्माणप्रणाली से काम लेना पड़ेगा। अभिप्राय यह कि आदर्श मनुष्य को अंकित करने के लिए अनेकानेक व्यक्तियों में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य को एकत्र करके ही सुन्दर मूर्ति गढ़ी जा सकती है।[२]

---

1. Expression is detrimental to beauty. The two are opposing qualities. Beauty is in the first instance the beauty of pure form, which appears to mean the beauty of shape as exhibiting unity in variety, emphasis being laid on the variety, as in Hogarth. "The forms of a beautiful body are determined by lines which are constantly changing their centre, and consequently never form part of a circle, but are always ellipticle in character and share this quality with the contour of Greek vases." Expression in art, on the other hand, is the imitation of the acting and suffering condition of our soul and body, of passions as well as of actions ; in the widest sense it includes our action itself, in a narrower sense, merely the play of feature and gesture which accompanies the action. It is hostile to beauty, because it changes the bodily form in which beauty resides, and the greater this change is, the more detrimental is expression to beauty. (Bosanquet's History of Aesthetic, P. P. 248-249))

2. The term "ideal" always implies in Winckelmann the exercise of edu-

बर्क, लेसिंग, विंकलमैन, वुल्फ, बॉमगार्टन प्रभृति के समकालीन वातावरण में काण्ट उत्पन्न हुआ था। किन्तु काण्ट की अन्तर्दृष्टि के समान गंभीरता प्राचीन, मध्य या नवोत्थान यूनान-युग अथवा समसामयिक या किंचित् पूर्ववर्ती लेखकों में से किसी में भी नहीं पाई जाती। काण्ट के मत का सार यह है कि यदि हमारा अन्तर्जगत् किसी बहिर्वस्तु में अन्तर्जगत् के नियमों का साम्य पाता है, तो उस वस्तु का अपनी अनुभूतिधारा के साथ एकान्वय स्थापित करके उसका परिचय प्राप्त करता है। इस परिचय का आनन्द ही सौन्दर्य का आनन्द होता है। किसी को देखकर उसे सुन्दर कहने पर यह समझा जाता है कि उस वस्तु को ग्रहण कर लेने के समय या उसे ग्रहण करते हुए हमारा अन्तर्लोक जिस वस्तु की अज्ञात रूप से खोज कर रहा था, नूतन अनुभूति के साथ जिस भाव में अपने को मिलाना चाहता था, उसे वह प्राप्त कर लेता है। काण्ट ने यह बात मान ली है कि जो वस्तु सुन्दर है वह सभी के लिए सुन्दर होती है। इन्द्रियधर्म के सम्बन्ध में मतभेद होने से ही सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी मतभेद हो जाता है। उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया है कि इन्द्रियज-बोध में भला-बुरा लगने के सम्बन्ध में ही मतभेद हुआ करता है। दूसरी ओर बर्क ने कहा है कि सभी व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय के विषय को एक रूप में ही ग्रहण करते हैं। तुम जिसे नीला देखते हो मैं भी उसे नीला देखता हूँ। किसी वस्तु को सुन्दर कहते हुए केवल इन्द्रियबोध के द्वारा हम अपना मत प्रकाशित नहीं करते, अपितु उसके साथ अपनी युक्ति, ज्ञान और बहु-दर्शिता आदि का भी व्यवहार करते हैं। यही कारण है कि सौन्दर्य के सम्बन्ध में इतना मतभेद है। हमारी सबकी बुद्धि न तो एक-सी है, न एकजातीय और सम-परिमाण की ही है। काण्ट सौन्दर्यबोध को प्रत्यक्ष और परोक्ष से नितांत बहिर्भूत मानते थे। यह वह भी मानते थे कि सभी मनुष्यों में चलने वाली अन्तर्लोक की क्रिया भी मनुष्य-सम्बन्ध से एक ही प्रकार की होती है और बहिर्वस्तु के साथ अन्तर्लोक का सामंजस्य भी एक ही प्रकार का होता है। इस कारण उनकी धारणा थी कि अन्तर्लोक के साथ बहिर्लोक के परिचय से व्यक्त होनेवाला सौंदर्यानन्द एक

---

cated perception upon experience, his doctrine being based on the ancient notion that supreme beauty could only be attained by combining the partial beauties of nature. He knows that 'ideal' forms, i. e. forms modified by the observer's mental activity, need not be beautiful; and he thinks that Guido's 'ideal' archangel, portrayed according to Artist's account, after a mental image superior to experience, is much less beautiful than persons whom he has seen in reality and betrays defective observation of nature. (Ibid P. 250).

रूप का होता है और सब व्यक्तियों में उसका एक-सा प्रत्यय भी होता है। इसी कारण उन्होंने सौन्दर्य के सम्बंध में मतभेद की गुंजाइश नहीं मानी है। वस्तुतः काण्टकृत सौन्दर्य का विवरण या उसका लक्षण एकान्ततः पारिभाषिक है। वह सौन्दर्य आकार-विहीन होता है। वस्तु के एक अज्ञेय या दुर्ज्ञेय रूप के साथ वस्तु-सत्ता रूप से अन्तर्लोक का परिचय न केवल निरपेक्ष ही होता है और न निरूप ही। साधारणतः 'सौन्दर्य' कहने से हमें मूर्त (कांक्रीट) का ही ज्ञान होता है। उसमें इन्द्रियज धर्म तथा बुद्धि-विवेचन के धर्म का पर्याप्त प्राचुर्य होता है। जिसे हम सुन्दर कहते हैं, उसमें यह मूर्त्त वस्तु और उसका अवयव-सन्निवेश बहुत अधिक महत्त्व रखते हैं। इसी कारण होगार्थ आदि चित्रकारों ने सौन्दर्य के स्वरूप का निरूपण करते हुए रेखा और वर्ण-सन्निवेश के माध्यम से उसे समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने कहा है कि उपयोगिता, विचित्रता, समानता, परिमाण, सारल्य या सांकर्य आदि नाना धर्मों में समन्वय और पारस्परिक नियमन आने पर ही इनके समवेत प्रभाव से सौन्दर्य की सृष्टि होती है। अंगों का अंगी के रूप-आकार को प्रकट और सुव्यक्त करने के लिए किस रूप में विन्यास किया जाय, कैसे विभिन्नता के बीच से एक नवीन अंगी का बोध करा दिया जाय, कलाकार को इसी बात पर मुख्यतः ध्यान देना पड़ता है। फूल, पत्ती और पौदों या तितली के वैचित्र्यपूर्ण रंगीन परों का उपयोग मुख्यतः इसी बात में है कि वह दृष्टि को सुखद और चित्त के लिए आह्लादकर सिद्ध हो।[1]

इसके विपरीत रस्किन आदि का कथन है कि जब अनेक बाहरी रूपों और रेखाओं के योग से हमारे हृदय में भगवान् के नाना रूप व्यक्त होने लगते हैं और इन नाना रूपों और रेखाओं की इस सम्मन्वित दृष्टि के उद्घाटन करने में उपयोगिता का पता चला करता है, तभी सौन्दर्य की सृष्टि होती है। जगत् में ही भगवान् का परिचय पाने पर सौन्दर्य का सृजन होता है। यह आत्मपरिचय जितना ही सुव्यक्त होगा सौन्दर्य-रचना भी उतनी ही सुघर होगी। बर्क आदि ने कहा है कि जिस किसी वस्तु से हमारे भावावेग जितने ही अधिकाधिक उद्बुद्ध होते हैं,

1. Hogarth thinks that fitness, variety, uniformity, simplicity, intricacy and quantity co-operate in the production of beauty mutually correcting and restraining each other occasionally. Fitness of the parts to the design for which every individual thing is formed, either by art or nature is first to be considered as it is of the greatest consequence to the beauty of the whole. The shapes and columns of plants, flowers and leaves, the paintings in butterflies' wings etc. seem of little other intended use than that of entertaining the eyes with the pleasure of variety.

वह वस्तु हमें उतनी ही अधिक सुन्दर प्रतीत होती है। इस प्रकार विचार करें तो स्त्री का शरीर ही हममें सर्वाधिक भावावेग उत्पन्न कर सकता या करता है, अतएव हम लोग उसे ही 'सुन्दर' कहा करते हैं। यद्यपि काण्ट के अतिरिक्त किसी अन्य विचारक ने सौन्दर्य का किसी दार्शनिक मत से सम्बन्ध नहीं जोड़ा है, किन्तु उनका प्रधान दोष यह जान पड़ता है कि उन्होंने इस ज्ञानलब्ध मूर्त्त रूप का पूर्णतया वर्जन किया है। फल यह हुआ कि यद्यपि काण्ट ने सबसे पहले तत्त्वावलोचन की दिशा में सौन्दर्य का विचार किया था और पहली बार आभ्यन्तर के साथ बाह्य का समन्वय उपस्थित करके निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, किन्तु फिर भी वह सौन्दर्य का पूर्ण परिचय देने में असमर्थ ही बने रह गये। सारांश यह है कि यद्यपि पूर्वोक्त अनेक लेखकों ने सौन्दर्य का लक्षण देने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनके विचारों में स्पष्टता नहीं है। उन्होंने प्रायः सौन्दर्य के बाह्य रूप का ही विश्लेषण करके काम चला लिया है। उसके अन्तस्तत्त्व के सम्बन्ध में वे लोग विचार व्यक्त नहीं कर सके हैं। उनकी दृष्टि एकान्त एकदेशीय ही बनी रही और वे उसे व्यापक रूप में ग्रहण न कर सके।

उपसंहार

अलग से प्रकाशित 'भारतीय चित्रकला-पद्धति' (दासगुप्त एण्ड कं०, कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता) नामक ग्रंथ में भारतीय शिल्प-पद्धति और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सौन्दर्य-तत्त्व का विवेचन किया गया है। केवल शिल्प ही सौन्दर्यानुभूति का आधार नहीं है। बाह्य जगत्, तरु, गुल्म, लता आदि, तुषारकिरीटी अभ्रभेदी गिरिशृंग, सानुवाहिनी कलकलनादिनी निर्झरिणी, विस्तृत शस्यश्यामला भूमि, प्रवाहित नदी, प्रभातकालीन पूर्व-गगन की अरुणिमा, सांध्य-गगन का शोण उल्लास, पशु-पक्षी, कीट-पतंग के शरीरावयव और नर-नारी के मुखमंडल या देह पर दमकता लावण्य आदि में यदि हम सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर पाते तो सौन्दर्य की सृष्टि ही असंभव हो जाती। सच तो यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के मनोयोग के बिना सौन्दर्य की उपलब्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार विषय का ज्ञान भी नहीं हो सकता। फिर भी सौन्दर्य को केवल चित्त का धर्म नहीं कह सकते। वस्तुतः सुन्दर वस्तु में कोई ऐसी अन्तर्निहित शक्ति होती है जिसके कारण उस वस्तु-विशेष से हमारे अन्तर का घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है और हम उसे सुन्दर कहने लगते हैं। किसी-किसी विचारक ने बताया है कि बाह्यजगत् के सम्बन्ध में साधारण व्यक्ति और एक वैज्ञानिक के दृष्टिकोण में अन्तर होता है। साधारण व्यक्ति उस वस्तु को विशिष्ट देश-काल आदि से सम्बन्धित रूप में ही देख पाता है, किन्तु वैज्ञानिक जड़ वस्तु के विशेष-विशेष धर्मों को देश-काल आदि से वियुक्त करके देखता है। इसी प्रकार एक शिल्पी बहिर्जगत् को अपने प्रतिभा-बल से नवीन रूप देकर उसे नवीन रस से अभिषिक्त करके देखता है। उसकी वैदिक दृष्टि और उसके शिल्पाभ्यास के प्रभाव से प्राकृत रूप भी अप्राकृत रूप धारण कर लेता है। यही कारण है कि जैसे ही हम सौन्दर्य-क्षेत्र की चर्चा करते हैं उससे तुरन्त शिल्प का अर्थ ग्रहण करने लगते हैं। शिल्प-कला के क्षेत्र में ही जगत् का वास्तविक दर्शन किया जा सकता है। किन्तु हम इस मत से सहमत नहीं हैं। हम यह तो स्वीकार करते हैं कि अधिकतर शिल्पी बहिर्जगत् से लिये गये उपादानों के द्वारा ऐसी सृष्टि रचता है जो बहिर्जगत् से पूर्णतया भिन्न होती है। वैसा सौन्दर्य प्राकृत जगत् में नहीं पाया जाता, बल्कि यह कहना अधिक

उचित होगा कि प्राकृत जगत् के सौन्दर्य को शिल्पी और भी मधुरतर बना देता है। उदाहरणतः, यदि शरपतन-भय से भागते मृग की भीत किन्तु दृढ़ गतिभंगी को देखकर मुग्ध होने वाले व्यक्ति को उस समय कालिदास का श्लोक 'ग्रीवाभंगाभिरामम्—'[1] स्मरण आ जाय तो कालिदास की इन पंक्तियों की चारुता के कारण दृश्यमान छवि की मधुरता बढ़ेगी ही। इसी कारण यह स्वीकार किया जाता है कि कवि और चित्रकार हमें प्रकृति की मनोरमता देखने के लिए शिक्षित करते और अभ्यस्त बनाते हैं, किन्तु कवि या शिल्पी प्रकृति में जिस सुषमा का दर्शन करता है प्रधानतः उसी को अपने चिन्तन के द्वारा एक रूप प्रदान कर देता है। साधारण मनुष्य और कवि या चित्रकार की दृष्टि में भिन्नता होती है। संभवतः इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति हर समय प्रकृति का सौन्दर्य ग्रहण नहीं कर पाता। साधारण मनुष्य किसी चित्र की सुन्दरता को उपयुक्त और यथार्थ प्रतिष्ठा देना नहीं जानता। चित्र-रचना के समय चित्रकार के अन्तर में एक प्रकार की ध्यानक्रिया चलती रहती है और उसी के साथ उसे सौन्दर्यबोध भी होता रहता है, किन्तु प्रकृति दर्शन के समय इन बातों के लिए अवसर नहीं रहता। फिर भी प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध होनेवाले कवियों तथा चित्रकारों की संख्या बहुत अधिक है। यथार्थ द्रष्टा के चित्त में प्रकृति के दर्शन के अतिरिक्त अन्य समय में भी एक प्रकार की ध्यानावस्था उपस्थित रहती है। इसी तन्मयता के कारण जैसे प्रकृति के साथ कवि या चित्रकार के मन की नाना प्रकार की रेखाओं और वर्णों का सामंजस्य उपस्थित होता है वैसे ही प्रकृति के नाना व्यापारों के साथ मनुष्य के नाना व्यापारों का सादृश्य और सामंजस्य घटित होता है। वह जिस प्रकार एक ओर प्रकृति के सौन्दर्य का निरीक्षण करता है, उसी प्रकार दूसरी ओर उसके अनजाने ही प्रकृति का अनेक प्रकार का सामंजस्य उसके हृदय में अंकित हो जाता है। इस प्रकार उसके हृदय में सौन्दर्यसृष्टि का उपादान संग्रह होता रहता है। कवि और चित्रकार प्रकृति से उपादान ग्रहण करके अपनी सृष्टि के द्वारा सौन्दर्य की प्रतिष्ठा बढ़ा देता है। इसी कारण हमारे यहाँ अलंकारशास्त्र में कवि को 'प्रजापति' कहा गया है। वह विधाता की सृष्टि की अपेक्षा अधिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाली सृष्टि रचता है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के द्वितीय अंक में

१.—ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ अ० शा० १। ७

शकुन्तला के सम्बन्ध में कहा है कि उसे देखने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि के ध्यान में आये हुए रूप में प्राण डाल दिये गये हैं। इसीलिए मानो वह विधाता की रचना नहीं रह गई है। विधाता की रचना में इतना सौन्दर्य संभव भी कहाँ है! केवल कवि के चित्त में ही इस प्रकार की सृष्टि हो सकती है। मानो विधाता के रूप की कोई सीमा है, किन्तु कवि के चित्त में ध्यान के द्वारा ग्रहण की गई सुन्दरता असीम है :

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगात्
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति या मे
धातूविभूत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥ २।६

प्राचीन यूनानी लोग छन्द-सामंजस्य और अवयव-संगठन-जनित सुषमा को ही सुन्दर मानते थे।[1] आधुनिक काल में हम लोग भाव-व्यंजकता, इंगित या कथ्य की सजीवता तथा जीवनधर्म की सब प्रकार की अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हैं।[2] इन दोनो लक्षणों को एक साथ रखकर देखने से पता लगता है कि सुन्दर में जिस प्रकार एक ओर अवयव आदि का सामंजस्य रहता है, उसी प्रकार दूसरी ओर उस सामंजस्य में हृदयगत भावों के साथ अन्तःस्थित भाव तथा रसादि की बहिःस्फूर्ति भी प्रकाशित होगी। यूनानियों ने स्वाभाविक अवयव-सामंजस्य की अभिव्यक्ति में ही सौन्दर्य का दर्शन किया है। उसके आगे उनकी दृष्टि नहीं गई है, किन्तु धीरे-धीरे मानवजागरण के साथ-साथ सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी अनेक नये भाव उदित हुए हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में इन कई प्रधान विचारों को ध्यान में रखकर विचार करने से उनमें एक स्वजातीयता का पता चलता है। इस प्रकार की धारणा के आधार पर उन सबमें एक नवीन सामंजस्य उपस्थित किया जा सकता है या नहीं, इसी बात का विचार करने के लिए हमने इस ग्रंथ की रचना की है।

चीनी लोगों के सम्बन्ध में हम विशेष रूप से परिचित नहीं हैं। सुना जाता है कि ईसा के २५०० वर्ष के पूर्व भी चीन में अंकन-पद्धति प्रचलित थी। कहा

1. Among the ancients the fundamental theory of the beautiful was connected with the notions of rhythm, symmetry, harmony of parts ; in whort with the general formula of unity in variety. (Bosanquet, History of Aesthetics P. 4).
2. Among the moderns we find that more emphasis is laid on the idea of significance, expressiveness, the utterance of all that life contains ; in general, that is to say, on the conception of the characteristic. (P. 5,)

जाता है कि राजा 'चाऊ' ने ईसा के २५०० वर्ष पूर्व एक चित्रकार को एक सेम अंकित करने के लिए दिया। चित्रकार ने तीन वर्ष के अनन्तर राजा को उसका चित्र अंकित करके दिया। राजा ने देखा कि उस चित्र में केवल एक लाल सेम अंकित किया गया है। यह देखकर राजा के क्रुद्ध होने पर चित्रकार ने कहा कि एक काठ का घर बनवायें और चारों ओर से प्रकाश रोककर यदि उसमें केवल एक छोटी खिड़की से आने वाले प्रकाश में चित्र को देखें तो उस चित्र की वास्तविक मर्यादा का पता लग सकता है। ऐसा ही करने पर राजा ने देखा कि सेम के ऊपर विचित्र प्रकार के प्राणी सर्प, पक्षी, अश्व, रथ आदि अंकित किये गये थे। ई० पू० २२० के चित्रकार लिः के विषय में प्रसिद्धि है कि उसने एक वर्ग इंच में नद, नदी, गिरि उपत्यका आदि के साथ तात्कालिक चीन राज्य का एक मानचित्र खींचा था। राजा ह्वेनन्—ई० पू० १२२—ने कहा है कि उनके समय के चित्रकार एक-एक बाल तक अंकित कर सकते थे, किन्तु वे भावाभिव्यंजन में समर्थ नहीं थे। लि सियाङ्—ई० पू० ८०—ने कहा है कि उसके समकालीन चित्रकार एः प्रायः इस प्रकार प्राणियों का चित्र आँकते थे कि अन्य प्राणी उनको अपना ही चित्र मानकर उसके निकट चले आते थे। ई० पू० द्वितीय शतक से चीन देश में मनुष्य की छवि अंकित करने की पद्धति प्रचलित थी और कन्फ्यूशियस तथा उनके शिष्य-वर्ग की भी अनेक प्रकार की बहुत-सी पुस्तकों की चर्चा सुनने में आती है। चीन देश में उस समय भी मुद्रण-प्रथा नहीं थी। ई० १३६८ तथा १३६८ की छपी हुई चित्रों की पुस्तक केम्ब्रिज पुस्तकालय में संरक्षित है। ईसा के दूसरे से चौथे शतक तक छवियाँ प्रायः रेशम या कागज़ पर अंकित की गई हैं। प्राचीन काल में चीन में साधारणतः सफेद, हरिद्र, नील और लोहित रंगों का व्यवहार होता था। चीनी चित्रकार प्रायः बहुत-सी विद्याओं में पारंगत हुआ करते थे। चेङ्ह्याङ् के सम्बंध में गाइल्स (Giles) ने प्रशंसा की है।[1] से यङ्ग (Jsai young) के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने पंच शास्त्र (फ़ाइव क्लासिक्स) को पत्थर पर टंकित कर दिया था। उनके दो चित्रों का पता चलता है, जिनमें एक शिक्षादान का है और दूसरा स्त्री संघ का है। उस समय प्रतिकृति अंकित करने की एसी पद्धति प्रचलित थी कि जिसकी छवि चित्र-गैलरी में अंकित की गई दिखाई न देती उसे लोग नितान्त अकिंचितकर मानते थे। चीन में सौन्दर्य-प्रीति

1. The first of these is Chang Heng, who was famous in his youth for the knowledge of the five classics and for his skill in the six fine arts, to wit ceremonies, music, archery, charioteering, calligrapy, and mathematics. (History of Chinese Pictorial Art, P. 7).

इतनी बढ़ी हुई थी कि कन्फ्यूशियस (Confucious) ने एक बार दुःखी होकर कहा था कि मनुष्य जितना सौन्दर्य को पसन्द करता है उतना धर्म को नहीं करता।[1]

प्राच्य हान् (han) वंश के इतिहास में लिखा है कि ६१ ई० में सम्राट् मिङ्ग जे (Ming Ji) ने बौद्धधर्म के सम्बन्ध में संवाद संग्रह करने के लिए भारतवर्ष को व्यक्ति भेजे थे। इससे पूर्व ३०० वत्सर तक चीन वासियों ने भारतवर्ष के बौद्धधर्म के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत सुना ही था, उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ न जानते थे। ६ वत्सर के पश्चात् वह कश्यप मृदंग (Kassiap Madang) को साथ लेकर चीन की राजधानी में गये और वहीं उनकी मृत्यु हुई, किन्तु उनके साथ अनेक बौद्ध छवियाँ और मूर्तियाँ थीं। बौद्धमूर्त्ति और छवि के साथ चीनियों का यही प्रथम परिचय था। पहले ही कहा गया है कि उस समय के चित्रकारों ने प्रधानतः जीवन्त मानव की ही प्रतिकृति अंकित की है। इसी समय मा युवान् (Ma Yuan) ने उनके भतीजों को उपदेश देते हुए कहा कि किसी बड़ी वस्तु को अंकित करने की चेष्टा न करके किसी छोटी वस्तु को अंकित करना ही उचित है।[2] ई० १४७ में वू (Wu) वंशीय लोगों ने एक समाधिमन्दिर बनाकर उसमें अनेक प्रकार के प्राचीन ऐतिहासिक और पौराणिक चित्र भास्कर्य में टंकित किये। १७८६ ई० के मृत्तिकारों के द्वारा इसका आविष्कार हुआ था। प्रा. चवन (Prof. Chavannes) ने इन्हीं चित्रों को अपने विस्तृत ग्रंथ में प्रकाशित किया था एंव उन पर बैबीलोनिया या असीरिया के प्रभाव को अस्वीकार किया था। उन्होंने कहा है कि दोनों में सादृश्य तो जान पड़ता है, किन्तु उसका कारण यही है कि प्राचीन मानव एक ही प्राकृतिक तथा सामाजिक अवस्था में पले और बढ़े हैं अतः उनका शिल्प-चित्त भी एकजातीय है।[3] ईसा के तृतीय शतक में साउ नामक चित्रकार ने एक रेशमी टुकड़े पर ५० फुट ऊँची एक मूर्त्ति अंकित की थी। यह मूर्त्ति संभवतः बौद्धमूर्त्ति थी। इसी समय से बौद्ध विषयों के अनेक चित्र अंकित होने आरंभ हो गये थे। यद्यपि चीन आदि में बौद्ध चित्रों का प्राचुर्य है, किन्तु योरोपियों के समान ही उन्होंने भी बहुत-से लोगों के लौकिक चित्र ही अंकित

---

1. I have never yet seen any one who loves virtue as he loves beauty.
2. Though you may fail in drawing a swan, the result will at any rate be like a duck ; whereas if you try to draw a tiger you will only turn out a dog.
3. En fait, on diconoriva des rapports entre les premiers essais artistique de tors les peuples perce que partout les memes causes preduisent les meines affets ; mais il fant se rappeler que, par une corrollaire de ce principe, remblance ri impleque pas filiation.

किये हैं। भारतीय चित्रों में जितना धर्मबहुल चित्रों का प्राचुर्य है उतना चीन आदि में नहीं है। भारतवर्ष में बहुत-से खोदित चित्र और भास्कर्य मूर्त्ति होने पर भी भास्कर या चित्रकारों में से प्रायः एक का भी नाम नहीं पाया जाता। इसके विपरीत चीन में परम्परा रूप में अधिकांश चित्रकारों के नाम मिलते हैं। चौथे और पाँचवें शतक में भी सुप्रसिद्ध चित्रकारों का नाम सुना जाता है। 'कुकइची' ने एक बार एक बौद्ध-विहार को दस लाख मुद्राएँ देना स्वीकार किया था। दरिद्र होने के कारण बौद्ध-भिक्षु उसके इस कथन पर विश्वास न कर सके। जब उन्होंने उस से धन माँगा तो वह घर में एक माह तक घुसा रहा और वहाँ बन्द रहकर ही उसने एक विमल-कीर्ति मूर्त्ति अंकित की जिसकी सुन्दरता देखकर लोगों ने इतना चढ़ावा चढ़ाया कि उसी से सरलतया दस लाख मुद्राएँ एकत्र हो गईं। यहाँ अधिक न कहकर हम इतना और कहना चाहते हैं कि ईसवी पूर्व चतुर्थ शतक से ही चीनियों में चित्रों के प्रति विशेष अनुराग दीख पड़ता है। चित्रकारों ने प्रायः प्रकृति तथा चित्रों से उत्पन्न होनेवाले आनन्द को अन्य वस्तुओं से उत्पन्न होनेवाले आनन्द की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहराया है। वैंग वे (Wang Wei) के कथनों से भी हमारी यह बात प्रमाणित होती है।[1] पाँचवी-छठी शती के शिहो महाशय के सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि किसी व्यक्ति का चित्र अंकित करने के पहले वह उसे केवल एक बार देखते थे और फिर उसका हू-ब-हू वही रूप अंकित कर देते थे। इन्होंने चित्रविद्या के सम्बन्ध में अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उन्होंने चित्र के लक्षण में बताया है कि उसे ६ भागों में बाँटा जा सकता है। किन्हीं से सजीवता (रिदमिक वाइटैलिटी) प्रकट होती है, किन्हीं से अवयव-संस्थान (एनाटॉमिकल स्ट्रक्चर)। इसी प्रकार यदि किसी से प्रकृति के साथ सादृश्य (कनफरमिटी विद नेचर) प्रकट होती है तो किसी से वर्ण-सामंजस्य (सूटेबिलिटी ऑव कलरिङ्ग) और किसी से चित्रित का सन्निवेश-वैचित्र्य और सामंजस्य (आर्टिस्टिक कम्पोजीशन एण्ड ग्रूपिङ्ग) अथवा किसी से प्राचीन चित्रों की अनुकृति मात्र प्रकट होती है। सातवीं शती से चीन देश में भित्ति-

---

1. To gaze upon the clouds of autumn—a soaring exaltation in the soul; to feel the spring breeze stirring wild exultant thoughts; what is there in possession of gold and jewels to compare with delights like these? And then to unroll the portfolio and spread the silk, and to transfer to it the glories of flood and fell, the green forests, the blowing winds, the white water of the rushing cascade, as with a turn of the hand a divine influence descends upon the scene. These are the joys of painting (Giles P. 25).

चित्र की प्रथा चल पड़ी थी। छठी शती से ही वहाँ अत्यन्त विख्यात चित्रकारों का पता चलता है। ग्यारहवीं शती में कुओसि नामक चित्रकार ने प्रकृति-चित्र के सम्बन्ध में एक ग्रंथ की रचना की जिसमें उन्होंने दूरत्व, गम्भीरता, वायु, आलोक, बृष्टि, अन्धकार, रात्रि, प्रभात एवं चारों ऋतुओं के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं और चित्र में उनके प्रकाशन पर विचार किया है। इस ग्रंथ में विभिन्न कालों में प्राकृतिक जगत् की परिवर्तित छटा का वर्णन किया गया है।[1] एक-दूसरे स्थल पर उन्होंने कहा है कि प्रकृति के साथ तन्मय होने पर ही दृश्य की महत्ता प्रकट होती है।[2] उन्होंने यह भी कहा है कि पर्वतों में तीन प्रकार का दूरत्व होता है। १—उच्चता, २—गम्भीरता तथा ३—समभूमिता ही वह तीन प्रकार हैं। यह तीनों प्रकार का दूरत्व तीन प्रकार के रंगों से व्यक्त होता है। पर्वत के तलदेश से शिखर की दूरी उसकी उच्चता कहलाती है। पर्वत के सामने से उसके पीछे तक की दूरी को गंभीरता कहते हैं और पर्वत का विस्तार उसकी समभूमिता कहलाता है।[3]

'कु ओ सि' का मत है कि काव्य एवं छवि दोनों एकजातीय होते हैं। काव्य और छवि में इतना ही अन्तर है कि पहले में आकृति नहीं रहती और दूसरे में रहती है, एक मूर्त होता है दूसरा नहीं। जापानियों में एक ऐसा प्रवाद प्रचलित है जिससे जापानी शिल्पकला के मर्म को समझा जा सकता है। उनके यहाँ कहा जाता है कि शाब्द छवि का नाम काव्य है और अशाब्द काव्य का नाम है छवि।

1. He discusses distance, depth, wind and rain, light and darkness; also the differences of night and morning at the four seasons of the year. How in a painting the spring hills should melt as it were into a smile, how the summer hills should be as it were a blend of blue and green, how the autumn hills should be clear and pure as a honey cake and how the winter hills should appear as though asleep. (Giles P. 115).
2. The artist must place himself in communion with hills and streams and the secret of the scenery will be solved
3. Hills have three distances. From the foot looking up to the summit is called height distance, from the front looking to the back is called the depth distance. From near hills looking away to far off hills is called level distance. The colour of the height distance should be bright and clear, that for depth distance, heavy and dark, that for level distance may be either bright or dark. Hills without clouds look bare, without water they are wanting in fascination, without paths they are wanting in life, without trees they are dead, without depth distanoe they are shallow, without level distance they are near and without height distance they are low. (Ibid P, 116).

'सुशी' ने कहा है कि चित्रविद्या हाथ और आँख के सम्मिलित कार्यकौशल पर निर्भर है, अतएव वह शिक्षा देकर किसी को सिखाई नहीं जा सकती।[1] एकादश शताब्दी के 'ओवङ सेन' के सम्बन्ध में बताया जाता है कि वह चित्रांकन अथवा चित्र-दर्शन के समय एकबारगी समाधिस्थ हो जाते थे। 'सु तुं पो' ने उनके सम्बन्ध में लिखा है:

> Brocaded cases and rollers tipped with
> rhinoceros-horn lie piled upon the
> ivory-mounted couch ;
> Forked sticks and sequent scrolls bring back
> to us the glories of the clouds.
> As the hand unwinds the horizontal scroll,
> we feel a breeze arise ;
> And all day long, without haste, we
> spread the pictures out.
> Our wandering minds are deeply stirred,
> our hearts are purified.
> Our souls are lifted up by the beautiful
> scenes thus set before our eyes. (Ibid P. 128)

रॉजर फ्रे (Roger Fry) ने कहा है कि योरोपीय लोग जिस मनोयोग से योरोपीय चित्रों को समझने का प्रयत्न करते हैं, उसी मनोयोग से यदि वे चीनी चित्रों को भी समझना चाहें तो उन्हें कोई कठिनाई नहीं होगी। यह ठीक है कि चीनी चित्रों में भिन्न प्रकार के देवी-देवताओं की मूर्ति अंकित है, किन्तु उनकी रेखांकन-पद्धति योरोप के अनुरूप होने के कारण उन्हें कठिनाई न होगी। इसी प्रकार ऐसे बहुत-से योरोपीय शिल्पी हैं जिनकी अंकन-पद्धति चीनियों के समान जान पड़ती है।[2] तात्पर्य यह है कि चीनियों की वर्ण-रचना योरोपियों की दृष्टि

1. The art of drawing cannot be taught, for it depends upon co-ordination of hand and eye which comes about unconsciously ; how can you then impart that of which you are un-conscious.
2. They are so similar that I could point to some much loved European artists who are nearer in this respect to the Chinese than they are to other great European artists. It has, to begin with colour schemes that are preeminently harmonious to the European eye. It is the same general notion of logical and clear co-ordination of parts within the whole. It ends at a similar equilibrium, and it does not allow the elaboration of details to destroy the general structure. (Transformations, P. 68).

में किसी असामंजस्य की सृष्टि नहीं करती। उन चित्रों को देखने से भी उनके विभिन्न अंगों में एक सामंजस्य समुचित रूप में व्यक्त होता जान पड़ता है और उससे एक समग्र मूर्त्ति का प्रभाव मन पर पड़ता है। इस बात की सावधानी बरती गई है कि वर्णन इतना अधिक स्पष्ट न हो जाय कि उससे मूर्त्ति को हानि पहुँचे। कहा जा सकता है कि यद्यपि चीनी चित्रकार ध्यानमग्न होकर चित्र अंकित करते थे, तथापि बहिर्जगत् से वे कभी विमुख नहीं हुए हैं। इसके विपरीत वे उसके प्रति भी यथासंभव सचेत रहे हैं। चीनियों ने डिम्बाकृति आकाश-रचना-पद्धति से अपने चित्रों में वर्तुलता दिखाई है। योरोपीय शिल्प के आरंभ में हमें रेखा-पद्धति की प्रधानता देखने को मिलती है। बाद में चलकर जैसे-जैसे चित्रकार के मनोभावों में स्पष्टता आती गई, वैसे ही रेखा-पद्धति से उनका साथ छूटता चला गया। शब्द-लेखन पद्धति से उत्पन्न होने के कारण चीनियों का चित्र-शिल्प विशेषतः रेखाओं को प्रधान मानकर चला है। किन्तु चीनी-रेखापद्धति हिन्दू रेखापद्धति के समान सहज जीवनमय नहीं है वरन् उसके साथ वर्टिचिल प्रभृति इतालवी चित्रकारों की रेखा-पद्धति की तुलना की जा सकती है। दोनों में ही रेखा-विन्यास तथा छन्द के द्वारा कल्पना का पूर्ण विलास प्रकट होता है और छन्द सहज, सावलील भाव से प्रवाहित होते जान पड़ते हैं। इस पद्धति के होते हुए भी चीनी-शिल्प में वर्तुलता को अभिव्यक्ति मिली है। भारतीय रेखा-पद्धति निरन्तर तरंगित बंकिमता का आश्रय लेकर जीवनान्दोलन को प्रकट करती थी, किन्तु चीनी रेखा-पद्धति में मानो सरल रेखाओं के सहारे केवल कोणों (एंगिल) में ही बंकिमता को स्थान मिल सका है। रेखा-पद्धति की समानता रहते हुए भी चीनी-पद्धति भारतवर्षीय पद्धति के समान सहज और स्वाभाविक नहीं है। चीनी लोग जिस डिम्ब-पद्धति से वर्तुलता की सृष्टि करते हैं, उसके साथ योरोपीय पद्धति-बहुभुज क्षेत्र (पोंलीहेड्रन) की वर्तुलता की समानता है। योरोपीय वर्तुल पद्धति कुछ समतल (प्लेन) के सन्निवेश के द्वारा सधती है। चीनी लोग ऐसा न करके डिम्ब-पद्धति से ही वर्तुलता का काम चला लेते हैं। आश्चर्य तो यह है कि ब्रेनर्सी (Bran-arsi) और मैलन (Maillon) आदि योरोपीय चित्रकारों ने अनेक बार चीनी-पद्धति के अनुसार चित्र अंकित किये हैं। योरोप की अपेक्षा चीन और भारतवर्ष में प्राणि तथा उद्भिद्-जगत् के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की ओर विशेष ध्यान रखा गया है। इसी कारण इनके अंकन करने में चीनी लोग विशेष निपुण जान पड़ते हैं। मनुष्य की दृष्टि से प्राणि को न देखकर उन्होंने उसे उसी की दृष्टि से देखा है। यूनानियों ने भी प्राणिशरीर को ध्यानपूर्वक देखकर ही उनके पूर्ण

अलंकृत चित्र अंकित किये हैं। फिर भी उनके द्वारा प्रदर्शित प्राणिशरीर का सामंजस्य अनेक कल्पित बहिरंग और आरोपित सादृश्यों पर आधारित है। प्राणियों के अंतरंग का जैसा ज्ञान चीनियों को था वैसा यूनानियों को नहीं था। यही कारण है कि चीनियों द्वारा अंकित प्राणि के चित्र से जीवन का अपना-अपना भाव स्वाभाविक सामंजस्य के साथ प्रकट होता है। आन्तरिक सहानुभूति और अन्तः योग के सहारे प्राणि-चित्त में पैठकर चित्र अंकित करने पर प्राणि-शरीर का यथार्थ परिचय मिलता है। योरोपीय लोग चित्रों में उस आन्तरिक अभिनिवेश से काम नहीं ले पाते, अतएव उनके चित्रों में वैसा परिचय मिलना कठिन ही है। वर्त्तमान काल में योरोपीय शिल्प में चीनी प्रभाव क्रमशः बढ़ रहा है। भारतवर्षीय बौद्ध-आख्यान और चित्रों के प्रभाव से चीन असंदिग्ध रूप से प्रभावित हुआ है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि चीनी शिल्प को भारती-शिल्प ने जन्म दिया है। भारतीय शिल्पकला के चीन में प्रसारित होने के बहुत पूर्व से ही चीनी शिल्पपद्धति अपना रूप व्यक्त कर चुकी थी। भारतीय धर्म और शिल्प-पद्धति चीन में प्रसारित होने पर भी चीनी प्रभाव से प्रभावित होकर बहुत बदल गई है। उदाहरणतया, भारतवर्ष में पाई जानेवाली बोधिसत्व की सभी मूर्तियों का आकार-प्रकार बहुत कुछ साधारण मनुष्य के समान है एवं पृथ्वी के सामान्य नर-नारी, वृक्ष-लतादि के साथ ही इन्हें चित्रित किया गया है। उनकी करुणा मानो इस लोक के आवरण के बीच से झरी पड़ती है। किन्तु चीनी लोगों में भारत का यही स्वाभाविक सर्वात्मभाव उनका भी आन्तरिक स्वाभाव नहीं बन गया था। इस कारण उनके बीच इस भाव का प्रचार होने पर भी उन्होंने इसे एक लोक-व्यापार के समान पृथक् रखने की चेष्टा की थी। उन्होंने बोधिसत्व में मनुष्यत्व की अपेक्षा देवत्व को ही देखाने की चेष्टा की। ऐसा लगता है मानो बोधिसत्व की करुणाधारा इहलोक-निरपेक्ष होकर किसी स्वर्गलोक की निधि है। लारेंस बिनयान (Laurence Binyon) ने अपने ग्रंथ 'द स्पिरिट ऑव मैन इन एशिया' में इसी भाव को व्यक्त किया है।[1]

---

1. Those gracious presences which they sought to evoke, those incarnations of boundless power, boundless wisdom, boundless compassion were already for them remote from the actual world of life. They were not conceived as the Indian artists conceived them in terms of the humanity around them, familiar to their eyes from infancy but were already distant in the world of the spirits. No doubt when we recall the great Bodhisattvas at Ajanta, surrounded by earthly forms and the green growths of earth—a human shape in which we can feel the pul-

बौद्धधर्म के चीन में प्रसारित होने से पूर्व उन लोगों का विश्वास था कि उनके देश के अनेक गुहावासी ऋषि अध्यात्म-शरीर से अमरलोक की यात्रा कर चुके हैं। उन्होंने तूलिका द्वारा रेखाओं में रेशमी वस्त्रों पर इस अध्यात्म-शरीर का अतिप्राकृत रूप अंकित करने में पटुता प्राप्त की थी। इन बोधिसत्वों को अंकित करने के समय उन्होंने अपनी वही विशेष पटुता दिखाई है। अनन्त ज्ञान, अनन्त करुणा और अनन्त वीर्य के आकर बोधिसत्व को उन्होंने अति सुन्दर रूप में आकाशमय देह में व्यक्त किया है। चीनी लोग योरोपीयों के समान ऐहिक व्यवहार-जगत पूर्णतया मग्न रहते थे। इस कारण अध्यात्म-जीवन सर्वातिशायी ज्ञान और करुणा की छवि अंकित करने के लिए वे उन्हें अतिअप्राकृत रूप दिये बिना न रह सकते थे। भारतीय दृष्टि से अध्यात्म-जीवन इसी जगत् में ही स्थल, जल, वायु, नर-नारी, जड़-प्रकृति, मानवेतर चेतन प्राणि आदि में ओतप्रोत और व्याप्त है।[1] उसके लिए हम कल्पना का आश्रय लेते हैं, अन्य किसी भी देश में इस प्रकार की मान्यता प्रचारित नहीं जान पड़ती। हमारे यहाँ उपनिषदों में कहा गया है: "यः ओषधीषु यो वनस्पतिषु" अर्थात् वह ओषधि अथवा वतस्पति आदि में सर्वत्र रमा हुआ है।

यूनानी कला ने जिस प्रकार भारत में प्रवेश करते ही अत्यन्त अल्पकाल में ही भारतीय शिल्पी के चित्त में स्थान ग्रहण कर लिया और उसे मिला-जुलाकर गांधार-कला की सृष्टि की, उस तरह चीन में भारतीय कला को ग्रहण नहीं किया गया। चीनियों ने भारतीय कला को स्वानुकूल परिवर्तित करके ही ग्रहण किया। इसी कारण चीन के बौद्ध-शिल्प की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रही और इसी चीनी प्रभाव से नवोज्जीवित बौद्ध-शिल्प भारतवर्ष के उस शिल्प के तिरोधान हो जाने के बाद भी बहुत काल तक प्राणवान बना रहा। भारतवर्ष में उपनिषद् और बौद्धधर्म ने

---

sation of the blood beneath the skin something seems to be lost. We turn to the creation of the Chinese painters and the reality of the forms is diminished. To the Chinese worshipper even the type of countenance, the mould of bodily shape no less than the folds and adjustment of the dress would be strange and different from anything he saw in his own life. These Bodhisattvas came to him as visions from the unknown-

1. Perhaps it is only natural that the Chinese, a people so deeply attached to earth and earthly things, should, when they seek to evoke spiritual presences intensify their unearthliness. For them the spiritual element is not as with the Indians, something invisibly pervading and inseparably belonging to human life. (Binyon) (Ibid. P. 65).

जिस सत्य का प्रचार किया, चीनियों में भी बहुत-से लोग महर्षि लाउत्स की शिक्षा के पूर्व उससे प्रभावित हुए थे। लाउत्स (दूसरी शती) ने कहा है कि आत्मदमन ही जीवन है। समस्त वासनाओं से मुक्ति पाना ही हमारा एकान्त लक्ष्य है। अन्तर्वासना से मुक्ति और बाह्य निष्क्रियता ही साधु की चरमगति है। इस भोगमूलक जगत् में निरन्तर कामना और क्रिया के बन्धन में रहकर हम अपने निश्छल, शान्त स्वभाव को नष्ट कर देते हैं। एकमात्र वासना-त्याग ही ऐसा साधन है जिससे साधु बालस्वभाव प्राप्त कर लेते हैं—उनका सरल जीवन शिशु के समान कोमलता से पूर्ण हो जाता है। जो यथार्थ साधु हैं वे जानते हैं कि उनकी अहंबुद्धि उनके स्वरूप से पृथक् है। इसी कारण उन्होंने किसी बाह्य या आन्तर वस्तु को साध्य नहीं माना है। वे लाभालाभ में भी सुखी या दुखी नहीं होते। सर्वभूत से एकान्त निरपेक्षता ही साधु-जीवन का लक्ष्य है। जगत का आदिकारण नामहीन, सत्ताहीन और अव्यक्त है। इसका लक्षण देते हुए हम शून्यता पर जा पहुँचते हैं। इसे हम ताओ (Tao) कह सकते हैं। यह ईश्वर का भी आदिकारण है। जगत को हम मान लेते हैं, इसीलिए इसे आपेक्षिक रूप से नाम दिया जाता है। इसी में जगत की उत्पत्ति, स्थिति और व्याप्ति है। जिस प्रकार जल किसी को भी बाधा नहीं देता और एकान्त-निरपेक्ष रहता है, यह ताओ-मार्ग भी उसी प्रकार का है। जिस प्रकार जल कोमल और मृदु होते हुए भी अपनी मृदुता के द्वारा ही अति दृढ़ को भी क्षुण्ण करने में समर्थ होता है, जिस प्रकार वह समस्त छिद्रों में व्याप्त हो सकता है और नाना प्रवाहों को अपने में ही धारण कर लेता है फिर भी अपनी स्वाभाविक विनय से सभी के नीचे स्थित रहता है और निम्न रहकर भी सभी उच्च प्रवाहों को अपने में लय कर लेता है, ताओ का भी यही लक्षण है। ताओ भी वृहद्, स्थिर है, परन्तु गतिशील भी है। यह निकट होते हुए भी दूर है और दूर रह कर भी निकट रहता है। इसी जल की उपमा का अवलम्बन करके चीनी शिल्पी ताओ धर्म को अजगर के रूप में अंकित कर सकते हैं। अजगर एक अप्राकृत जल-जन्तु है। यह नदी से उठकर आकाश में मेघ बनकर उड़ जाता है और फिर जल में आ पड़ता है। यह एक ओर जितना ही 'भयं भीषणानाम्' है, दूसरी ओर उतना ही सर्वव्याप्ति का प्रतीक भी है। लाउत्स ने इन्द्रियगत वेदना को स्वीकार किया है, और साथ ही उसमें निहित किसी अद्वितीय अव्यक्त ऐसी शक्ति का अनुभव भी स्वीकार किया है जो सब में समाकर भी सब को धारण किये है। इस स्पर्शानुसंधान के लिए मनन-व्यापार की किसी क्रिया को प्रधानता नहीं दी जा सकती, अपितु यह मानो उसे प्रत्यक्ष

दृष्ट रूप से प्रतीत होती है। लाउत्स एक प्रकार से शून्यवादी था। उसने कहा है कि जब मिट्टी से पात्र, द्वार एवं गवाक्षादि बनाये जाते हैं तब उसी शून्य स्थान का ही महत्त्व हो जाता है। शून्य स्थान से उत्पन्न होने के कारण ही पात्र आदि के अवयव एवं द्वार आदि का संस्थान होता है। शून्य आकाश को परमार्थ सत्ता की दृष्टि से देखते हुए चीनियों ने उसे एक नये ढंग की आध्यात्मिकता से पूर्ण बताया है। इस कारण चीनदेशीय चित्र में शून्यता या आकाश को इस प्रकार दिखाया गया है। कि उससे एक नूतन आध्यात्मिकता प्रकट होती जान पड़ती है। चीनी प्राचीन काल से ही प्राकृतिक चित्र अंकित करना पसन्द करते थे। यद्यपि पम्पी के चित्र से पूर्व उनके रंगमंच के कारण कुछ-कुछ प्राकृतिक दृश्य आँके जाते थे तथापि यह मानना पड़ेगा कि योरोप में नियमानुकूल चित्रों का अंकन बहुत आधुनिककाल में ही आरम्भ हुआ है। टिटियन, काराची, पूस्यां, क्लड्, ब्रुग्हेल, रूबेन्स, रेम्ब्रेएट, कान्स्टेबुल प्रभृति ने योरोप में अति सुन्दर और मनोरम अनेक दृश्य अंकित किये थे, किन्तु उनके द्वारा अंकित प्राकृतिक दृश्य में वर्ण-सम्मिश्रण का ही विशेष प्राधान्य दिखाई देता है। इसके विपरीत चीनियों ने प्राकृतिक दृश्य के अंकन में रंगों का अति सामान्य प्रयोग किया है। वे प्रायः स्याही से ही प्राकृतिक दृश्य आँकते थे। उनका विचार था कि स्याही की आलोक-छाया में वस्तु का वास्तविक रूप सुन्दरता पूर्वक व्यक्त होता है। इसी प्राकृतिक चित्र के अंकन में चीनियों की जो अद्‌भुत प्रतिभा प्रकाशित हुई है उसके मूल में बाह्यजगत् के साथ या प्रकृति के साथ उनके एकान्त और अत्यधिक योग के दर्शन किये जा सकते हैं। जिस प्रकार भारतवर्ष में समाधि-योग के द्वारा चित्र की वस्तु के साथ आत्मा का ऐक्य सम्पादित करके चित्रांकन करने की विधि प्रसिद्ध है, चीन में भी उसी पद्धति का अनुसरण किया गया है। रंग की अपेक्षा रेखा के द्वारा अवयव-सन्निवेश की दिशा में उनकी विशेष दृष्टि रहती थी। चीनी शिल्प का विचार करने से प्रतीत होता है कि व्यावहारिक जगत के साथ चीनियों के चित्त की प्रबल सहानुभूति है और नद-नदी, गिरि-कान्तार और शस्य-श्यामल भूभाग का प्रभाव चीनियों के चित्त को पहले से ही मोहित किये हुए था। ताओ धर्म से उन्होंने सीखा था कि एक अरूप की ही लीला समस्त जगन्मय तथा प्राणमयी होकर रहती है। वे केवल मनुष्य या पशु को ही प्राणमय रूप में नहीं देखते थे बल्कि गिरि तथा नदी आदि को भी एक प्रकार के सजीवों के साथ रखते थे। वे रूप के साथ अरूप को, शब्द के साथ निःशब्द को अपने चित्र में स्पष्ट व्यक्त करने की चेष्टा करते थे। बौद्धधर्म ने उनके जातीय जीवन

के साथ मिलकर उनमें जिस नवीन अध्यात्मबोध की सृष्टि की थी, जिन अलौकिक साम्य-मैत्री और करुणा के आदर्शों में उनको उद्‌बुद्ध किया था, ईसा के तीसरे शतक से ही उनके चित्रों में उसका परिचय प्राप्त होने लगा था। इसी कारण उन्होंने भारतीय चित्रकला के आदर्श और उसकी पद्धति को अपने प्रभाव से परिवर्तित करके एक नूतन शिल्प-रचना की सृष्टि की थी। इसके बाद जब दक्षिण शुंगवंशियों के काल में जैन-बौद्धमत का नूतन प्रादुर्भाव हुआ तब उनके प्रभाव से इनका शिल्प भी प्रभावित हो उठा। जैन-बौद्धों ने कहा है कि किसी प्रकार की पूजा-अर्चना, आचारपद्धति या ग्रंथ-पाठ की भी कोई आवश्यकता नहीं है। तत्वसाक्षात्कार करते हुए एकमात्र ध्यानयोग की आवश्यकता होती है। जापानियों पर भी इसका प्रचुर प्रभाव पड़ा था।

'क्यूटो' नगर के बाहर एक मन्दिर के बहिरांगण में चित्रकार सोआमी द्वारा अंकित एक उद्यान का चित्र है, परन्तु इसमें एक भी फूल या पत्ता नहीं है। यहाँ तक कि घास भी नहीं दिखाई गई है। एक चतुष्कोण भूमि के बीच बालू का ऊँचा-नीचा टीला दिखाया गया है। उसके ऊपर चार-पाँच शैलखण्ड अस्त-व्यस्त भाव से पड़े हुए हैं। अतः इसे उद्यान कहने का कारण क्या है इसका निर्णय करना दुःसाध्य है। यह जैन-बौद्ध प्रभाव से ही अंकित हुआ है और सांकेतिक चित्र है। संभवतः इसका तात्पर्य यह है कि इसके भीतर भी एक प्राणशक्ति निगूढ़भाव से वर्तमान है, परन्तु बाहरी दृष्टि से वह दिखाई नहीं देती। हम ध्यान के द्वारा जिस प्राणशक्ति का साक्षात्कार करते हैं वह चर्मचक्षुओं या अनुमिति के लिए अगम्य है। चीनियों ने जितना प्रयत्न बहिर्वस्तु के साथ-साथ आन्तरवस्तु को प्रकट करने का किया है, वैसा जापानी प्रायः नहीं कर सके हैं। वे बहिर्वस्तु की नितान्त उपेक्षा करके सांकेतिक भाव से आन्तर वस्तु को दिखाने में विशेष रूप से लगे हैं। जापानियों का स्वभाव ही यह है कि वह किसी वस्तु को पूर्णतया जाने बिना नहीं रुकते। इस विषय में वे बहुत कुछ भारतवर्षीयों के समान ही कहे जायेंगे। एक जापानी स्त्री के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह रणक्षेत्र में जाकर अपने मृत पुत्रों के लिए रो रही थी। यदि कोई उसको सान्त्वना देने गया तो उसने कहा कि जो मर चुके हैं उनके लिए मैं नहीं रो रही हूँ, अपितु मुझे रोना इस बात का है कि अब युद्ध में प्राण देने के लिए मेरा और कोई पुत्र अवशेष नहीं रह गया। अनेक बार विधवा माताओं को छोड़कर पुत्रों को युद्ध में जाते हुए उनकी कर्त्तव्यहानि भय से माताएँ स्वेच्छापूर्वक आत्महत्या कर लेती थीं। जापानियों का स्वभाव है कि वे जिसे ग्रहण कर लेते हैं उसके सामने वह अन्य वस्तुओं को तुच्छ मानने लगते

हैं। जापानी जीवन का यही प्रभाव उनके चित्रों में भी प्रतिफलित हुआ है। अवान्तर सौन्दर्य की ओर दृष्टि न रखकर मूल लक्ष्य को व्यक्त करने में ही उन्होंने अपनी शक्ति व्यय की है। यद्यपि जापानी प्रथम दशा में चीनी शिल्प द्वारा प्रभावित हुए हैं, तथापि उन्होंने क्रमशः चीनी शिल्प का अतिक्रमण करके अपने मनोभावों के अनुकूल नूतन चित्र-पद्धित की सृष्टि की है। जो लोग जापानियों को भली-भाँति जानते हैं वे निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि जापान में दीख पड़नेवाली योरोपीय अनुकृति उनके हृदय को परिवर्तित नहीं कर सकी है। योरोपीयों ने जिस ज्ञान-विज्ञान के बल से नाना यन्त्रों का आविष्कार किया है, नाना प्रकार की सुख-सुविधा की व्यवस्था की है, जापान में योरोपीयों के प्रभाव को उतनी ही सीमा तक ग्रहण किया गया है। योरोप जापान के चित्त को नहीं जीत सका है, किन्तु ईसा के षष्ठ या सप्तम शतक में जब भारतीय बौद्धधर्म चीन देश से शक्ति ग्रहण करके जापान में प्रविष्ट हुआ, उसी समय वह जापान के चित्त में भी पैठ गया। इसी कारण भारतवर्ष, चीन और जापान की पद्धति से मिलकर जिस एक नवीन पद्धति का जन्म हुआ, उसके भास्कर्य पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जा सकता। बोधिसत्व की जापान में पाई जानेवाली मूर्त्तियाँ बहुत बार तो चीनी भास्कर्य को भी पीछे छोड़ देती हैं। सौन्दर्य को जापानियों ने इतना श्रेष्ठ माना है कि उसे केवल बहिरंग भाव से चित्र या भास्कर्य में प्रयुक्त करके ही वे संतुष्ट नहीं हुए है, अपितु सौन्दर्याधायक वेशभूषा, गृहसज्जा आदि सभी में उनकी दृष्टि उस ओर रही है। किन्तु जापान में गृह-युद्ध के साथ ही शिल्पकला का परिवर्तन भी आरम्भ हुआ और शिल्पी पूर्व के समान अपनी चित्र-पद्धति में माधुर्य का सन्निवेश न करके शक्ति का सन्निवेश करने लगे। चीन देश में भिक्षु का सर्वश्रेष्ठ स्थान था और योद्धा का सबसे निम्न। जापान में भी आरंभ में प्रायः यही दशा थी। किन्तु इस गृह-युद्ध के बाद से योद्धा का स्थान क्रमशः ऊपर उठने लगा। इसी कारण मध्ययुगीन जापानी चित्रों में अनेक जापानी छवियाँ दिखाई देती हैं। बोस्टन के चित्रागार में सुरक्षित समस्त जापानी युद्धचित्रों से बहुत लोग परिचित नहीं हैं। युद्ध व्यापार को सुव्यक्त करने के लिए सामर्थ्य और वीर्य का इन चित्रों से स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। जापानी उन सभी घटनाओं को जानते हैं, इसलिए वे उन्हें प्रतिष्ठा दे सकते हैं। हो सकता है कि योरोपीयों को वे चित्र वैसे न लगें। किन्तु १५वीं तथा १६वीं शताब्दी से मानो फिर लोगों को युद्ध से वितृष्णा हुई और धर्म की स्थापना के लिए चित्त लालायित हो उठा। इसी के साथ-साथ चीनी शिल्प का प्रभाव पुनः जापान में प्रवेश पाने लगा। इस

समय के चित्रों में मुक्ति और बोधि के अन्वेषण की चेष्टा प्रकट होने लगी थी, एवं जैन-बौद्धों का प्रभाव चित्रों में स्पष्ट दीखने लगा था। पहले ही कह दिया गया है कि किसी आचार या बहिरंग धर्म-पद्धति का अवलम्बन न करके चित्त-शुद्धि और ध्यान-साधना के द्वारा आत्मलाभ करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। जापानी चित्रों के सम्बन्ध में हमें अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, अतएव यहाँ उनका और अधिक विचार न करेंगे। फिर भी अबतक जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट प्रकट हो जायगा कि एक जाति के चित्त में किसी समय जो भाव प्रवाहित होते हैं, शिल्प में भी उन्हीं का अनुसरण होता है। शिल्प अन्तरंग मानव-जीवन की अभिव्यक्ति ही तो है। सौन्दर्य की उपलब्धि या उसकी सृष्टि नाना क्रमों से होती है। विभिन्न युगों में जिस प्रकार विभिन्न जातियों और देशों की स्थायी चित्तवृत्ति में परिवर्तन होता है, वैसे ही शिल्प-पद्धति में भी परिवर्तन होता जाता है। जिस प्रकार साहित्य चित्त की अभिव्यक्ति है उसी प्रकार शिल्प भी अन्तर की ही स्फूर्त्ति है। इन दोनों में जातीय चित्त का अंगांगिभाव से प्रकाशन होता है।

प्राच्य शिल्प के सम्बन्ध में विचार करना इस पुस्तक का मूल उद्देश्य नहीं है। हमारा विचार है कि केवल प्राच्य शिल्प ही नहीं सभी देशों के शिल्प में आत्माभिव्यक्ति की एक विशेष प्रणाली होती है। उसी प्रणाली के माध्यम से किसी काल-विशेष की जाति-विशेष का स्वभाव तथा उस जाति के चित्त की स्थिति का अनेक काल से चली आती चित्त-स्थिति से ऐकान्तिक योग हुआ करता है। भिन्न-भिन्न कालों में परिवर्तित चित्तवृत्ति का मूलतः स्थायी चित्तवृत्ति से सम्बन्ध होता है। अतएव यदि हम जाति-विशेष के स्वभाव और उसकी प्रणाली-विशेष से परिचित नहीं होते तो उसके शिल्प को भी नहीं समझ सकते। ऐसी दशा में उसके सौन्दर्य या माधुर्य से भी हममें न तो कोई विशेष प्रतीति उत्पन्न होती है न हर्ष ही उत्पन्न होता है। इन्हीं विशिष्ट-जातीय चित्र-पद्धतियों के साथ परिचित कराने की शिक्षा ही चित्र-शिक्षा कहलाती है। रॉजर फ्रे ने इसीलिए कहा है कि कला-कृतियों के सुचारु ज्ञान के लिए हमें विभिन्न देशीय पद्धतियों का ज्ञान रखना आवश्यक है, जिससे कि हम परम्परया उनका सम्बन्ध जान सकें।[१]

---

1. It should be realised that the intelligent understanding of the artistic products of mankind is a quite serious profession, and one who requires a very thorough and somewhat special training from comparatively early years............The idea would be that the student should acquire such a wide knowledge of artistic form as exemplified in all the various known cultures of the world, that, when in presence of any new form he would

इस सम्बन्ध में जर्मन जाति विशेष अग्रणी है। अब लोग पुरानी सभ्यता के आज तक अग्राह्य माने जानेवाले शिल्प के प्रति भी विशेष ध्यान और मनोयोग से काम ले रहे हैं और योरोपीय कला से उनका सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सचेष्ट दीख पड़ते हैं। पारस्परिक योग की दृष्टि से देखने पर यह सिद्ध होता है कि जातिगत विभिन्नता के रहने पर भी सभी जगह के शिल्प-कला में एकता होती है। यही एकता शिल्प का प्राण है। इस ऐक्य-दृष्टि के उन्मेष से ही शिल्प दृष्टि का उन्मेष होता है। जब हम नाना भेदों में भी सौन्दर्य की एकता का परिचय पाने लगते हैं, तभी यथार्थ शिल्पबुद्धि उत्पन्न होती है। साधारणतः हमारा चित्त देशाचार और अभ्यास के प्रभाव से ऐसा विकृत हो गया है कि अवान्तर सम्बन्धों से सौन्दर्य को मुक्त करके उसे हम साधारण, स्वाभाविक रूप में देख ही नहीं पाते। इसी मुक्त रूप को देखने की समझ आने पर ही हम स्वाभाविक रूप से सौन्दर्य को जान सकेंगे।[1]

बोसांके (Bosanquete) ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव ऐस्थेटिक्स' में ऐन्द्रिय अथवा कल्पित रूप में प्रकाशित वस्तु-धर्म को सुन्दर कहा है।[2] यह सच है कि सौन्दर्यग्रहण के साथ ही आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु इस आनन्द को सौन्दर्य का अवच्छेदक धर्म (डिटरमिनिङ्ग एट्रीब्यूट) नहीं कहा जा सकता। वैसा करने पर हमें सौन्दर्य-जनित आनन्द से अन्य प्रकार के आनन्द का भेद दिखाना पड़ेगा, किन्तु आनन्द के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई व्यवर्तक धर्म (डिफरेंशियेटिङ्ग स्पेशल)

---

recognise its kinship and analogies with other forms belonging to different ages and countries. (Transformation Page 54—Roger Fry).

1. Probably certain artists were the first to see the aesthetic significance of Negro and Polynisian Sculpture, but the German Kunstforschers were quick to accept the hint from them and to begin serious study and the careful collection of such works. With no less enthusiasm have they, more than any other people, given to Peruvian and Maya remains the kind of attention which was once regarded as only applicable to European art. This, then, is the point I wish to make. If the study of art-history be carried on as a comparative study of all sculptures alike, we get an antidote to the kind of orthodoxies and a priori judgments, which results from a narrow concentration. The Kunstforscher under such conditions attains by another rout to something of the freedom of the artist, to whom the object in itself is everything,—its historical references of no interest.

2. It would be sufficient to define beauty in as far as expressed for sense-perception or imagination.

नहीं बताया जा सकता । यदि हम उस धर्म का निर्देश करने के लिए आनन्द के उपाधि-स्वरूप किसी मनोभाव से उसका जन्य-जनक संबंध बतायें तो उस मनोभाव में ही सौन्दर्य मानना पड़ जायगा । इस कारण रस या आनन्द को सौन्दर्य के लक्षणों में नहीं रखा जा सकता । अनेक लोगों ने अनेक बार सौन्दर्य के लिए परिभाषा रूप में 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग कर दिया है । यहाँ तक कि गेटे (Goethe) ने आत्मसृष्टि या आत्माभिव्यक्ति को शिल्प का प्राण मान लिया है तब भी उन्होंने यह कहा है कि यदि आत्मसृष्टि सौन्दर्य-मण्डित न हो तो यथार्थ कला की सिद्धि नहीं होती । इस रूप में सौन्दर्य का लक्षण निर्धारित करने पर आत्माश्रय दोष का आना अनिवार्य है । लक्ष्य का उल्लेख करके लक्षण-वाक्य बनाना संभव नहीं होता ।

श्लेगेल (Schlegel) ने कहा है कि मंगल की सुखमय अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है । किन्तु हम पहले ही दिखा आये हैं कि सुखाभिव्यक्ति के आधार पर सौन्दर्य का लक्षण नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि सुख अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकता है । बहुतों ने निष्प्रयोजन आनन्द को ही सौन्दर्य माना है, किन्तु केवल सौन्दर्य के स्थान पर ही निष्प्रयोजन आनन्द घटित होता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता । मनुष्य के प्रति सहानुभूति, क्रीड़ा-कौतुक आदि के दर्शन या धर्म सम्बन्धी विचारों से भी अनेकों के चित्त में निष्प्रयोजन आनन्द का सर्जन हो सकता है, किन्तु केवल इसी आधार पर उसे सौन्दर्य का आनन्द नहीं कह सकते । गेटे ने कहा है कि कान्त, कोमल आत्मसृष्टि या आत्मप्रकाश का नाम ही सौन्दर्य है । हमने पहले ही कहा है कि कान्त या कोमल शब्दों में सौन्दर्य समझा जाता है और इसी कारण लक्षण-वाक्य में इसका उल्लेख करके आत्माश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है । श्लेगेल ने सौन्दर्यानन्द के साथ मंगल का सन्निवेश करके इस आनन्द की विशिष्टता की रक्षा करने की चेष्टा की है । बोसांके ने लिखा है कि आत्मप्रकाश में बहुत-से विभेदों में ऐक्य स्थापित हो जाता है । ऐक्य-विधारण-क्रिया किसी रेखा, वर्ण, शब्द या वर्तुलता के सामंजस्य से सम्पन्न होती है, जिसे सौन्दर्य कहते हैं । यद्यपि बोसांके ने स्वीकार किया है कि सौन्दर्यसृष्टि में प्रायः आनन्द रहता है, तथापि इस आनन्द की उपाधि का निर्देश नहीं किया जा सकता एवं यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सब प्रकार के सौन्दर्यबोध में आनन्द अवश्य ही रहेगा । इसी कारण उन्होंने आनन्द को सौन्दर्य के लक्षण से पृथक् कर दिया है । जनसाधारण के निकट अनेक बार अति सुन्दर चित्र और दृश्य भी आनन्द का उत्पादन नहीं कर पाते, क्योंकि इन सभी चित्रों के समझने के लिए

अपेक्षित मार्जित अन्तर्वृत्ति साधारण लोगों में नहीं होती। यह भी है कि जिससे प्रायः साधारण लोगों को आनन्द मिलता है, यथार्थ शिल्पी उससे आनन्द नहीं पाता। इसी कारण आनन्द को सौन्दर्य का अव्यभिचारी लक्षण नहीं माना जा सकता।[1]

बोसांके ने वैक्षिक अनुभूति (ऐस्थेटिक एक्सपीरियंस) को एक आनन्दमय अनुभूति मानकर उसका वर्णन किया है। यह आनन्द स्थायी है अर्थात् अन्य आनन्द के समान इसके भोग से विरक्ति नहीं होती। यह किसी वस्तु का अवलम्बन करके उत्पन्न होता है, अर्थात् साक्षात् वस्तु-धर्म से उत्पन्न होता है एवं इसका सर्वसाधारण के साथ एक योग स्थापित करके भोग किया जाता है। इस आनन्द के साथ किसी विषय की अनुभूति जुड़ी रहती है। केवल किसी वस्तु के साक्षात् धर्म से उत्पन्न बताकर इसके तत्प्रणिधान स्वभाव (कन्टम्प्लेटिव) का संकेत किया गया है अर्थात् किसी विषय के अन्य-निरपेक्ष प्रणिधान मात्र से इसकी उत्पत्ति होती है। किसी पियानो के बजने पर हमें जो आनन्द होता है वह केवल तत्प्रणिधान प्रसूत होता है, किन्तु क्षुधित अवस्था में भोजन का घण्टा सुनकर या आसन्न विवाह के समय शहनाई के बजने से जो आनन्द होता है, वह अन्य-निरपेक्ष केवल प्रणिधान प्रसूत नहीं है। जब कोई वेदना सनातन और सर्वसाधारण भाव से केवल प्रणिधान-स्वाभाव में अपने को परिवर्तित करती है, तभी वह वैक्षिक अनुभूति के रूप में परिचित होती है। किसी आत्मीय के वियोग से उत्पन्न दुखः एक सन्ताप मात्र होता है, किन्तु जब दुःख (इन मेमोरियम) कविता में या रतिविलाप अथवा अजविलाप में व्यक्त होता है, तब वही दुःख उस सन्ताप-स्वाभाव का अतिक्रमण

1. It would be tautology to super-add the condition of pleasantness to the formal element of the characteristics, if the terms mean the same thing, as I believe that in aesthetic experience they do; while if pleasantness was taken in the normal range of its psychological meaning and not as thus both limited and extended by identification with aesthetic pleasantness, the definition would become indisputably too narrow, even supposing that its other elements prevented it from being also too wide. The highest beauty, whether of the nature of art, is not in every case pleasant to the normal sensibilities even of civilised mankind, and is judged by the consensus not of average feeling as such, but rather of the tendency of human feeling in proportion as it is developed by education and experience. And what is pleasant at first to the untrained sense,—a psychological fact more universal than the educated sensibility—is not as a rule, though it is in some cases generally beautiful.

करके एक सनातन आनन्द-स्वभाव में साधारणीकृत अवस्था में प्रकाशित होता है। किसी भी एक विषय के बहुधर्म, बहुगुण और बहुस्वभाव हो सकते हैं, किन्तु केवल इस जातीय आनन्दात्मक स्वाभाव में उसके परिचय को ही वैद्यिक अनुभूति कहा जाता है। इसी वैद्यिक अनुभूति की दृष्टि से अन्यान्य समस्त गुण मानो रहकर भी नहीं रहते। हम किसी फूल का आनन्द लेते हैं, वह आनन्द केवल पुष्प के प्रणिधान से उत्पन्न होता है। वह पुष्प किस जाति का है, कहाँ पाया जाता है, किसके बाग का है, उसका मूल्य क्या है और उसका प्राकृतिक स्वभाव क्या है ? इत्यादि सभी विषय मानो दूर रह जाते हैं। आनन्द मानो केवल पुष्प से झरकर सीधा चित्त में उतर आता है। वस्तु स्वभाव के अनुकूल ही इस आनन्द की उत्पत्ति होती है। [1]

बोसांके ने कहा है कि बहुत बार इस वैद्यिक आनन्द को अन्य आनन्द से पृथक् करके पहचानना दुष्कर होता है। दृष्टान्त स्वरूप कहा जा सकता है कि मृगया के आनन्द को कोई वैद्यिक आनन्द कहकर भ्रम में नहीं पड़ेगा, तथापि सेनापति ने जब दुष्यन्त के पास मृगया की प्रशंसा करते हुए कहा :

मेदच्छेद कृशोदरं लघुभवत्यूत्थानयोग्यं वपुः
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥

अथवा मेरेडिथ के 'ईगोइस्ट' उपन्यास में नाना जातीय मद्यों के सूक्ष्म आस्वाद-वैचित्र्य का डाक्टर मिडिल्टन (Dr. Middleton) द्वारा किया गया वर्णन ऐसा है मानो वही अनुभूति वैद्यिक अनुभूति की सहोदर-सी हो उठी है। इस सम्बन्ध में यह बात समझ में आती है कि किसी एक विशिष्ट आकार (फार्म) का अवलम्ब लेकर ही वैद्यिक अनुभूति उत्पन्न होती है। छवि अंकन के समय जैसे रेखा या वर्ण-सन्निवेश द्वारा विधृत आकार और काव्य-रचना के समय जैसे छन्द या काव्य की प्रकाश्यमान विषयवस्तु वैद्यिक अनुभूति में निमग्न हो जाती है उसी प्रकार वस्तु के समस्त भेद या उसकी सत्ता भी निमग्न हो जाती है। एक ही वस्तु नाना आकारों में हमारी वैद्यिक अनुभूति को परिपुष्ट कर सकती है। इसी आकार की

1. So far the aesthetic attitude seems to be something like this :—pre-occupation with a pleasant feeling embodied in an object which can be contemplated and so obedient to the laws of an object ; and by an object is meant an appearence presented to us through perception or imagination. (Lectures on Aesthetics, P. 10).

अनुभूति के साथ हम अपनी जीवनी-शक्ति का भी परिचय पाते हैं।[1] वर्नन ली (Vernon Lee) ने अपने 'द ब्यूटीफुल' ग्रंथ में यही मत प्रकाशित किया है। इसी मत को तादात्म्य (एम्पैथी) या Eionfuhlung कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सौन्दर्यबोध के समय हममें उत्पन्न होनेवाला रस हमारी जैवशक्ति का एक विशेष प्रकार का आनन्द मात्र होता है। चित्रित वस्तु में दिखाई देनेवाला नानाविध शरीर-सन्निवेश या प्राकृतिक दृश्य के समस्त अवयवों के सन्निवेश की अभिव्यंजना या द्योतकता में हमारे शरीर में उद्रिक्त हो उठनेवाली नानाविध क्रिया-शक्ति ही, जैवशक्ति की सिरहन ही, सौन्दर्य की अनुभूति है। इस मत के सम्बन्ध में आगे विस्तृत आलोचना की जायगी। इस समय तो इतना कहना ही यथेष्ट है कि सभी सुन्दर वस्तुओं को देखते समय हममें जो एक प्रकार का जैवशक्ति का अति-स्फुरण होता है, उसके विषय में हम कुछ निश्चय नहीं कर सकते। रंगों के विन्यास या स्वर-वैचित्र्य के सम्बन्ध में एतादृश शारीरिक शक्ति के उद्बोध की कैसे कल्पना की जाय ? तादात्म्य सिद्धान्त को माननेवाले के अनुसार किसी विषय को देखते समय उद्बुद्ध शारीरिक क्रिया के द्वारा मानो हम एक प्रकार से तद्रूपापन्न हो जाते हैं। एक मिट्टी का बर्तन देखकर यदि हम तद्रूप होते हैं और उसी तद्रूपता को वैद्यिक अनुभूति मानते हैं तो वर्ण आदि के विचित्र सन्निवेश में दिखाई देनेवाले सौन्दर्य की क्या व्याख्या की जा सकती है ? रेखा और वर्तुलता द्वारा होनेवाले सौन्दर्यबोध के समान ही वर्ण और स्वर-विन्यास से भी सौन्दर्यबोध होता है। इस प्रकार के सौन्दर्यबोध को शारीरिक

---

1. In your act of perception of the lofty objects you actually raise your eyes and strain your head and neck upwards, and this fills you with the feeling of an effort of exaltation, and this with all its associated imaginative meaning, you unconsciously use to qualify the perception of the mountain, which as a perceived object is the cause of the whole train of ideas, and this, it is said, is so throughout. You always in contemplating objects, especially systems of lines and shapes experience bodily tensions and impulses relative to the forms which we apprehend, the rising and sinking, rushing colliding, reciprocal checking of shapes. And these are connected with your own activities in apprehending them ; the form, indeed, or law of connection with any object is, they say, just what depends, for being apprehended upon activity of body and mind on your part. And the feelings and associations of such activities are what you automatically use with all their associated significances to compose the feeling which is for you the feeling of the object or the object as an embodied feeling.

शक्ति का उद्बोध बताकर काम नहीं चलाया जा सकता। रेखा एवं आकार के बोध के समय भी अपनी शरीर-शक्ति के उद्बोध के सम्बन्ध में हम सचेत नहीं होते। प्रतिवादी का कथन है कि जब एक सुन्दर बंकिम रेखा देखकर हमें आनन्द मिलता है उस समय हमारे चक्षु उस रेखा की बंकिमता को देख कर अस्थिर हो उठते हैं। इसी चंचलता के उद्बोध से ही आनन्द उत्पन्न होता है। किन्तु हमारे विचार से यह बात ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि यदि रेखा बंकिम होगी तो हमारी आँखें भी बंकिम हो ही जायेंगी। इसके अतिरिक्त यदि बंकिमाकृति देखने से हमारी आँखों में चंचलता आती है तो भी प्रत्यक्ष-दर्शन के समय उस चंचलता के अतिरिक्त और भी बहुत-से कारण एकत्र हो जाते हैं अतएव अन्वय-व्यतिरेक से काम लेने पर केवल चंचलता ही सौन्दर्य-बोध का कारण नहीं मानी जा सकती। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की मानसिक कल्पनाओं या काव्य की सृष्टि से आनन्द का उपभोग करने पर भी उसे दैहिक शक्ति से उत्पन्न बताना कठिन है। सौन्दर्य की प्राप्ति के समय हमारे मन में कल्पनाशक्ति का अथाह कोष खुल पड़ता है और वह स्वच्छन्द तथा मुक्त रूप में प्रवाहित होने लगती है। हमारी ज्ञान-प्रक्रिया की समस्त वृत्तियाँ कार्यरत हो जाती हैं और उनके साथ मिलकर हमारी कल्पनावृत्ति अपना प्रकाश फैलाती है। बोसांके ने कहा है कि ज्ञान-प्रक्रिया के अन्तर्व्यापार के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नहीं रहती। वह हमारी जानकारी के क्षेत्र से बाहर है। जैसे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं बताया जा सकता कि हम रूप को किस प्रकार देखते हैं, वैसे ही हम यह भी नहीं बता सकते कि हम सौन्दर्य को क्यों देखते हैं। हमारी कल्पनाशक्ति के दुर्ज्ञेय अन्तर्व्यापार के कारण कोई भी रेखा सुन्दर-प्रतीत होने लगती है। यद्यपि किसी-किसी स्थान पर आनुषंगिक भाव से बाह्य शारीर-शक्ति का उद्बोध हुआ करता है, तथापि वह सौन्दर्यबोध का कारण नहीं कहला सकता। सौन्दर्योपभोग, सौन्दर्यसृष्टि तथा सौन्दर्यविचार इन तीनों में जैसे चिन्तन का महत्त्व है वैसे ही सर्जनशील अन्तर्व्यापार का भी है। बोसांके ने कहा है कि सौन्दर्योपभोग में अधिकतर सर्जनक्रिया का अंश थोड़ा शिथिल रहता है। वहाँ पर चित्त मानो उपभोग्य वस्तु के प्रभाव से कुछ ऐसा चंचल हो उठता है कि सर्जनक्रिया उसी के अनुकूल चलने लगती है। सौन्दर्यसृष्टि के समय सर्जनशक्ति प्रबल होकर चिन्तन-व्यापार को ग्रहण कर लेती है। सौन्दर्य-विचार के समय यह दोनों ही व्यापार अन्वीक्षावृत्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं और सौन्दर्योपभोग में सहायता करते हैं। सौन्दर्य पर विचार करने वाले अपनी स्मृति से समस्त

विभिन्न क्रियाओं को यथायोग्य प्रधानता देकर उनके विश्लेषण के द्वारा उपभोग का आनन्द उत्पन्न कर सकते हैं। इसी प्रसंग में सौन्दर्यानुभूति का लक्षण देते हुए बोसांके ने कहा है कि कल्पनावृत्ति के क्षेत्र में वस्तु का आभास उत्पन्न होने पर किसी भी वेदना की सुखात्मक अनुभूति हो सकती है। उनके विचार से यही सुखानुभूति सौन्दर्यानुभूति कहलाती है। [1]

'हिस्ट्री ऑव ऐस्थेटिक्स' में बोसांके ने सुख की उपलब्धि को गौण मानकर सौन्दर्य की उपलब्धि से भिन्न माना था, किन्तु आगे चलकर उन्होंने अपने ही ग्रंथ 'लेक्चर्स ऑन ऐस्थेटिक्स' में इस मत को थोड़ा परिवर्तित कर दिया। उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया है कि जिस वस्तु से हमें सुख मिलता है उसका हमारे साथ आन्तरिक (ए प्रॉयरी) सम्बन्ध करता हुआ है। इस वस्तु की प्राकृतिक सत्ता को लक्ष्य में रखने की हमें आवश्यकता नहीं होती। यह हमारी कल्पना द्वारा परिवर्तित, परिवर्द्धित या संस्कृत होकर हमारे चित्त में प्रतीत होती है, उसके साथ सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध होता है। सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र में जिसे हम अभिव्यक्ति (एक्सप्रैशन) कहते हैं वह केवल वस्तुज्ञान मात्र नहीं होता अथवा उसकी प्राकृतिक सत्ता नहीं होती। वस्तुज्ञान तथा प्राकृतिक सत्ता के सहयोग से कल्पना द्वारा वस्तु का जो आभास मिला करता है, उसी के साथ सौन्दर्यानुभूति का योग है। प्रकृति अथवा मनुष्य के सम्बन्ध में हम अनेक प्रकार से ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह ज्ञान हमारी कल्पनावृत्ति का सहायक बनकर उसे उद्बुद्ध करता है और इस प्रकार एक विषय की सृष्टि करता है। उस वस्तु-विशेष के सहारे ही हमारी सौन्दर्यानुभूति जाग्रत् होती है। ज्ञान और कल्पनावृत्ति के सहयोग से सृष्ट वस्तु के कारण हममें सौन्दर्यानुभूति स्फुरित होती है। इस सम्बन्ध में बार्क का मत उल्लेखनीय है। उन्होंने कहा है कि ज्ञान का तारतम्य ही सौन्दर्यबोध का तारतम्य होता है। हृदय में आनन्द उत्पन्न करने के लिए मनुष्य कल्पना के सहारे जिन जागतिक उपादानों से सृष्टि रचता है वही सौन्दर्यसृष्टि के विषय बन जाते हैं। हम सौन्दर्य के क्षेत्र में बाह्य प्राकृत जगत् का सर्वतोभावेन अनुकरण नहीं करते। जो वस्तु हमारी मानसी कल्पना में उपस्थित होकर हमें आनन्द प्रदान करती है, वही सौन्दर्य के वास्तविक प्राकृत क्षेत्र की वस्तु होती है। इस कारण

---

1. We may conclude then that the aesthetic attitude so far as enjoyable in some such words as these : the pleasant awareness of a feeling embodied in an appearance presented to imagination or imaginative perception. (Lectures on Aesthetics. P.36.)

जब हम बाह्य प्राकृत जगत् को सौन्र्यसृष्टि के क्षेत्र में खींच लाते हैं, उस समय उसके बाहरी रूप में जो कुछ असुन्दर या आनन्द न देनेवाला होता है यदि कल्पना के द्वारा उसका भी वर्णन किया जाय तो भी सौन्दर्य की उपयोगी प्राकृतता की हानि नहीं होती। इसी कारण उन सब लोगों की सौन्दर्यकल्पना में परस्पर भेद रहेगा जो या तो प्रकृति में केवल जड़ता का आरोप करते हैं, उसमें गति और जीवन का दर्शन करते हैं अथवा उसमें देवता का प्रकाश देखते हैं।[1] जब कोई शिल्पी किसी मिट्टी के ढेले या प्रस्तर के माध्यम से अपने चित्त के भावों को प्रकट करने की चेष्टा करता है उस समय उसके आन्तरिक आनन्द के प्रभाव से ही उसकी कल्पना कार्य करने लगती है। इस प्रकार शिल्पी चाहे जिस उपादान का व्यवहार करे, उसी से वह मृण्मय, पाषाणमय या ध्वनिमय भाषा में अपने आनन्द को व्यक्त कर देता है। यहाँ क्रोचे से बोसांके का पर्याप्त मतभेद जान पड़ता है। क्रोचे सौन्दर्य को केवल मानस-व्यापार मानते हैं। वह प्राकृतिक वस्तु में सौन्दर्य ही नहीं देखते। बोसांके का कथन है कि आनन्द की अभिव्यक्ति अनुरूप रूप की उपस्थिति के बिना नहीं हो पाती। मनोयोग के बिना सौन्दर्य का उत्पन्न होना संभव नहीं है। यही कारण है कि सौन्दर्य को आन्तर धर्म कहते हैं। बाह्य वस्तु सौन्दर्य की दृष्टि से नितान्त गौण होती है और केवल सौन्दर्य की स्थिति अथवा उसके प्रकाशन के लिए ही उसकी उपयोगिता है, इस प्रकार की धारणा को बोसांके संगत नहीं मानते।[2] इसी प्रकार क्रोचे का मत है कि अन्तःप्रकाश-मूलक होने के कारण शिल्प का पृथक्-पृथक् विभाजन नहीं किया जा सकता। कला एक अखण्ड अन्तःप्रकाश है। अतएव शिल्प और भाषा को भी पृथक् नहीं किया जा सकता। भाषा भी शिल्प के समान ही अन्तःप्रकाशमूलक होती है।

---

1. And so, for example, representation of nature and imitation and idealisation are very different things according as we hold that nature has in it a life and divinity, which it is attempting to reveal so that idealisation is the positive effort to bring to apprehension the deeper beauty we feel to be there,—or as we hold that nature is at bottom a dead mechanical system, an idealisation, therefore, lies in some way of treating it which weakens or generalises its effect and makes it less and not more of what its fullest character would be. (Ibid. P. 55).
2. To say that because beauty implies a mind, therefore, it is an internal state, and its physical embodiment is something secondary and incidental, and merely brought into being for the sake of permanence and communication – this seems to me a profound error of principle, a false idealism. (PP. 67-68).

बोसांके का मत है कि यह सच है कि अन्तःप्रकाश के बिना शिल्प आत्मलाभ नहीं कर सकता, किन्तु यह मानना भी भूल है कि अन्तःप्रकाश से ही शिल्प की अभिव्यक्ति होती है। उसके बिना शिल्प का दृष्ट रूप संभव नहीं होता, किन्तु बहिःरूप का त्याग करने पर आन्तर रूप भी पूर्ण नहीं हो पाता। बहिर्जगत के साथ आदान-प्रदान करके हमारा चित्त स्पष्टता प्राप्त करता है। अतएव जिस प्रकार बहिर्जगत् अपनी अभिव्यक्ति के लिए आन्तरिक जगत् का सहारा खोजता है उसी प्रकार आन्तरिक जगत् को भी आत्मलाभ के लिए बहिर्जगत् की अपेक्षा रहती है।[1]

संगीत के सम्बन्ध में विचार करें तो देखेंगे कि बहिर्जगत् से हमारे कानों में प्रवेश करनेवाली स्वर-समष्टि को जब हम कल्पना द्वारा एक विशेष रूप में ग्रहण कर लेते हैं तभी संगीत का माधुर्य फूटता है। किन्तु ध्वनि के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की कल्पना से इस सौदन्र्य का प्रकाशन या अनुभव करना संभव नहीं दिखाई देता। हाँ, कविता-रचना के समय भी यही होता है। प्रत्येक शब्द दीर्घ-काल से किये गये प्रयोग और उसके साथ संचरित संस्कार के फलस्वरूप एक विशेष अर्थ और व्यंजना की सृष्टि करता है। उसी अर्थ और व्यंजना के फलस्वरूप काव्यसुलभ सौन्दर्य का प्रकाश संभव है। केवल कल्पनावृत्ति के व्यवहार या क्षणिक मानसिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा यह प्रकाश संभव नहीं है। इसी प्रकार अपनी तूलिका की सहायता से किसी रूप को प्रकाशित करने की चेष्टा करते समय प्रत्येक तूलिका-घात के साथ-साथ उसके मन में आनन्द उत्पन्न होता है। उस आनन्द की अनु-प्रेरणा से चित्रकार के द्वारा सृष्ट चित्र में नूतन अनुभवों की अभिव्यक्ति हो जाती है। साथ ही एक ओर तो आन्तरिक सृष्टि-प्रक्रिया की अनुप्रेरणा और दूसरी ओर बहिर्जगत की उद्बोधना, इन दोनों के पारस्परिक आदान-प्रदान में चित्रकार रूप-सृष्टि करता है। क्रोचे ने कहा है कि चित्र का समग्र रूप चित्रकार के चित्त के अन्तः प्रकाश में पहले से ही स्फुट हुआ रहता है। वह चाहे तूलिका का व्यव-हार करे या न करे, उससे अन्तःप्रकाश की कुछ भी क्षति-वृद्धि नहीं होती।

---

1. But at the very beginning of all these notions, as we said, there is a blunder. Things, it is true, are not complete without minds ; but minds, again are not complete without things ; not any more, we might say, than minds are complete without bodies. Our resources in the way of sensation, and our experiences in the way of satisfactory and unsatis-factory feeling, are all of them one out of our intercourse with things, and are thought and imagined by us as qualities and properties of things. (Ibid P- 70).

बोसांके ने कहा है कि यह धारणा भ्रमात्मक है। अन्तःप्रकाश के रूप में भीतर चाहे जो कुछ भी क्यों न हो बाह्य उद्बोधन में उसकी छाया और प्रकृति बहुत कुछ परिवर्तित हो जाती है। बाह्य और आन्तर के सहयोग से चित्र स्पष्ट हो उठता है। बाह्य की उपेक्षा करने से अन्तर में भी दारिद्र्य छा जाता है।[1] प्रत्येक वैद्यिक या सौन्दर्यानुभूति में एक ओर अन्तर्जगत की सृष्टि-प्रक्रिया चलती है और दूसरी ओर बहिर्जगत का उद्बोधन चला करता है। इन दोनों से मिलकर एक ओर सौन्दर्यानुभव होता है और दूसरी ओर सौन्दर्य-सृष्टि होती है।

क्रोचे के सम्बन्ध में बोसांके के कथनों से हमारी सहमति का परिचय हमारे द्वारा पहले ही दे दिया गया है। हमारे द्वारा की गई क्रोचे की आलोचना से सहज ही इसका पता लग जायगा। अन्तःबाह्य की युगपत् क्रिया के द्वारा ही सौन्दर्य की सृष्टि होती है। इस विषय में हमें तनिक भी संशय नहीं है। किन्तु यह दोनों किस प्रकार पारस्परिक सहयोग से सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, इस सम्बन्ध में बोसांके ने कुछ भी नहीं बताया है। सौन्दर्य की सृष्टि, बोध और अनुशीलन व्यापार में यह दोनों अनुगत होकर रहते हैं या नाना खण्ड और अंश एकीभूत होकर रहते हैं। ऐसा करने पर भी सौन्दर्यसृष्टि के स्वरूप और यथार्थ सृष्टि का परिचय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह सभी लक्षण अत्यन्त बहिरंग तथा तटस्थ होते हैं। हमें सौन्दर्य के सम्बन्ध में विशेष आलोचना करते समय देखना है कि इस विषय में और कहाँ तक विचार किया जा सकता है? स्थूलतः, बोसांके की आलोचना यथार्थ की ओर अग्रसर होती हुई भी तत्त्व विश्लेषण के विषय में बहुत गम्भीर नहीं जान पड़ती।

बोसांके के सम्बन्ध में विचार करते हुए हेगेल (Hegel) का ध्यान आता है। हेगेल का विचार है कि कला का दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है: एक ऐतिहासिक पूर्वापर-क्रम से समस्त कला की पर्यालोचना द्वारा और दूसरे, कला-सम्बन्धी अन्तर्विश्लेषण के द्वारा। अर्थात् केवल बहिरंग तुलनामूलक दृष्टि ही न रखकर अन्तर्विश्लेषण से भी सौन्दर्य का स्वरूप निश्चित किया जा सकता

1. Croce says, indeed, that the artist has every stroke of the brush in his mind as complete before he executed it as after. The suggestion is that using the brush adds nothing to his inward or mental work of art. I think that this is false idealism. The bodily thing adds immensely to the mere idea and fancy, in wealth of qualities and connections. If we try to cut out the bodily side of our world, we shall find that we have reduced the mental side to a mere nothing. (Ibid. P. 73).

है। प्रथम प्रणाली का अवलम्बन करके अरस्तू (Aristotle) होरेस (Horace) और लांजाइनस (Longinus) आदि ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु उनके समस्त लेखों में किसी मूल सूत्र का पता नहीं लगता और मतभेद के विषयों में सामंजस्य के प्रयत्न का अभाव है। प्लेटो ने दूसरी प्रणाली का अवलम्बन करके सत्य, शिव और सुन्दर की व्याख्या करने की चेष्टा की है, किन्तु उनकी व्याख्या एक तत्व-स्वरूप का विचार मात्र है। उससे हमारे द्वारा दैनिक रूप में अनुभूत सौन्दर्य का कोई विश्लेषण नहीं होता। हेगेल का कथन है कि कला मनुष्य की सिसृक्षावृत्ति का फल है। इसका कारण यह है कि वह स्वतःस्फूर्त प्रतिभा-व्यापार के सहारे निरन्तर नाना रूपों में प्रकट होती रहती है। अतः इसके किसी निश्चित रूप के अभाव में उसके मूल रूप को किसी प्रकार के विश्लेषण के द्वारा नहीं समझा जा सकता। उसे केवल वहिरंग उपाय-पद्धति के द्वारा ही किसी प्रकार समझाया जा सकता है। मन को गभीरता से स्वाभाविक व्यापारों में प्रकाशित होनेवाले नाना प्रकार के आकृति और भाव-विन्यास के सौन्दर्य में किसी प्रकारकी ज्ञान-जन्य परम्परा का निर्देश करना सहज नहीं है। समस्त व्यापार मानो एक आवेश या अनुप्रेरणा के फलस्वरूप शिल्पी के अनजाने ही उसके अन्तर से निर्झर तरंग के समान झर पड़ते हैं। इसी को आवेश (इंस्पिरेशन) कहते हैं। यही आवेश एक अज्ञात शक्ति के समान अपने ही अन्दर से नाना सम्पदाएँ प्रकाशित कर सकता है, परन्तु बौद्धिक चिन्तन के द्वारा इस विलक्षण आगम-निर्गम के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं किया जा सकता। [1]

यद्यपि हेगेल आवेश का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते थे, तथापि वह यह स्वीकार करते थे कि युक्ति और विचार के द्वारा आवेश की क्रिया का परिशोधन और संस्कार किया जा सकता है। यद्यपि शिल्पी आवेश के प्रभाव में रचना करता है तथापि वह अपनी सृष्टि-प्रक्रिया के समय एकान्त असम्बुद्ध नहीं रहता। अतएव आवेश के प्रवाह में प्रवाहित वस्तु को वह बुद्धि और विचार के द्वारा संस्कृत और

1. Art, as the product of the creative activity of man, cannot be taught except in its technical rules, for its interior and living part is the result of the spontaneous activity of the genius of the artist. The mind draws from its own abysses the rich treasure of ideas and of forms. But we cannot say that the artist, because he finds himself in a unique condition of the soul,—that is to say Inspiration—is not self-conscious in what he does, for whatever be the gifts of nature, reflection and experience are needed for their development. (Hegel's Aesthetics, P. 8 Morris's Edition).

परिवर्तित कर सकता है। प्लेटो ने कहा है कि प्राकृतिक जगत् की अपेक्षा कला का जगत् हीन होता है, क्योंकि प्राकृतिक जगत् का अनुकरण करके ही कलाजगत् उत्पन्न होता है। प्राकृतिक जगत् जीवन्त है और कलाजगत् प्राणहीन होता है। किन्तु हेगेल ने कहा है कि कला की सृष्टि हमारे जीवन में से ही व्यक्त होती है, वह हमारी आत्मा का चैतन्यमय धर्म है।[1] यदि कोई वस्तु देखने पर वह हमें पसन्द आ जाती है तो वही वस्तु आगे चलकर पुनरुज्जीवित तथा पुनः उद्बुद्ध होकर कलात्मक रूप धारण कर लेती है। इसी कारण कला की सृष्टि के समान सप्राणता किसी प्राकृतिक वस्तु में नहीं हो सकती। प्राकृतिक वस्तु से कला-सृष्टि का यही भेद है कि प्राकृतिक वस्तु में लक्ष्य और उपयोगिता की प्रधानता रहती है। उसका कोई-न-कोई उद्देश्य या उसकी उपयोगिता होती है, किन्तु कलासृष्टि में इन दोनों की वैसी प्रधानता नहीं मानी जाती। एक चित्रित अश्व के द्वारा अश्व का प्राकृतिक कार्य नहीं सधता। विचारक्षेत्र में प्रचलित अश्व का सामान्य रूप चित्रित अश्व के विशेष रूप से नहीं मिलता। इसीलिए कहना पड़ता है कि कला की सृष्टि के समय हमारा चित्त एक स्वतन्त्र रूप में बाहरी वस्तुओं को ग्रहण या प्रकट करता है। एक ओर वह प्राकृतिक सत्य से वर्जित होता है और दूसरी ओर वह काल्पनिक या मानसिक चिन्ता से भी भिन्न है। यह प्रयोजन-रहित होकर भी विशिष्टता सम्पन्न होता है और सामान्य धर्मापन्न न होकर भी सामान्य भाव से सबके द्वारा ग्राह्य है। इसी कारण कला की सृष्टि पूर्णांतया नवीन प्राकार की होती है।

हेगेल का विचार है कि प्रकृति जड़ नहीं है। प्रकृति चित्त का ही बद्ध और ससीम प्रकाश मात्र है। प्रकृति में दिखाई देनेवाले हमारे रूप और आकार के विभिन्न सामंजस्यों से यह सूचित होता है कि प्रकृति किसी एक रूप या आकार से ही नहीं बँधी है। प्रकृति निरन्तर अपने बद्ध रूप में रहकर भी मनुष्य के चित्त में स्थान पा लेने पर उस सीमा का भी अतिक्रमण कर जाती है। प्रकृति मनुष्य में प्रविष्ट होकर उसके चित्त की मुक्ति और प्रसार के द्वारा संजीवित होकर कला में आत्मपरिचय प्राप्त करती है। यही उसकी बन्धन-मुक्ति कहलाती है। प्रकृति यदि स्वभावतः चित्त-धर्मा न होती तो चित्त के साथ उसका मिलन भी संभव न होता। चित्सहयोग से अपने जड़त्व से मुक्तिलाभ करना ही जड़ का अनन्त मुक्तिपथ के प्रति अभियान कहलाता है। फिर भी ऐसा नहीं है कि बाह्य जड़ इसी उपाय से

---

1. What indeed this dead stuff is not the material with which Art deals. What it creates upon or within it belongs to the domain of the spirit, and is living as it is. (Ibid. P. 8).

मुक्तिपथ पर दौड़ते हों। हमारे मन में जो कुछ जड़धर्मा या नश्वरधर्मा है, जो कुछ मलिन और क्लेदमय है, वह भी हमारे अन्तर की चित् शक्ति के योग से स्वतंत्र रूप वाला हो जाता है। स्वतन्त्र रूप ग्रहण करना ही कला की सृष्टि की विशेषता है। इसी कारण कला के अभियान को पूर्णता की प्राप्ति का प्रयत्न कहा जाता है। जो अपूर्ण खण्डित और विच्छिन्न है वह चैतन्य की दीप्ति से जितना ही प्रकाशित होता है उतना ही उसे कला के रूप में महत्त्व मिलता है। इसी पूर्णता-प्राप्ति का प्रयत्न ही मनुष्य का श्रेय के पथ पर अभियान है। यही मंगल मार्ग में अभियान है। हमारी चित्शक्ति की आत्मपूर्ति और आत्मलाभ की गति ही ऐसी है कि वह अपने सामने अपना अपूर्ण, क्षुद्र, क्षणी तथा मलीन रूप प्रतिफलित करके तीव्र गति से उसे अपनी पूर्णता में मिला लेती है। इसी प्रकार पूर्णता से पूर्णता की ओर चलना ही चित्शक्ति की गति है। इस प्रसंग में हमें उपनिषद् का कथन स्मरण आता है :

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

यद्यपि इस पूर्णता की ओर ले जानेवाली कला की गति में भी श्रेय तथा प्रेय दोनों ही सम्मिलित रहते हैं, तथापि जब चित्शक्ति के प्रयोग से कोई भी क्षुद्र वस्तु या खण्ड चित् स्वभाव धारण करके उसी में विलीन हो जाती है और इस प्रकार पूर्णता के साथ प्रकाशित होती है, तब उसे हम कलासृष्टि कहते हैं। इस जगह हेगेल का काण्ट से थोड़ा साम्य है। काण्ट ने कहा है कि किसी अन्तरंग नियम के वश में होकर जब कोई रूप हमारी चित्तवृत्ति में ऐसा विशिष्ट रूप या आकार धारण कर लेता है कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य की आवश्यकता नहीं रह जाती तब उसके परिणामस्वरूप होनेवाले व्यापार को ही सौन्दर्य कहते हैं। हेगेल ने भी उसी रूप में एक सर्वव्यापी अन्तरंग नियम के फलस्वरूप साध्य और साधन, भाव और वस्तु, विशेष और सामान्य के मिलन के परिणामस्वरूप व्यापार को सौन्दर्य की सृष्टि बताया है। काण्ट और हेगेल दोनों का ही प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर ऐसा लक्ष्य या अभिनिवेश नहीं पाया जाता। मनुष्य के चित्त द्वारा की गई सृष्टि को ही विशेषरूप से सौन्दर्य कहा गया है।

हेगेल ने जहाँ एक ओर सौन्दर्य की बाह्य सत्ता को स्वीकार किया है वहाँ यह भी कहा है कि अन्तर की चिदभिव्यक्ति या चित् परम्परा के साथ सम्मिलन हुए बिना केवल बाह्य रूप में ही कोई वस्तु सौन्दर्य की उपाधि धारण नहीं कर सकती। केवल बाह्य स्थिति में ही सौन्दर्य का मापदण्ड नहीं पाया जाता। हेगेल

का मत है कि विशिष्ट रूप में उपस्थित चिदभिव्यक्ति को ही सौन्दर्य कहते हैं अर्थात् जब चिदभिव्यक्ति अपने आन्तर स्वरूप में बाह्य वस्तु को अपने अनुरूप बनाकर ग्रहण करती है तभी उसे सुन्दर कहा जाता है। चिदभिव्यक्ति के आन्तरिक रूप को सत्य और तद्रूपापन्न बाह्य वस्तु को सुन्दर कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि के समय हम किसी बाह्य वस्तु को अपनी आन्तरिक कल्पना के अनुरूप रचते हैं। बाह्य वस्तु के अभाव में आन्तर कल्पना केवल अन्तर्धर्मावच्छिन्न रह जाती है। उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता व्यक्त नहीं होती। यदि बाह्य सत्ता चित् धर्म के अनुगत न हो तो वह भी जड़मात्र रह जाती है। जिस समय जड़ अपनी जड़ता का अतिक्रमण करके चित् धर्म का अनुगत होकर अपनी एकान्त ससीमता से मुक्त होकर कल्पना की असीमता में अपने को घुमाता और व्याप्त करता है और इसी सुयोग में जब आन्तरिक कल्पना बाह्य रूप का आश्रय लेकर स्पष्ट रूप धारण करके अपना परिचय देती है, तब इन दोनों के मिलन से ही कला और सौन्दर्य की सृष्टि होती है। इसी कारण सुन्दर में रूप एवं अरूप का, कल्पना एवं वस्तु का, जाति या प्रत्यय (आइडिया) और आकार (फॉर्म) का अयुत-सिद्ध समवाय पाया जाता है।

इस सम्बन्ध में और अधिक कहने के पूर्व हेगेल के मत के सम्बन्ध में दो-एक बातें बताना आवश्यक है। हेगेल का दर्शनशास्त्र अत्यन्त जटिल है। उन्होंने उसे कई हज़ार पृष्ठों में लिखा है। उनके बहुत-से टीकाकारों ने स्वरचित ग्रंथों के हज़ारों पृष्ठों में उसकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। अतएव यद्यपि हमें यह विश्वास नहीं है कि हम इस ग्रंथ के दो-चार पृष्ठों में ही उसके मत के सम्बन्ध में व्याख्या प्रस्तुत कर सकेंगे, तथापि उनके मत की मोटी-मोटी बातें समझ लेने पर कला-सम्बन्धी उनके मत को समझना कठिन न रहेगा। इसी कारण हम उनके सम्बन्ध में यहाँ कुछ और कहना चाहते हैं। दर्शनशास्त्र मात्र ही कार्य-कारण का अनुसन्धान-कर्त्ता है। यह तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सर्दी पड़ने पर जल जमकर बर्फ बन जाता है, किन्तु सर्दी के कारण जल को क्यों जमना पड़ेगा, इस बात की खोज ही दार्शनिक गवेषणा के क्षेत्र में आती है। यह भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि किस कारण से कौन-सा कार्य सिद्ध होता है, किन्तु वैसा कार्य होने में अवश्यभावित्व रूप का नियम ही उसकी आभ्यन्तरीण युक्ति या व्याख्या कर सकता है। इस कारण जो जगत् की व्याख्या करने को उद्यत हुए हैं, उनका काम कार्य-कारण शृंखला का निर्देश कर देने मात्र से नहीं चलेगा। उनको इस प्रकार का एक अवश्यभावित्व नियम खोजना ही पड़ेगा जिसके प्रयुक्त होने पर

जगत् का समस्त व्यापार चलता है और जिस नियम का व्यवहार करने पर किसी भी एक अव्यक्त स्तर से जगत् के समस्त व्यक्त स्तर का साधारण साध्य-साधन के रूप में निर्णय (डिड्यूस) किया जा सकेगा । इसी कारण हेगेल ने कहा है कि यह बता देने से कि किस कारण से कौन-सा कार्य होता है, कार्य की व्याख्या नहीं होती, बल्कि किसी अवश्यभावित्व नियम के आधार पर यह बताना होगा कि किस कारण से कौन कार्य अवश्य होगा ही । इसी अवश्यभाविता नियम को 'रीज़न' कहते हैं । 'रीज़न' एवं कारण में यही भेद है कि कारण एक वस्तु है, किन्तु रीज़न एक वस्तु नहीं है । एक त्रिभुज के तीनों कोणों का उसके त्रिबाहु के अनुपात में साम्य हो सकता है, किन्तु त्रिभुज का साम्य वाला रूप किसी भी अन्य त्रिभुज से विशेष स्वतंत्र रूप का नहीं होता । इस कारण अवश्यभावि-नियम (रीज़न) को किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जा सकता । वह किसी व्यक्तिगत अनुभव पर निर्भर नहीं करता । किसी भी द्रष्टा के न होने पर भी जहाँ त्रिभुज साम्यत्व होता है, वहीं त्रिकोण साम्यत्व का होना भी आवश्यक है । वस्तु-निरपेक्ष रूप में अवश्यभावि नियम (रीज़न) की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । अवश्यभावित्व नियम के होने से ही यह व्यापक होता है । जगत् के मूल में ही एक अवश्यभावित्व नियम है । उस नियम के अनुसार ही समस्त जगत् की क्रिया चला करती है । परन्तु इस नियम को साधारण तरीके से युक्तिप्रणाली नहीं कहा जा सकता । यद्यपि हम कहते हैं कि अफीम के सभी फूल देखने में सुन्दर होते हैं और क्योंकि उसका कोई-कोई फूल लाल होता है, अतएव कोई-कोई लाल वस्तु सुन्दर होती है । इस स्थान पर अफीम का फूल एक जाति मात्र है, लाल भी एक व्यापक जाति है और सुन्दर भी एक व्यापक जाति ही है । 'समस्त' पद व्यापक जाति-सूचक है और 'कोई-कोई' पद बहुत्व का ज्ञापक है । 'होता है' पद अस्तित्व या अन्त का सूचक है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जातिरूप सुन्दरता में अफीम-फूल की जाति अन्तर्निविष्ट रहती है । इस अफीम-फूल की जाति में लोहितत्व-धर्म सन्निविष्ट रहता है । इस प्रकार के तादात्म्य-धर्म-निबन्धन के द्वारा लोहितत्व-जाति को सुन्दरत्व-जाति में अंतर्भुक्त कर लिया जाता है । अभिप्राय यह है कि सामान्य-सुन्दरता में अफीम का फूल भी सुन्दर होने के कारण ग्रहण कर लिया जाता है, उसकी सुन्दरता सामान्य-सुन्दरता का ही एक रूप है । इसी प्रकार सभी अफीम के फूल लाल होते हैं, अतएव लोहितत्व-धर्म का अफीम के फूल के साथ बोध हो जाता है । अतएव अफीम के फूल को सुंदर कहने पर यह आप-से-आप सिद्ध हो जाता है कि उसका लाल रंग सुन्दर है । युक्ति के रूप में व्यवहृत होने पर भी वस्तुतः यह

जातिगत अन्तर्निवेश का अवश्यंभावी फल है। बौद्धों की युक्ति थी : 'अयं वृक्षः शिंशपत्वात्' अर्थात् यह शिंशपा है इसीलिए यह वृक्ष है। शिंशपा होने पर वृक्ष होना ही पड़ेगा। कारण यह है कि वृक्ष-सामान्य के अन्तर्गत ही शिंशपा-सामान्य भी एक प्रकार के वृक्ष ही हैं। शिंशपा-जाति वृक्षत्व-जाति में अन्तर्भुक्त है। ऐसे स्थानों पर अवश्यभावित्व नियम माना जाता है। अतएव यों तो अवश्यभावित्व नियम (रीज़न) वस्तु-जगत् का विषय होता है। परन्तु सामान्य जातित्व के रूप में व्यवहार करने पर इसे युक्ति भी कह सकते हैं।

किसी भी वस्तु को जगत् का आदिकारण मानकर जगत् की व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि यह समझना कठिन होता है कि इस आदिकारण से कोई कार्य-विशेष क्यों और कैसे उत्पन्न होता है। इस कारण जगत् के आदि में एक अवश्यभावित्व नियम स्वीकार करना ही पड़ता है। इस नियम को अन्य-निरपेक्ष होना चाहिए, क्योंकि अन्य की अपेक्षा करने पर भी उसकी व्याख्या न की जा सके तो यह आदि-नियम और भी गूढ़ तथा रहस्यमय जान पड़ेगा। हेगेल द्वारा प्रस्तावित अवश्यभावि-नियम अपनी व्याख्या आप करता है, इसके लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता। यदि यह मानें कि समस्त जगत् का सारा व्यापार एक अवश्यभावि-नियम का ही अनुसरण करता है तो उस आदि-अन्त-हीन नियम के लिए और किसी नियम की आवश्यकता या पूर्वापेक्षा नहीं रहती। इस दशा में यह मानना ही पर्याप्त होगा कि चाहे किसी का विचार करें वह सब एक अवश्य-भावि-नियम के द्वारा ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार एक वृत्त के रूप में एक अवश्यभावि-नियम-श्रृंखला बनती है, जिसके माध्यम से समस्त वस्तुएँ आत्म-प्रकाश प्राप्त करती हैं। यह अश्वयभाविता नियम कोई एक विशेष नया नियम नहीं है, क्योंकि जगत् का आदि-मध्य-अन्त चाहे जहाँ जान पड़े, वहीं पर यह नियम आत्मप्रकाश फैलाता है।[1]

हम देख चुके हैं कि यह नियम सभी जातियों के विशिष्ट जातीय अन्तः-संश्लेष पर निर्भर रहता है। प्लेटो ने जाति को आइडिया कहा है। उन्होंने उसकी स्वतंत्रत बहिस्सत्ता स्वीकार की है। काण्ट ने जाति की केवल मानस-सत्ता स्वीकार की है, किन्तु हेगेल ने दोनों को स्वतन्त्र माना है। ऐन्द्रियक-धर्म से सम्बन्ध-रहित विशुद्ध जाति-समूहों (प्योर नॉन-सेन्सुअस यूनीवर्सल्स) को ही उन्होंने जगत् का आदिकारण माना है। हमने पहले जिस अनुमान-प्रक्रिया का विचार किया है—

1. In the Hegelian Logic it is the reason as a whole, the entire principle of rationality, which is given as the source and foundation of the world.

समस्त अफीम के फूल सुन्दर होते हैं, आदि—वहाँ यदि अफीम के फूल के बदले हम कहें, समस्त 'क' ही 'ख' हैं, कितने ही 'क' 'ग' हैं, अतएव कितने ही 'ग' 'ख' हैं तो वहाँ बहिर्गत किसी जाति का उल्लेख नहीं होता फिर भी अवश्यभावि-नियम अव्याहत रहता है। इस नियम में कोई ऐन्द्रिय धर्म नहीं होता, इसलिए अन्वीक्षावृत्ति में पाई जानेवाली अवश्यभाविता के साथ ऐन्द्रिय धर्म का संबंध नहीं होता। जगत् के सभी व्यापारों के मूल में स्थित इस नियम की परम्परा कालक्रमागत परम्परा नहीं होती, अपितु वह अन्वीक्षामूलक अश्यभाविता की परम्परा होती है। जिसे हम आदिकारण कहते हैं, उसका कालगत कोई आदिरूप नहीं होता। उसका आदित्व इसी नियम के आधार पर माना जाता है। यदि कहा जाय कि विशुद्ध सत्ता ही जगत् का आदि है तो उसका अर्थ यह नहीं है कि किसी एक आदिकाल में विशुद्ध सत्ता थी, बल्कि उसका तात्पर्य यह है कि समस्त व्यापार और विशिष्ट सत्ता का विश्लेषण करने पर जब हम परम्परा-क्रम से विचार करते हैं कि किस वस्तु के अभाव में कौन-सी वस्तु नहीं हो सकती थी अथवा किसके न होने से क्या हो सकता था, तभी हम विशुद्ध सत्ता तक पहुँचते हैं। उसके पश्चात् हम कहीं विचलित नहीं हो सकते। इस नियम के आधार पर परम्परा-क्रम से विशुद्ध सत्ता से लेकर समस्त जातीय विशिष्ट सत्ता तक की व्याख्या की जा सकती है। किसी वस्तु के कारण के सम्बन्ध में उसके आदिस्वरूप का विचार किया जाता है, किन्तु अश्वयभावि-नियम (रीज़न) की आदिभाविता काल-गत नहीं होती। उसकी आदिभाविता अवश्यभाविता या अन्वीक्षाक्रम की ही आदिभाविता है। काण्ट के द्वारा कथित मानस-जाति ऐन्द्रिय-संसर्ग-वर्जित होती है, जैसे, एकत्व, बहुत्व, सत्ता, द्रव्यत्व इत्यादि। ऐन्द्रिय धर्म से युक्त समस्त जाति के व्यवहार, यथा श्वेत, अश्व, गो इत्यादि में से किसी के न रहने पर भी दृश्य संसार अचल और असंभव नहीं होता, किन्तु एकत्व, बहुत्व, सत्ता, द्रव्यत्व आदि ऐन्द्रिय-धर्म-संसर्ग-विहीन जाति न रहने पर संसार की कल्पना ही असंभव है। इसी कारण यह समस्त अनैन्द्रियक-जाति समस्त ऐन्द्रिय-जाति की अवश्यभाविता-धर्म से पूर्ववर्ती होती है। इन अनैन्द्रियक जातियों को अन्तस्तत्व (कैटेगरी) कहते हैं। यद्यपि इनके न होने पर जगत् की कल्पना संभव नहीं है, किन्तु अन्तस्तत्व-समूह को जगत् का पूर्ववर्ती मान लेने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसके आधार पर जगत् की कल्पना अवश्य की जा सकती है। वृष्टि होने पर ही यह समझा जाता है कि आकाश में मेघ हैं, किन्तु मेघों के होने पर भी वर्षा होगी ही, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जगत् की व्याख्या करते हुए अन्तस्तत्व

समूह को आवश्यक रूप से पूर्ववर्ती कहने से ही काम नहीं चलता, बल्कि यह दिखाना भी आवश्यक है कि उनके होने पर भी अवश्यभावित्व नियम से जगत् के व्यापार अनिवार्य रूप से यथावत् रहते हैं। अर्थात् समग्र जगत् को अन्तस्तत्व समूह से अवश्यभाविता नियम के सम्पन्न कर सकने की सामर्थ्य होनी चाहिए। हमें यह सिद्ध करना चाहिए कि अवश्यभावित्व नियम के अनुसार अन्तस्तत्व समूह से ही जगत् की सत्ता आविष्कृत होती है।[1] इस संबन्ध में काण्ट की ओर से कोई सहायता नहीं मिलती। काण्ट ने यह तो बताया है कि अवश्यभाविता के अनुसार अन्तस्तत्व समूह की सत्ता जगत् की सत्ता की पूर्ववर्तिनी होती है, किन्तु उन्होंने ऐसा कोई रास्ता नहीं बताया है कि जिससे अन्तस्तत्व समूह से जगत् को पृथक् किया जा सके। अन्तस्तत्व समूह के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस विषय में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए कि अन्तस्तत्व की वस्तु से पृथक् कोई स्वतन्त्र आदिकालिक सत्ता नहीं है। वस्तु को छोड़कर अन्तस्तत्व नहीं रह सकता, किन्तु वस्तु-विश्लिष्ट अन्तस्तत्व समूह की एक स्वतन्त्र मानस-सत्ता अवश्य पाई जाती है। उदाहरणतः, 'कुछ दूध' कहने पर 'दूध' की धारणा के साथ 'कुछ' की धारणा भी जुड़ी रहती है। यह 'कुछ' की धारणा एक परिमाण (क्वान्टिटी) की धारणा है जो दूध की धारणा से पृथक् है। यह धारणा अनैन्द्रियक है और इसके न होने पर दूध की धारणा भी संभव नहीं है, जबकि दूध की धारणा न होने पर भी 'कुछ' की धारणा हो सकती है। हम कह सकते हैं: 'कुछ जल, कुछ तेल, कुछ प्रकाश है'। इन समस्त स्थलों पर 'कुछ' एक अनैन्द्रियक धारणा या अन्तस्तत्व है जिससे अयुक्त रहने पर ऐन्द्रिय पदार्थ का प्रकाश नहीं होता। इस कारण एक तौर पर 'कुछ' नामक अन्तस्तत्व का विश्लेषणात्मक विकल्प (एब्सट्रक्शन) होने पर ही अनुभव के द्वारा उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जाती है। भले ही इसका प्रकाश व्यक्तिगत कल्पना के सहारे होता है परन्तु यह सत्ता किसी व्यक्ति-विशेष के विकल्प पर निर्भर नहीं रहती। विकल्पमूलक होने के कारण अन्तस्तत्व की कोई वस्तु-सत्ता नहीं होती। दूसरे से उत्पन्न मानकर भी इनकी आन्तरिक सत्ता को फिर भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। (The categories have reality but no existence).

1. The world must be logically deduced from the categories just as the conclusion is deduced from the premises.........We must demonstrate that the categories necessarily give rise to a world, that they are a reason from which the world follows as consequent ; and we can only do it by deducing the world logically from the categories.

जाति की सत्ता मनाने पर प्रश्न उठता है कि ज्ञान और ज्ञेय के बीच साम्य होता है कि नहीं? हेगेल के मतानुसार ज्ञान और ज्ञेय के बीच एकत्व माने बिना ज्ञान-प्रक्रिया को समझाया ही नहीं जा सकता। ज्ञान होने पर भी जाति या सामान्य की उपेक्षा करके हमें ज्ञान नहीं हो सकता। भाषा का प्रत्येक शब्द एक सामान्य या जाति को द्योतित करता है, एवं जिसे हम व्यक्ति कहते हैं वह भी कितने ही सामान्यों से संघटित होकर जन्म लेता है। यह कहा जा सकता है कि वस्तुएँ सामान्यात्मक नहीं हैं, किन्तु हमारी विचार-प्रक्रिया में ही सामान्य की छाप रहती है। इस कारण हम सामान्याकार को त्यागकर विचार नहीं कर सकते। इसीलिए कहा गया है कि बहिर्वस्तु का स्वरूप अज्ञेय (अननोएबिल) होता है। काण्ट पर किया गया दोषारोपण इस पर भी लागू हो सकता है। अतएव यह कहना पड़ेगा कि ज्ञेय सत्ता ज्ञातृ सत्ता पर निर्भर करती है और जिन जातियों को हम प्रत्यक्ष मानते हैं उनकी तदनुरूप बाहःसत्ता भी होती है। ज्ञान में पाये जानेवाले वस्तु के स्वरूप से यदि वस्तु भिन्नजातीय भी हो तो भी उस प्रकार की वस्तु के साथ ज्ञान या ज्ञाता का तनिक भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। वैसा होने पर ज्ञेय वस्तु एकान्त अज्ञेय हो जाती है और ज्ञान असंभव हो जाता है। इस कारण ज्ञानलब्ध को ही सत् मानते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्ता और ज्ञान अभिन्न होते हैं। सत्ता का अर्थ ही है ज्ञानगोचरता। इस बात का तो कोई अर्थ ही नहीं है कि ज्ञात सत्ता के साथ सम्बन्ध न होने पर भी वह सत्तावान है। जिसे हम जगत् कहते हैं उसकी भी ज्ञान-सत्ता के स्वरूप के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। विज्ञानवाद की समस्त शाखाओं में ज्ञान और सत्ता का अभिन्नत्व स्वीकार किया गया है, किन्तु जैसे ज्ञाता और ज्ञेय का अभिन्नत्व माना जाता है, ज्ञाता से सम्पर्क के अभाव में जैसे ज्ञेय का आत्मप्रकाश नहीं होता और ज्ञेय का प्रत्येक आत्म-प्रकाश ज्ञाता के साथ नितान्त सम्बद्ध भाव से हो सकता है, वैसे ही ज्ञेय को ज्ञाता के विरोधी स्वभाववाला भी कहा जा सकता है। 'मैं यह जानता हूँ' कहने पर हम जिसे जान पाते हैं, वह हमसे अलग रहकर अनात्म तथा वस्तु के रूप में प्रकाशित होता है। वस्तु के साथ ज्ञान का एकत्व होने पर भी ज्ञातृ-ज्ञेय या प्रकाश्य-प्रकाश रूप में दोनों की प्रतीति होने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता। वस्तुतः ज्ञान-व्यापार का तात्पर्य ही यह है कि ज्ञाता अपने अंश को अपने से पृथक् रूप में अपने सम्मुख उपस्थित पाता है और उसके साथ सम्मिलन का अनुभव करता है। हम जिस प्रस्तर-खण्ड को देखते हैं वह आत्म से पृथक् और अनात्म होता है, तथापि हमारे ज्ञान का विषय हो जाने पर यह हमसे पृथक् नहीं रह

जाता, बल्कि ज्ञान की अवस्था में यह हमारा ही विशेषण बन जाता है। यदि यह एकान्ततः पृथक् होता तो इसके सम्बन्ध भी कुछ भी जानना संभव न होता, किन्तु यह ज्ञान के माध्यम से उपस्थित होता है इसलिए उस प्रस्तर-खण्ड को भी ज्ञानाकार युक्त कहा जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के ऐक्य में ही सारा जगत् समाया हुआ है। इस ऐक्य को नष्ट करके किसी भी वस्तु का आत्मप्रकाश संभव नहीं है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों की ऐक्यात्मक त्रिपुटी बन जाती है। ज्ञान-सत्ता से एकान्ततः स्वतन्त्र कोई वस्तु-सत्ता नहीं रह सकती। ज्ञान में ही समस्त ज्ञेय समाहित रहते हैं एवं ज्ञेयमात्र को समझना केवल ज्ञान के माध्यम से ही संभव हो सकता है। ज्ञातृ ज्ञेय की समष्टि रूप ज्ञान को ही हेगेल ने निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) कहा है। ज्ञान के स्वाभाविक विकास में कल्पित अन्तस्तत्व और उसके साथ ऐन्द्रिय धर्म के संयोग से होनेवाला ज्ञान और अनादिकाल से इतिहास, दर्शन और कला में दिखाई देनेवाली लीलापद्धति आदि सभी इसी निरपेक्ष में स्थित होते हैं। समस्त जगत् का व्यापार इसी का आत्म-प्रपंच है, इसी की आत्म-व्याख्या, आत्म-प्रसार अथवा आत्म-संकोच है। अन्तर की ओर ध्यान देने पर हमें अन्तस्तत्व समूह की जिस जाति और उसके जिस आकार के आन्तरिक रूप का अनुभव होता है, बाह्य जगत् के जड़ रूपों में भी वही भिन्न-भिन्न अन्तस्तत्वों में दिखाई देता है। हम अन्तर में जैसे द्रव्यत्व या एकत्व का अनुभव करते हैं, बाहर भी तदनुरूप द्रव्य एवं वस्तु के एकत्व का अनुभव करते हैं। आन्तर और बाह्य दोनों ही ज्ञान-रूप हैं। एक ही जाति की जाति-सत्ता ज्ञान और ज्ञेय के रूप में अन्तर्बाह्य रूप में वर्त्तमान रहती है। हेगेल के निरपेक्ष का अभिप्राय क्या है इस सम्बन्ध में विद्वत्समाज में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है। बहुतों ने हेगेल के निरपेक्ष को कुछ अन्तःसारशून्य अन्तस्तत्वों की समष्टि मानकर उन पर अन्यथा दोषारोपण किया है। यहाँ तक कि ब्रैडले ने भी कहा है कि : The Hegelian Absolute is no more than an unearthly ballet of bloodless categories। यदि हेगेल निरपेक्ष को अन्तस्तत्व न मानकर उसको एक पदार्थ मानते तो संभव था कि समालोचकों के बीच इतना मत-वैषम्य न होता। किन्तु उन्होंने निरपेक्ष को जैसे एक ओर अन्तस्तत्व कहा है वैसे ही दूसरी ओर कारण, द्रव्य, सत्, गुण आदि भी कहा है। हेगेल के मत से गुण-समूह में कोई भेद नहीं है। द्रव्यत्व-जाति ही बाह्यतः द्रव्याकार में रहती है। वस्तुतः द्रव्यत्व, गोलत्व, मृदुत्व आदि जाति समवाय का प्रत्यक्ष करके ही हम कहते हैं कि हमने प्रस्तर-खण्ड देखा है। निरपेक्ष को द्रव्य मानने में हेगेल को संकोच नहीं जान पड़ता। किन्तु यदि उसे

ज्ञान के अतिरिक्त कोई द्रव्यसत् माने तो हेगेल उसे स्वीकार न करेंगे, क्योंकि वह ज्ञानातिरिक्त किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते। ज्ञान के क्षेत्र में समस्त वस्तुओं के ऐक्य को ही अद्वैतवाद कहते हैं। हेगेल ने दिखाया है कि अपने को अनेक आकारों में प्रकाशित करना ही ज्ञान का स्वभाव है। इन्हीं अनन्त विभाजित ज्ञान खण्डों के द्वारा ही अद्वैत से द्वैत की उत्पत्ति होती है और पुनः द्वैत में उनका लय हो जाता है। हेगेल ने अपने 'लॉजिक' ग्रंथ में सिद्ध किया है कि केवल सत्ता की परिकल्पना ही ज्ञान की आदि कल्पना है। हमारी कल्पना में इसकी अपेक्षा कोई दूसरा मौलिक तत्व उपस्थित नहीं होता। विशुद्ध सत्ता-असत्ता के बीच भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। विशुद्ध सत्ता-असत्ता के भेद के अभाव में इन दोनों का ऐक्य स्वीकार करते हुए सत्ता-असत्तामूलक व्यापार का बोध उत्पन्न होता है। इसी व्यापार के परिणामस्वरूप जब किंचित् असत्ता विशिष्ट सत्ता का रूप ग्रहण कर लेती है, तभी हमारे मन में गुण-कल्पना का उदय होता है। इस आधार पर हेगेल ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि सब प्रकार की अनैन्द्रियक जाति या अन्तस्तत्व क्रमशः इसी सत्ता-असत्तामूलक व्यापार की परिणति-स्वरूप उत्पन्न होते हैं। अन्तर्जगत् में जिस प्रकार अन्तस्तत्व का समूह उत्पन्न होता है, ज्ञान और सत्ता की बहिःसत्ता भी अपृथकत्व-नियम के कारण उसी रूप में ध्वनित होती है।

साधारणतः अन्य समस्त दर्शनों में सामान्य और विशेष का यही पार्थक्य पाया जाता है कि सामान्य के साथ अन्य धर्म के संयोग से विशेष की उत्पत्ति होती है। वर्ण एक सामान्य धर्म है। इसके साथ नवीन-नवीन वैशिष्ट्य का संयोग होने पर इसको लाल, नीला, काला इत्यादि कहा जाता है। किन्तु हेगेल ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि समस्त विशेष अपने विपरीत धर्मों के रहते हुए भी सामान्य में ही गर्भित रहते हैं, एवं अन्तर्विश्लेषण के द्वारा प्रत्येक सामान्य को उसके अन्तर्गठित विशेष रूपों में परिणत किया जा सकता है। सत्ता मात्र को सर्वसामान्य रखकर समस्त अन्तस्तत्व समूह की उससे परिणति दिखाई जा सकती है। सामान्य में ही समस्त विशेष तिरोहित रहते हैं, यह बताते हुए हेगेल ने सिद्ध किया है कि विशुद्ध सत्ता में विशुद्ध असत्ता लीन रहती है। विशुद्ध सत्ता-असत्ता को एक साथ ग्रहण करने से ही सम्पूर्ण विभिन्न व्यापारों (बिकभिङ्ग) का बोध होता है। इसी व्यापार के द्वारा विशेषीकृत अवस्था में सत्ता जब किंचित् असत्ता युक्त होकर दिखाई देती है तब वह विशिष्ट सता के रूप में प्रकाशित होती है। यह विशिष्ट सता जब उस विशेष के साथ प्रकाशित होती है, तभी

गुण (क्वालिटी)का प्रकाश होता है। इसी द्वन्द्व-पद्धति से हेगेल ने सामान्य विशुद्ध सत्ता से अन्यान्य सभी जातित्व समूहों की परिणति सिद्ध की है। इसी द्वन्द्व-पद्धति को 'डाइलैक्टिक मैथड' कहते हैं।[1] इस द्वन्द्व में पूर्वोक्त अवश्यभावी-नियम मूल रहस्य के समान वर्त्तमान रहता है। साधारण बुद्धि से सत्ता-असता पूर्णतया भिन्न होती हैं, किन्तु अवश्य भावी-नियम के द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि आपाततः भेद होने पर भी सत्ता-असता में इस प्रकार का एक सम्वन्ध रहता है कि दोनों को एक ही माना जा सकता है और सत्ता से उसके अवश्यभावी सहयोगी के रूप में असत्ता का आविष्कार किया जा सकता है। सामान्य मात्र अस्फुट होता है। सामान्य से विशेष की अवतारणा होने पर ही यह बात समझी जा सकती है कि सामान्य में अस्फुट, गोपन और असत् आकार में तिरोहित रहनेवाली वस्तु के स्पष्ट होने पर वही सामान्य अपने को विशेष आकार में प्रदर्शित करता है। जो गोपन और अस्पष्ट था, वह प्रकट हो जाता है। हेगेल का कथन है कि दो विरोधी तत्वों के समन्वय से विकास हुआ करता है। विकास का क्रम सीधा नहीं होता। उसकी विधि कुछ इस प्रकार है कि 'क' का विरोधी तत्व है 'ख' और उनका समन्वय 'ग' में होता है। यहाँ 'क' पक्ष (थीसिस) है, 'ख' प्रतिपक्ष (एएटी थीसिस) है, 'ग' सन्तुलन (सिन्थीसिस) है। परन्तु यह 'ग' भी स्थिर नहीं रहता। उसका प्रतिपक्ष 'घ' होता है। फिर दोनों का सन्तुलन 'ङ' में होता है। इसी प्रकार विकास का क्रम जारी रहता है। प्रत्येक रचना पक्ष, प्रतिपक्ष तथा सन्तुलन इन तीनों के नवीन रूप के माध्यम से प्रकट हुआ करती है। हेगेल लिखित 'लॉजिक' पढ़ने से पता चलता है कि समस्त अन्तस्तत्व समूहों को परम्परा-क्रम से विकसित दिखाने की चेष्टा की गई है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सदा इसी क्रम से उन्नति हुई है। संभव है अनेक अन्तस्तत्व समूहों के सम्मिलन में रहनेवाले विरोधी तत्वों के माध्यम से ही एक नूतन अन्तस्तत्व का सर्जन हो सके। इस प्रकार बाह्य तथा आन्तर जगत् के संयोग से नूतन चिद्जगत् के प्रकाश में ज्ञान अपना पूर्ण आत्मपरिचय प्राप्त करता है। अर्थात् उस संयोग की अवस्था में एक नवीन और परिपूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो जाता है। बाह्य तथा अन्तर्जगत के सन्तुलन में ही चिद्जगत् प्रकाशित होता है। ज्ञान की इस त्रिपुटी का नाम ही 'आइडिया' है। इस प्रकार 'लॉजिक' में तीन मोटे भेद सत्, तत्व और विकसनशील चेतना

---

1. Hegel's discovery consists in it that the required differentia is always negative, and when this is understood, it is seen that the old view that the genus excludes the differentia is not the complete truth.

(बीइङ्ग, एसेन्स, नोशन) करके 'आइडिया' की कल्पना की गई है। प्राकृत जगत् में भी इसी प्रकार स्वतन्त्र रूप से इसका प्रकाश दिखाने की चेष्टा की गई है। पुनः विषयी, विषय और चित्तत्व को लेकर स्वतन्त्र भाव से 'आइडिया' को समझाने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार की त्रिपुटी में आत्मप्रकाश करनेवाली ज्ञानमय परमसत्ता की इस त्रिरूप स्थिति या आत्मलीला को 'आइडिया' कहते हैं। इस कारण 'आइडिया' कहने पर जिस प्रकार एक ओर अन्तस्तत्व समूहों की समष्टि का बोध होता है, वैसे ही दूसरी ओर इसे समस्त अन्तस्तत्वों की शेष या चरम अवस्था भी कहते हैं। क्योंकि तत्व में समस्त तत्व निहित रहते हैं, इसीलिए आइडिया और अन्तस्तत्व एक ही हैं। एक ओर प्रकृति (नेचर) को इसके विपरीत कहा जा सकता है, क्योंकि उसका हमारे अन्तर के साथ ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध रहता है और ज्ञेय होने के कारण ही प्रकृति ज्ञान से भिन्न मानी गई है तथा उसे 'आइडिया' नहीं माना गया है और दूसरी ओर वह भी ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उसके विविध रूपों के प्रकाश में 'आइडिया' ही विभिन्न अन्तस्तत्वों में प्रकाशित होता है। इसी प्रकृति के साथ अन्तर्जगत् के विरोध और सम्मिलन में होनेवाले आत्मलाभ के माध्यम से ही 'आइडिया' का विभिन्न अन्तस्तत्वों में प्रकाशन देखा जा सकता है। ज्ञान में ही वह शक्ति है कि वह बाह्य तथा आन्तर के सम्बन्ध से एक नूतन आत्मलाभ के परिणामस्वरूप अपने को नवीन रूप में प्रकाशित कर सकता है।[1] हमारे अन्तर्लोक तथा बहिर्लोक के सम्मिलन में होनेवाली चित्स्फूर्ति को हेगेल ने 'स्पिरिट' कहा है। इसके उन्होंने तीन भाग किये हैं, जिनके नाम क्रमशः सत्ता, असत्ता और विशिष्ट सत्ता या सब्जेक्टिव स्पिरिट, ऑब्जेक्टिव स्पिरिट, एब्सोल्यूट-स्पिरिट हैं। असत्ता के अन्तर्गत उन्होंने आचार-शास्त्र (एथिक्स) एवं राज्य-दर्शन

---

1. Nature as the anti-thesis of the logical Idea is the opposite of the Idea. It is not the Idea. Yet we have already described Nature as the Idea in otherness. Both statements are true. The relation of the Idea to Nature is that of thesis and anti-thesis. Thus it is the same as the relation of being to nothing, the first thesis and anti-thesis of the system. Nothing is in the first place different from being. It is not being. It is the opposite of being. In the same way nature is the opposite of the Idea. It is not the Idea. But on the other hand being is identical with nothing. Nothing is being. In the same way nature is identical with its opposite, the Idea. It is the Idia. We have as usual, identity in opposition. And this relation is usually expressed by saying that nature is the idea in the element of otherness.

(पॉलिटिकल फिलॉसफी) और विशिष्ट सत्ता के अन्तर्गत कला-दर्शन (फिलॉसफी ऑव आर्ट) एवं धर्म-दर्शन (फिलॉसफी ऑव रिलीजन) का विचार किया है।

हेगेल ने हमारे अन्तःबाह्य के सम्मिलन में प्राप्य वस्तु को ही निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) कहा है। ऐक्य कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि निरपेक्ष न तो आन्तर है न बाह्य, बल्कि इनका मध्यवर्ती एक विशेष विन्दु है। अन्तःबाह्य के मिलन में प्रकाशित नाना विचित्रतांओं में ही निरपेक्ष का ज्ञान प्राप्त होता है। केवल अन्तर्लोक का विचार करते समय उसे सत्ता कहते हैं। इसी सत्ता (सब्जेक्टिव स्पिरिट) के विचार के लिए हमारे मनोलोक के नाना व्यापार विषय-स्वरूप बन जाते हैं। इसे प्रचलित रूप में मनोशास्त्र (साइकोलॉजी) कहा जाता है। इस मनोशास्त्र के व्यापार को भी हेगेल ने उसी सत्ता, असत्ता, सत्ताभाव और विशिष्ट सत्ता की लीला के परस्पर सम्बन्ध और परस्पर परिणत भाव से दिखाने की चेष्टा की है। असत्ता (आब्जेक्टिव स्पिरिट) का विचार करते हुए हेगेल ने समाज, राष्ट्र और इतिहास में मनुष्यों का एक-दूसरे की सत्ता को स्वीकार करना और उसी स्वीकृति के परिणामस्वरूप उनके पारस्परिक सम्बन्ध या द्वन्द्व के रूप में समाज, नीति तथा राष्ट्र की कड़ी स्थापित होने का भी विचार किया है।[१] हेगेल ने दिखाने का यत्न किया है कि समस्त सामाजिक व्यवस्था किसी अवश्यभावी-नियम के द्वारा चला करती है और उसी नियम में पूर्वोक्त तीन रूप काम करते हैं। अधिकारसत्व, व्यापार, शासन, नियम, परिवार आदि ही सामाजिक व्यवस्था कहलाते हैं। यह सभी निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) के स्वगत नियमों के अनुकूल बहिः-प्रकाश और आत्मपरिचय मात्र हैं। अभिप्राय यह कि यह समस्त सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के व्यक्तिगत प्रयोजन के कारण उद्भूत नहीं है, बल्कि वह निरपेक्ष के आत्मलाभ के लिए एकान्त आवश्यक बहिःप्रकाश के नियम आविर्भूत हैं। निरपेक्ष के बाह्य प्रकाशन के लिए यह आवश्यक है कि वे व्यवस्थाएँ हों।

विशिष्ट सत्ता (एब्सोल्यूट स्पिरिट) के क्षेत्र में चित्त की यह वृत्ति देखी जाती है कि जिस स्थान पर हमारा चित्त या चित्स्वभाव इस विषय में सजग हो जाता है

1. Objective Spirit means the spirit which has issued forth from its inwardness and subjectivity and embodied itself in an external and outward world. The external world is not the world of nature........ it is a world which the spirit creates for itself in order to become objective, existent and effective in the actual world. It is in geneıal tho world of institutions. This means not merely the positive institutions of law, society and the state, but includes also customs and manners, the rights and duties of the individual, morality and ethical observances.

वहाँ चित्-विरोधी या प्राकृत मालूम होनेवाली सभी वस्तुएँ यथार्थतः चिन्मय और चित् स्वभाव वाली प्रतीत होती हैं। यही है चरम लाभ। इसी चरम लाभ के कारण चित् शक्ति अपने को एक ओर मनन-शक्ति और दूसरी ओर जड़-शक्ति, एक ओर अन्तःप्रज्ञ आत्मलोक और दूसरी ओर बहिःप्रज्ञ समाज और राष्ट्र में विभक्त करके अवशिष्ट समस्त विभागों की सीमा में ही अपने असीम ऐक्य का परिचय प्राप्त करके सार्थकता प्राप्त करती है। हेगेल ने कहा है कि कला, धर्म और दर्शन इन तीनों के माध्यम से होनेवाले उत्तरोत्तर श्रेय के द्वारा परम चित्स्वभाव अपना परम-परिचय प्राप्त करता है।

ऐन्द्रिय धर्म के स्वरूप में अपना प्रकाश फैलानेवाले चित्स्वभाव को सौन्दर्य कहते हैं। जब कोई भी चित् प्रेरणा अपने को किसी रंग, वस्तु या कल्पना के माध्यम से, उसे आत्मसात् करती हुई, अपने से अभिन्न बना लेती है और इस प्रकार आत्मपरिचय प्राप्त करती है तभी कला और सौन्दर्य की सृष्टि होती है। चित् प्राणों का बहिर्वस्तु के साथ अभिन्न रूप में प्रकट होना ही परमसत्य और परम सौन्दर्य कहलाता है। अतएव सत्य एवं सुन्दर दोनों अभिन्न हैं। इनमें भेद केवल इतना है कि सुन्दर स्थल पर 'आइडिया' को ऐन्द्रिय धर्म के साथ सम्मिलित करके देखते हैं, किन्तु सत्य में ज्ञान के ऐन्द्रिय तथा आन्तरिक आकार के मध्य रहने वाले ऐक्य की दृष्टि से विचार करते हैं। जो ज्ञानाकार में सत् है, वह ऐन्द्रिय आकार में भी सत् होता है। हमने पहले ही कहा है कि चित् तत्व (स्पिरिट) चाहे अन्तर्व्यक्त (सब्जेक्टिव) भाव से रहे या बहिर्व्यक्त (ऑब्जेक्टिव) भाव से रहे, जैसे, परिवार, राष्ट्र, नीति, समाज आदि हैं, चित् तत्व मात्र में आइडिया विद्यमान रहता है। आइडिया शब्द पारिभाषिक है। इसका अर्थ है 'रीज़न' या अवश्यभावि-नियम। पक्ष, प्रतिपक्ष और सन्तुलन इन तीनों में अवश्यभावि-नियम लागू होता है। बहिर्जगत् में भी यह आइडिया ही वस्तु तथा वृक्ष और प्राणि रूप में रहता है। बहुत तत्त्वों का एक तत्व में सम्मिलन होना इसका स्वाभाविक नियम है। किसी भी वस्तु का बहुत्व उसकी बाह्य दिशा है, उसका एकत्व उसकी अन्तर्दिशा। बहुत्व का एकत्व के माध्यम से प्रकाश ही आइडिया कहलाता है। किसी वस्तु का अवयव-अवयवी के रूप में प्रकाश ही उसका स्वरूप या आइडिया कहलाता है। अवयव-अंश उसकी बाह्य दिशा है, अवयवी उसकी अन्तर्दिशा। अवयव-अवयवी के बीच से होनेवाला उसका प्रकाश ही उसका स्वरूप है। उसके बहुत्व का उसके एकत्व के माध्यम से प्रकाश ही उसका आइडिया है। इसी में उसका सत्य और सौन्दर्य है। एकत्व के माध्यम से

जहाँ बहुत्व अभिन्न रूप से ग्रहण किये जाने पर जितना ही प्रकाशित होता है उतना ही वहाँ सौदर्न्य भी प्रकट होता है। इसी कारण अचेतन, जड़ पदार्थ के सौन्दर्य की अपेक्षा प्राणवान वस्तु में सौन्दर्य अधिक होता है और प्राणवान में भी वृक्ष आदि की अपेक्षा प्राणि जाति का सौन्दर्य अधिक होता है। इसका कारण यह है कि साधारण प्राणहीन वस्तु में अवयव-अवयवी सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं जान पड़ता, किन्तु प्राणवन्त में प्राणलीला के एकत्व में अनेक विरुद्ध जातीय सत्ताएँ विद्यमान रहती हैं। प्राणि जाति और क्रमशः उच्च प्राणियों में इसी एकत्व में बहुत्व का संचार और भी गहन, घनिष्ट और बहुल रहता है। किन्तु प्रकृति में या साधारण जीवन में एकत्व में बहुत्व होता तो है, किन्तु, यह न तो स्वतः आत्मप्रसार ही करता है न स्वाधीन ही होता है। यह एकत्व की क्रिया जड़ के अन्यान्य नियमों के कारण स्थान, देश, काल आदि के द्वारा नियंत्रित रहती है। किसी वृक्ष में दिखाई देनेवाला प्राण-स्वातन्त्रय उसके पास चारों ओर आलोक, जल तथा अपनी निजी बीजधातु द्वारा स्थिर रहता है। इसी कारण वृक्ष के जीवन की प्राणलीला स्वाधीन होकर भी स्वाधीन नहीं है। इसी कारण प्राकृत जगत् में दिखाई देनेवाला सौन्दर्य कलागत सौन्दर्य की अपेक्षा हीन होता है। [१]

---

1. The beauty of nature, however, exhibits great defects. What are above all necessary for the exhibition of true beauty are infinitude and freedom. The Idea, as such is absolutely infinite. The Idea is constituted by three factors, viz, (1) the unity of the Notion, which puts itself forth into (2) differences, plurality, objectivity, which return again into (3) the concrete unity of the above two factors. Now what is essential here is that it is the Notion itself, which puts itself forth into differences, and then overreaches the distinctions within itself, which it has thus created. Its entire development is a development out of its own resources It is thus wholly self-determined, infinite and free. Hence the beautiful object, if it is truly to manifest the Idea must itself be infinite and free. It must, as in organism, evolve all its differences out of itself. They must be seen to proceed out of the ideal unity which is its soul.

    Now it is true that the living organism, regarded as a part of nature, does in a sense determine itself. Nevertheless as being a mere link in the infinite net-work of the necessity of nature it is unfree. The animal, for example, is wholly determined by its environments. Even man as a part of nature is thus externally determined. To a large extent he acts under the compulsion of his various physical and material needs. He is involved in that general net-work of necessity which is the universe, The beauty of nature, therefore, is essentially defective on account of the finitude of

वास्तविक सौन्दर्य के प्रकाशन के लिए वस्तु में व्यापकता और स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए। उदाहरणतः, आइडिया स्वतन्त्र और व्यापक होता है। इसके तीन अंग हैं: १—ऐक्य, २—बहुत्व और ३—सम्मिलन। ऐक्य ही बहुत्व में परिवर्तित होकर पुनः अपने-आप ऐक्य रूप में उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार यदि प्राकृतिक वस्तु को सुन्दर कह सकते हैं तो उसे स्वतन्त्र और व्यापक दोनों होना चाहिए। वह अपने ही आप आत्मप्रसार कर सके, किसी बाहरी वस्तु पर निर्भर न रहे। उसी में से उसका बहुत्व प्रकट हो और उससे भी उसके एकत्व का संकेत मिलता हो। किन्तु प्रकृति अथवा पशु इस प्रकार स्वतंत्र नहीं होते। वह देश, काल आदि परिस्थितियों से बँधे रहते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य भी देश, काल आदि का चेरा है। वह अपनी शारीरिक अथवा भौतिक आवश्यकताओं के अनुकूल काम करता है। इस प्रकार प्रकृति तो पूर्णतया अस्वतन्त्र और ससीम जान पड़ती है। ऐसी दशा में यदि हमें परमतत्व का साक्षात्कार करना हो, उसे जानना हो तो हमें प्रकृति के स्तर से ऊपर उठना पड़ेगा। हमें अपने ही अन्दर उस आत्मप्रसार और व्यापकता को देखना होगा, उसकी शक्ति अर्जित करनी होगी। कला की सृष्टि इसी उद्देश्य से होती है। उसके द्वारा हम आत्मप्रसार करते हैं। अपने ऐक्य में छिपे हुए बहुत्व को कला द्वारा प्रकट करते हैं और पुनः उनमें ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार कलासृष्टि में प्रकृति की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य होता है। कला में ही वास्तविक चिद्विलास प्रकट होता है। उसी से सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य में चित् तत्व का स्वगत, स्वतन्त्र स्वभाव स्पष्टतया प्रकाशित नहीं होता। उसमें ऐन्द्रिय रूप ही माध्यम बनकर थोड़ा-बहुत सौन्दर्य प्रकट करते हैं। अतएव इस रूप में प्रकाशित होनेवाला चित् तत्त्व का आत्मप्रकाश ससीम मात्र रह जाता है। ससीमता में वह सौन्दर्य कहाँ जो व्यापकता और स्वतन्त्रता में दीख पड़ता है। वास्तविक सौन्दर्य तो यह दूसरा ही है। आन्तरिक चिद्विलास जब किसी जड़वस्तु, किसी वर्णच्छटा, सुर अथवा मानसिक कल्पना में अपने को व्यक्त करता है, तब उस प्रकाश में प्रकाश्यमान वस्तु का चित् तत्व एकता धारण कर सकता है। जड़ स्वरूप के माध्यम से अन्तःस्वरूप प्रकाशित नहीं होता, अतएव किसी छवि को आँकते समय उस प्रतिकृति में चित्र

---

natural objects. If, therefore, the human mind is adequately to apprehend the Absolute in sensuous form, which is the demand of spirit in the present sphere, it must rise above nature. It must create objects of beauty for itself. Hence arises the necessity of Art. (The Philosophy of Hegel, by W. T. State, PP. 445-46).

और मनुष्य के केवल जड़ स्वरूप—जैसे, उसके शरीर का कोई एक दाग या व्रण इत्यादि—को प्रकाशित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल प्राकृत स्वरूप का अनुकरण करना कला का उद्देश्य नहीं होता। कला के अन्तर्गत उन वस्तुओं को ग्रहण करना आवश्यक है जिनसे आन्तरिक रूप व्यक्त होता हो। आंतरिक रूप से सम्बन्ध न रखकर केवल बाह्य रूप में उससे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु का प्रकाशन ही कला का उद्देश्य नहीं होता, क्योंकि वह अंश कला के आइडिया के क्षेत्र में नहीं आता।[1]

कला जिस प्रकार प्रकृति का अनुकरण नहीं करती उसी प्रकार वह नीति या उपदेश को भी लेकर नहीं चलती। कला को नीति-शिक्षा का वाहन बना देने पर उसका स्वातन्त्र्य कलंकित होता है। इस कारण हेगेल का मत है कि जिस प्रकार प्राचीन कथा के अवलम्बन से कला का आत्मप्रकाश सिद्ध हो सकता है उसी प्रकार वर्त्तमान युग की कथाओं से नहीं हो सकता। प्राचीन युग के चरित्रों में जिस प्रकार की स्वतन्त्रता पाई जाती है, आधुनिक युग के मनुष्य में वैसी नहीं पाई जाती। वर्त्तमान युग के समस्त चरित्र समाज, रीति-नीति, नियम-कानून के द्वारा इस प्रकार जकड़े हुए हैं कि उनके माध्यम से चिद्विलास की स्वतन्त्रता की रक्षा करना कठिन है। इस कारण किसी आपत्ति के समय कला उसी चरित्र को अंकित करना चाहती है जो दुःख के निदारुण आक्रमण के बीच भी अपने को पराजित नहीं मानता। दुःख के आक्रमण से शरीर का नाश हो सकता है, किन्तु उससे अन्तरात्मा की मर्यादा को तनिक भी हानि नहीं पहुँचती। प्रोमेथ्यूस (Prometheus) के चित्र से पता चलता है कि असह्य यातना सहन करते हुए भी उन्होंने अपने चित्त को नितान्त स्थिर एवं दृढ़ बनाये रखा और उद्वेग या भय में निहित सत्य और न्याय के मार्ग से वह विचलित नहीं हुए। हेगेल ने मुरिलो (Murillo) के कुछ भिखारियों के लड़कों के चित्र की आलोचना करते

1. Thus in portrait painting, such pure externality as wart and the skins, scars, pores, pimples etc, will be left out. For these do not exhibit anything of the inner soul, the subjectivity which has to appear in manifestation. Art does not slavishly imitate nature- On the contrary it is just the pure externality and the meaningless contingency of nature that it has to get rid of. In so far as it takes natural objects as its subject matter at all its function is to divert them of the unessential, soulless, crass-concateness of contingencies and externality which surround them and obscure their meaning, and to exhibit only those traits which manifest the inner soul or unity. (Ibid. 447).

हुए दिखाया है कि दारुण दारिद्र्य में भी वे अविकृत चित्त से उसी प्रकार घूमते फिर रहे हैं। कला में मनुष्य का चरित्र व्यक्त करते समय उस मनुष्य की सर्व-साधारण आध्यात्मिक दशा का प्रकाशित होना आवश्यक है। आध्यात्मिकता को जितना ही रूप के माध्यम से स्पष्ट प्रकट किया जा सकता है, उतनी ही कला सार्थक होती है। आध्यात्मिक शब्द से इस स्थान पर 'मनुष्य के अन्तर का समस्त भाव' अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् प्रेम, वात्सल्य, वीरत्व, उत्साह तथा क्रोध आदि को ग्रहण करना चाहिए।[१]

प्रत्येक कला में चिद्विलास तथा वास्तव शरीर दोनों को होना चाहिए। कला में चिद्धर्म का इस प्रकार प्रकाशन होना चाहिए जिससे वह समस्त चरित्रों के अन्तःस्थल में इस प्रकार आत्मप्रकाश करे कि उसी शरीर के प्रधान अंग-प्रत्यंग उसी चित् विभावना से विभावित हो जाँय।[२] किन्तु सदैव ही किसी भी कला के वस्तु-भाग और चित्-भाग दोनों का सामंजस्य नहीं होता। कहीं वस्तु-भाग अधिक होता है और कहीं सामंजस्य या कहीं चित्-भाग। हेगेल ने कहा है कि प्राच्य देशीय कला में वस्तु की प्राधानता, यूनानी कला में सामंजस्य तथा आधुनिक रोमानी कला में चिद्विलास की अधिकता है।

कला का विभाजन करते हुए हेगेल ने वस्तु के अंश की प्रधानता के कारण स्थपतिविद्या को निम्नतम स्थान दिया है। राशि-राशि ईंट, काठ, पत्थर आदि के द्वारा मन्दिर, इमारत या प्रासाद का निर्माण होता है। उसमें स्थपति अपने मनोभावों को बहुत ही कम व्यक्त कर पाता है। ईंट तथा काष्ठ के समान स्थूल पदार्थों के द्वारा चित्त के सूक्ष्म भावों का प्रकाशन संभव नहीं होता। इसी प्रकार यूनानी कला में भी देखा जाता है कि मन के भावों की अभिव्यक्ति के साथ बाह्य

1. Where it is human life that is depicted it will be the essential universal rational interests of humanity that will form its substance—the core of human life—the moving forces of the spirit. These universal and rational interests are in fact those which have been shown to be necessary in the course of the dialectic, the interests, for example, of the family, love, the state, society, morality and so on. (Ibid 499).
2. All that is essential is that it should be capable of acting as a focal centre of unity which displays itself in and permeates each and every part of the material embodiment. For the control of all the parts of the work of art under a single central unity, so that the whole forms an organic being, in which the unity is as the soul and the plurality of the material embodiment is as the body—this is what we saw to be necessary for the manifestation of the idea in a sensuous medium.

उपादान् का एक ऐसा सामंजस्य-योग होता है कि वस्तु भी चिद्‌विलास का अति-क्रमण नहीं करती। चिद्‌विलास भी वस्तु का अतिक्रमण नहीं करता। चित्र, संगीत और काव्य इन तीनों को हेगेल ने रोमानी (रोमेंटिक) कला में स्थान दिया है। इनमें वस्तु का अतिक्रमण करके मनोभावों की अभिव्यंजना अधिक संभव होती है।

यद्यपि हेगेल ने यूनानी शिल्प की बहुत प्रशंसा की है कि उसमें चिद्‌विलास एवं वस्तुभाव का यथायोग्य सामंजस्य है, तथापि प्लेटो, अरस्तू आदि के मत की पर्यालोचना करने से पता चलता है कि उन्होंने कला को प्रकृति की अनुकृति मात्र माना है। उन्होंने नीति-शिक्षा युक्त कला को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। इस दृष्टि से यूनानियों में कला सम्बन्धी किसी विशेष उच्च धारणा का परिचय नहीं मिलता। किन्तु अरस्तू ने अपने 'पोयटिक्स' ग्रंथ में त्रासदी (ट्रेजेडी) के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि समग्र के साथ अंश का सामंजस्य ही सौन्दर्य का प्राणप्रद धर्म होता है। जो यथार्थ सुन्दर है उसके किसी अंश के छूट जाने पर ही उसका सौन्दर्य व्याहत होगा। किसी भी काव्य की रचना करने के लिए उसमें किसी एक घटना को संघटित होना चाहिए वह घटना इस प्रकार कल्पित होनी चाहिए कि उसके समस्त सुविन्यस्त अंगों में तनिक-से भी परिवर्तन से पूरे काव्य का ही सौन्दर्य नष्ट हो जाय। जिसके परिवर्तन से समग्र को तनिक भी हानि नहीं पहुँचती वह अंश समग्र का अंग नहीं कहला सकता और न उसे इस प्रकार ग्रहण ही करना चाहिए।[1] एकत्व में बहुत्व के सम्मिलन को यूनानवालों ने सौन्दर्य का एक प्रधान कारणभूत लक्षण माना है। इसी कारण रेखा आदि के परस्पर मिलन के सामंजस्य को उन्होंने सौन्दर्यसृष्टि का कारण बताया है। इस कारण अरस्तू ने अपने अध्यात्मविद्या 'मेटाफिजिक्स' ग्रंथ में कहा है कि गणित-शास्त्र सौन्दर्यतत्त्व का निर्देश कर सकता है। रेखाओं के परस्पर मिलन-सामंजस्य में परम्परा या साम्य से सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है।[2] प्लेटो ने अपने 'फिलेबस' (Philebus)

---

1. Just as in all other representative art a single representation is of a single object, so the story of a drama being the representation of an action must be of a single one, which is the whole ; and the parts of the scheme of incidents must be so arranged that if any part is transposed or removed the whole will be disordered and shattered ; for that of which the presence or absence makes no appreciable difference, is no part of the whole. (Aristotle's Poetics, viii. 4.)

2. The main species of beauty is order symmetry, definite limitation and these are the chief properties that the mathematical sciences draw attention to.

ग्रंथ में बहुत कुछ इससे मिलती-जुलती बातें लिखते हुए कहा है कि परिमाण और सामंजस्य से सौन्दर्य की रचना हो सकती है। उसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा है कि आकृति-सौन्दर्य का अभिप्राय किसी प्राणी के शरीर की आकृति का निर्देश करना नहीं होता, बल्कि उससे सरल रेखा, वृत्त, त्रिभुज आदि निष्कोण या कोण युक्त गणित सम्बन्धी आकार का बोध होता है। अन्यान्य सुन्दर वस्तुओं को आपेक्षिक रूप में ही सुन्दर कहते हैं, किन्तु इनके सौन्दर्य को आपेक्षिक सौन्दर्य नहीं कहते। इनका सौन्दर्य निरपेक्ष-सौन्दर्य होता है एवं ये अविमिश्र आनन्द उत्पन्न कर सकते हैं।[1] केवल रेखा, वर्ण या शब्द के सामंजस्य से उत्पन्न होने वाले सौन्दर्य को तो प्लेटो जानते थे, किन्तु किसी समग्र वस्तु के आन्तरिक ऐक्य और सामंजस्य से उत्पन्न होनेवाले सौन्दर्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई है। विशुद्ध वर्ण या ध्वनि का सामंजस्य मानने का क्या अभिप्राय है यह समझाना तो कठिन है ही साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि वैसा किया भी जा सकता है कि नहीं। फिर भी काण्ट भी बहुत कुछ इसी पथ के पथिक ज्ञात होते हैं। इस सम्बन्ध में हम पूर्व प्रकरण में विचार कर चुके हैं। बोसांके ने कहा है कि इन सभी स्थलों पर सौन्दर्य सम्बन्धी मतों में एकत्व में बहुत्व के मिलन-सामंजस्य की स्वीकृति पाई जाती है। छन्द तथा संगीत का विचार करते हुए भी प्लेटो ने 'रिपब्लिक' ग्रंथ में इस बहुत्व में एकत्व के सामंजस्य की चर्चा की है। उन्होंने कई बार आध्यात्मिक सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी विचार किया है। फिर भी उन्होंने यह नहीं बताया कि इस आध्यात्मिक सौन्दर्य से साथ दृश्यमान ऐहिक सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है? संगीत के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि किसी-किसी संगीत में मन के उच्च भाव प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार के संगीत को सुन्दर

1. The principle of goodness has reduced itself to the law of beauty. For, measure and proportion always pass into beauty and excellence. (Philebus P. 64) ...... I do not mean by the beauty of form such beauty as that of animals or pictures which the many would suppose to be my meaning; but says the argument, understand me to mean straight lines and circles, and the plane and solid figures which are formed out of them by turning-lethes and rulers and measurers of angles; for these I affirm to be not only relatively beautiful like other things but they are eternally and absolutely beautiful and they have peculiar pleasures quite unlike the pleasures of irritating and itching place and there are colours which are of the same character and have similar pleasures...... When sounds are smooth and clear, and utter a single pure tone, then I mean to say that they are not relatively but absolutely beautiful and have a natural pleasure associated with them. (Philebus. P. 51).

कहा जायगा। रेखादि के परस्पर सामंजस्य से घटित होनेवाले सौन्दर्य के अतिरिक्त सभी प्रकार के सौन्दर्य के सम्बन्ध में उन्होंने श्रेय-विधायकता, नैतिक उत्कर्ष-कारिता तथा मंगलकारिता को सौन्दर्य का कारण माना है। अर्थात् जहाँ इन तीनों का विधान होता है वहीं सौन्दर्य दीख पड़ता है। श्रेय और मंगल में ही सौन्दर्य है। अरस्तू ने सौन्दर्य को चित्स्फूर्ति मान लिया है और कहा है कि काव्य-सृष्टि के समय सौन्दर्य के स्पर्श के प्रभाव से कवि एक नूतन तत्व की सृष्टि करता है। यह तत्वसृष्टि समालोचक की अन्वीक्षामूलक तत्वदृष्टि से भिन्न होती है। सुकरात ने उपकारक को ही सुन्दर मान लिया है। हम पहले बता आये हैं कि प्लेटो श्रेयस्कर तथा उत्कर्ष-विधायक को ही उत्कृष्ट सौन्दर्य मानते थे। बहुत बार तो उन्होंने केवल आनन्ददायक सौन्दर्य और उत्कर्ष-विधायक सौन्दर्य में परस्पर तारतम्य का भी विचार किया है। आनन्द के भी प्लेटो ने दो भेद कर दिये हैं। एक है शुद्ध और दूसरा मिश्र। रेखा तथा वर्ण आदि के जिस सामंजस्य से त्रिकोण, चतुर्भुज, वृत्त आदि रेखा-संस्थान को देखने पर आनन्द प्राप्त होता है, प्लेटो उसी को विशुद्ध आनन्द मानते हैं। जो आनन्द किसी प्रकार की प्रयोजन-सिद्धि के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न नहीं होता वह मिश्र कहलाता है। इस विमिश्र आनन्द में सुख-दुःख का मिश्रण रहता है। फिलेबस (Philebus) और जार्जी (Gorgies) नामक ग्रंथों में उन्होंने यह धारणा प्रकट की है कि सौन्दर्य के साथ आनन्द सदैव संयुक्त रहता है। यह आनन्द नितान्त ऐन्द्रियक होता है और ऐन्द्रियक रूप आदि के संभोग करने से उत्पन्न होता है। बहुत-से स्थलों पर तो इससे केवल रेखा आदि के सामंजस्य का बोध मात्र होता है। प्लेटो ने सौन्दर्य के साथ आनन्द का सम्बन्ध तो बताया, परन्तु इसे विशेषतः सौन्दर्यानुभूति-जनित या वैद्यिक आनन्द (ऐस्थेटिक इंटरेस्ट या डिलाइट) नहीं कहा जा सकता। फिर भी प्लेटो ने जिस कारण साधारण आनन्द को निकृष्ट बताकर केवल रेखादि-विन्यास-जनित आनन्द को उत्कृष्ट कहा है, उससे यह संकेत अवश्य मिलता है कि सौन्दर्यबोध के आनन्द की ओर उनकी दृष्टि बहुत कम गई है। बोसांके के शब्दों में मूल बात तो यह है कि प्लेटो ने केवल रेखादि-विन्यास के सम्बन्ध में स्वतन्त्र वैद्यिक आनन्द का महत्त्व स्वीकार किया है, किन्तु सौन्दर्य की अन्यान्य उच्च अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में उनका ध्यान नैतिक श्रेय की ओर ही झुका रहा है। यहाँ तक कि उन्होंने उस समस्त क्षेत्र में स्वतन्त्र वैद्यिक आनन्द का विशिष्ट स्थान भी स्वीकार नहीं किया![1]

---

1. **The conclusion must be that Plato has a clear view of asethetics as**

अरस्तू ने प्रायः कला-मात्र को ही अनुकरण-प्रसूत माना है। किसी वस्तु को देखकर उसे तद्रूप अंकित करने या उसका उसी रूप में वर्णन करने पर हम उसी अंकित, चित्रित या वर्णित वस्तु के साथ मूलवस्तु का ऐक्य पाकर जब उस सम्बन्ध में विचार करने लगते हैं तब उस बुद्धि-परिचालन से आनन्द उत्पन्न होता है।[1] अरस्तू ने कहा है कि काव्य और संगीत में मनुष्य के मन की अमूर्त्त अवस्था को मूर्त्त रूप देना संभव है। दूसरी किसी भी कला में ऐसा नहीं हो सकता। अमूर्त्त भाव का कोई भी मूर्त्त सादृश्य नहीं दिया जा सकता। इस कारण काव्य और संगीत से उत्पन्न होने वाले सादृश्य को एक नूतन-जातीय सृष्टि ही कहना चाहिए। संगीत के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि संगीत में श्रोता के मन में इस प्रकार की विशिष्टजातीय हलचल उपस्थित होती है जिससे उसे सुनने मात्र से ही एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न हो जाता है। मन के इसी विशिष्ट स्पन्दन को किसी प्राकृत वस्तु या अन्तर्वस्तु की प्रतिकृति नहीं कहा जा सकता। दुःख का विषय है कि अरस्तू ने इस विशिष्ट मनःस्पन्दन को विशिष्टजातीय नैतिक अनुभूति माना है। यद्यपि अरस्तू कला को अनुकृति मानते थे तथापि ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने सर्वत्र उसके उसी स्वरूप को स्वीकार नहीं किया है। बहुत-से स्थलों पर तो नैतिक आनन्द को ही कला का आनन्द मानकर वे भ्रम में पड़ गये हैं। सौन्दर्य और श्रेय दोनों को एक मानकर चलना ही अरस्तू की प्रधान दुर्बलता है। अरस्तू ने जस प्रकार एक ओर समस्त सौन्दर्य को अनुकृतिमूलक माना है दूसरी ओर सौंदर्य के आनन्द को श्रेयत्व का आनन्द माना है और उसी के साथ कला को एकत्व में बहुत्व की धारणा भी बताया है। प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ने इन दोनों रूपायनों को रेखा-वर्णादि के सामंजस्य (सिमेट्री) का फल माना है, किन्तु प्लोटीनस (Plotinus) ने कला की व्याख्या में कहा है कि उसमें जगत के व्यापार में प्रवाहित होने

distinct from real interests only in so far as he recognises a peculiar satisfaction attending the very abstract manifestations of purely formal beauty. In those common forms of representation which we think the higher arts, he was unable to distinguish pleasure of expressiveness from the practical interests of morality, which he desired to see predominent, and the pleasure of realistic suggestion which he utterly condemned. (History of Aesthetics P. 53).

1. Literally understood the above passages account for the pleasure that we take in the representation of the unpleasant, by our enjoyment of the intellectual act and achievement involved in simply recognising the object portraited. (Ibid. P. 68).

वाली चित्प्राणों की धारा को प्रकाशित करने की चेष्टा की जाती है। जहाँ चित्प्राण अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति प्राप्त नहीं करते, वहीं वे असुन्दर हो जाते हैं। चित्प्राणों के प्रस्फुटन में ही श्रेय का आविर्भाव होता है। इसी कारण प्लोटीनस ने कहा है कि केवल सामंजस्य के द्वारा कला की सिद्धि नहीं होती अपितु उसकी सिद्धि का कारण है चिदभिव्यक्ति। मृत और जीवित दोनों के शरीरावयव का सामंजस्य एक ही प्रकार का होता है, उनमें केवल चिदभिव्यक्ति का ही अन्तर है। एक में वह नहीं है और दूसरे में है। इसी कारण मृत और जीवित के सौन्दर्य में इतना पार्थक्य है। प्राचीन युग में सर्वप्रथम प्लोटीनस ने ही चित्प्राण को आर्ट का प्रधान लक्षण बताया है।

पारिभाषिक शब्दावली

Absolute निरपेक्ष
Absolute Spirit विशिष्ट सत्ता, चित्तत्व
Abstructions विश्लेषणात्मक विकल्प
Aesthetic वैक्षिक
Aesthetics सौन्दर्यशास्त्र, वीक्षाशास्त्र
Aesthetic activity वीक्षामूलक व्यापार
Aesthetic interest वैक्षिक आनन्द
Aesthetic delight वैक्षिक आनन्द
Aesthetic experience वैक्षिक अनुभूति
Anatomical structure अवयव संस्थान
Angle कोण
Antithesis प्रतिपक्ष
Apparent proportion प्रत्यक्षानुपात
A—priore आभ्यन्तरीण, आन्तरिक
Art रूपायन, कला
Artistic कलात्मक
Artistic composition and grouping सन्निवेश-वैचित्र्य और सामंजस्य
Beauty रमणीयता, सौंदर्य
Becoming व्यापार
Being सत्
Biological personality जैवपुरुष
Category अन्तस्तत्व
Concept सामान्य, प्रमा, जाति
Concrete मूर्त्त, विशेष
Concrete universal सामान्य विशेषात्मक
Confused आवरणात्मक
Confused acts of thoughts रूप आवृतक ज्ञान
Conformity with nature प्रकृति से सादृश्य
Constant कूटस्थ
Constructive proportion संघटनात्मक अनुपात
Content विषयवस्तु
Contemplative तत्प्रणिधान स्वभाव
Contemplation ध्यान-व्यापार
Creation रचना
Creative movement स्वतंत्र कवि-व्यापार
Deduce निर्णय
Design आकार
Determining attribute अवच्छेदक धर्म
Dialectic method द्वन्द्व पद्धति
Distinctive subjective purpose व्यक्तिगत स्वार्थ, आभ्यन्तरिक उद्देश्य
Differentiating special व्यवर्तक धर्म
Economic activity योगक्षेममूलक व्यापार

Eionfuhlung तादात्म्य
Emotion भावसंवेग
Emotional thrill चमत्कार
Emotional compliments व्यभिचारीभाव
Empathy तादात्म्य
Energy शक्ति या वीर्य
Essence तत्व
Ethics आचारशास्त्र
Expression अभिव्यक्ति, परिस्फूर्त्ति
(Perfect) expression पूर्ण अभिव्यक्ति
Extremist अतिवादी
Extreme idealist एकान्त परिकल्पनावादी
Faculty of imagination विकल्पवृत्ति
Fancy स्वच्छन्दप्रवाह कल्पना
Feeling वेदना, भावसंवेग, भावात्मक अनुभूति
Form स्वरूप, आकार, प्रकाशभंगी
Formless स्वरूपहीन
Good श्रेय
Goodness of morality आध्यात्मिक मंगल
Idea जाति, प्रत्यय
Ideal of Reason अतीन्द्रिय अनुभव
Imagination ऐच्छिक कल्पना, स्वेच्छाकृत संकल्प
Impressions स्पर्श, संस्कार, प्रभाव
Inductive methods व्याप्तिग्रह पद्धति
Inspiration आवेश, प्रेरणा
Intuition दर्शन, अध्यात्मदर्शन, विशेषज्ञान, ईक्षणवृत्ति
Intuitive activity वीक्षा व्यापार
Judgement संश्लेषात्मक वृत्ति, समीक्षावृत्ति
Logical अन्वीक्षाजन्य
Logical activity अन्वीक्षामूलक व्यापार
Logical faculty अन्वीक्षावृत्ति
Logical personality बौद्ध पुरुष
Matter वस्तु
Man of taste सहृदय
Metaphysics अध्यात्म विद्या
Moderation संयम
Moral Science नीतिशास्त्र
Nature प्रकृति
Notion विकसनशील चेतना
Object विषय
Objective बहिर्व्यक्त, विषयनिष्ठ
Objective spirit असत्ता
Obscure conception qua obscure अमूर्त्त ज्ञान
Original unity औत्पत्तिक सम्मेलन
Passion भावसंवेग
Passionality भावसंवेग
Perception इन्द्रिय दर्शन, ऐन्द्रिय ज्ञान
Perfection पूर्णता
Personality व्यक्तित्व, व्यक्तिगत विशिष्ट सत्ता

Phenomenal दृश्य रूप
Philosophy of Art कलादर्शन
Philosophy of Religion धर्मदर्शन
Pleasant सुखबोध
Plain समतल
Political Philosophy राज्यदर्शन
Polyhedron बहुभुज क्षेत्र
Powers of imagination विकल्पवृत्ति
Practical प्रायोगिक
Practical activity विधिमूलक व्यापार
Practical science कार्य-निष्पादकशास्त्र
Product of aethetic activity वीक्षा दृष्टि से प्रकाशित
Prophet भविष्यद्द्रष्टा
Proportion अनुपात
Pseudo-concept सामान्याभास
Psychology मनोशास्त्र
Pure non-sensuous universals विशुद्ध जातिसमूह
Pure intuition स्वयंप्रकाश ज्ञान
Quality गुण-धर्म
Quantity परिमाण
Real सत्
Reason अलौकिक अनुभूति, अन्तर्दृष्टि, अतीन्द्रियता, अवश्यभावि-नियम
Romantic रोमानी
Rhythmic Vitality सजीवता
Science विज्ञान
Self-realization आत्मपरिचय, आत्म साक्षात्कार, आत्मलाभ
Sense-perception ऐन्द्रिय बोध
Sentiment भावानुभूति
Spirit चित् स्फूर्ति, चित्तत्व
Subject विषयी
Subjective व्यक्तिनिष्ठ, अन्तर्व्यक्त
Subjective Spirit सत्ता
Subjectional unity अधीन सम्मिलन
Sublime गांभीर्य
Sublimity गांभीर्यबोध, उदात्तता
Suitability of colouring वर्ण-सामंजस्य
Symmetry साम्य, सुसंगति, सामंजस्य
Synthesis सन्तुलन
Taste रुचि
Teleological judgement उद्देश्य-विधेय संबंध
Theoretic आन्तर व्यापार से उत्पन्न
Theoretical activity आन्तर व्यापार
Theoretical science मननशास्त्र
Thesis पक्ष
Tragedy त्रासदी
Truth सत्यता, सत्याभिव्यक्ति
Typical beauty बाह्य सौंदर्य
Understanding बुद्धि
Unknowable अज्ञेय
Universal सर्वनिष्ठ
Utility उपयोगिता
Vital आन्तर
Vital beauty आन्तर सौंदर्य, जैवसौंदर्य

नामानुक्रमणिका

[अकारादि क्रमानुसार]

अ

अभिनवगुप्त ४४, ५७, ९६, १६७

अलसिनी २२२

अरस्तू २९, १०३, ११९, १६३, २५४, २७३, २७६

आ

आइडियल्स ऑव इंडियन आर्ट ४७

आनन्दवर्धन ४३, ९६, १५२, १६२

आनन्दकुमारस्वामी डॉ० ४८

ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री १५६

ऑटमनल टिन्ट्स १०४

इ

इलियट २८

इलियड २२१

ई

ईगोइस्ट २४७

उ

उज्वलनीलमणि ४१

ए

एंजिल्स ३३

एक्विनस, टॉमस २४, २१३

एडीसन १०३

एनीड १५८

एचिलस ६५

ए ट्रीटाइज ऑन वर्च्यू एण्ड हैपिनैस २१४

ए लिसन ९

ऐ

ऐस्थेटिक { (बोसांके) १२२, १२३, १४८, (हेगेल) २५४-२५५

ओ

ओल्डेनबर्ग ३६

ओविड २२२

ओवङ सेन २३५

औ

औचित्य विचारचर्चा ४२

ऋ

ऋग्वेद ३६, ३७, ३८

क

कजिन, विक्टर २०, २१

कन्फूशियस २३१, २३२

कविकण्ठाभरण ४२

कश्यप मृदंग २३२

क्लड २४०

कांट १२, २१, २२, २३, २४, २५, २७, २८, २९, १०३, ११८, १५४, १५५, १६१, १९४, १९५, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०४, २०५, २१२—२१६, २२०, २२५—२२७, २५६, २५९—२६२, २७४

कांस्टेबुल २४०

काराची २४०

कार्लाइल १०५

कालिदास ३६, ३९, ४०, ५०, ११२, १५२, २२९
किरातार्जुनीय ४१
क्रिटिक ऑव जजमेण्ट अनु० मेरेडिथ २१, १६१
क्रिटिक ऑव प्योर जजमेण्ट २२, १९५, २००, २०१, २०५
क्रिटिक ऑव प्योर रीजन २२, १९५, १९७, १९८, २००, २१५
क्रिटिक ऑव प्रैक्टिकल रीजन १९५, १९९, २००
क्रिटिकल फिलासफी ऑव काण्ट २१७
कु ओ सि २३४
कुकइची २३३
कुन्तक ८, ४४, ४५, १०५, ११३
कुमारसंभवम् ४०, ५०
केम्पस्मिथ १९७
कोलरिज १५१
कैय्यट ९३
कैरिट १०४, ७६, १५२
कैर्ड २१७
क्रोचे ११--१८, २६, २९, ४५, ५३, १०३, १०६, १०७, १०९, १११—१२१, १२३—१४०, १४२--१५७, २५१, २५३

ग

गाइल्स २३१, २३३, २३४
गेटे ३४, २४५

च

चन्द्रगुप्त —(द्विजेन्द्रलाल राय) १५२
चवन २३२
चाऊ २३१
चित्रसूत्र ५०
चेंग ह्यांग २३१

ज

जगन्नाथ, पण्डितराज ४३, ४४, ४८, ४९, ५५, ५८, ६५, ६६, ६७, ६९, ८०, ९१
जॉर्जी २७५
जॉनसन् १००
जामाई वारिक १५२
जिमरमैन ए० १९५
जेन्टील १५४
जेफ्रे, या ज्वायफ्रे ९, २०
जोग (रा० श्री०) ९

ट

टॉमस एक्वीनस दे० एक्वीनस
टॉल्सटॉय १८, १९, १६९, १७०--१७४, १९२
टिटियन २४०
ट्रांसफ़ार्मेशंस—(रॉजरफ्रे) २३५, २४६

ड

डायरी ऑव मैडम द अर्ब्ले १००
डार्विन ३३
डिफेन्स ऑव पोएज़ी १६१
डेकार्ट १९४

त

तिमोए १६०

थ

थियोरी ऑव ऐस्थेटिक्स १०७
थियोडोर लिप्स दे० लिप्स
थोरो १०४

द

दण्डी ४७
दशकुमारचरितम् ४७

द थियोरी ऑव ब्यूटी १५२
द हिन्दू व्यू ऑव आर्ट ४८
द रेनेसां ७०
द ब्यूटीफुल २४८
द स्पिरिट ऑव मैन इन एशिया २३७, २३८
द स्पिरिट ऑव माडर्न फ़िलासफ़ी ११६
दान्ते ४८
दासगुप्त (डॉ०) ५, ११, १३, १४, १६, २८, ४९, ५०, ५१, ५३, ५८
द्विजेन्द्रलाल राय १५२
दीनबन्धु मित्र १५२

ध

धम्मसंगिनी ५१
ध्वन्यालोक ५१, १६७

न

नाट्यशास्त्र ५७
नैटेल्टन २४, २१४

प

पंडितराज दे० जगन्नाथ
प्लेटो १८, १९, २१, २७, २८, ५१, ६९, १०६, १५१, १५८, १५९—१६१, १९५, २५४, २५५, २५९, २७३—२७५
प्लाटीनस १८, १९, १५८, २७६, २७७
प्रोमेथ्यूस २७१
प्रोब्लमे द ऐस्थेटिका १४०
पिशेल ३६
पीटर ७०
पूस्यां २४०
पोएटिक्स २७३

फ

फंडामेंटल्स ऑव द इंडियन आर्ट ५०
फ्लोरेंस ९८
फ़ाइव क्लासिक्स २३१
फ्रायड २८, ३०
फ़िलासफ़ी ऑव द प्रैक्टिकल ११८, १४०, १४३
फ़िलासफ़ी ऑव हेगेल २७०, २७१, २७२
फ़िलिप सिडनी (सर) दे० सिडनी
फ़िलेबस २७३, २७४, २७५
फ़ीड्रस १५८, १५९, १६०, १६१

ब

बँगला जातीय साहित्य १७०
बटलर ९८
बर्क १८, २४, १०३, १७७, १८५, १८६, १९५, २१७, २१९, २२०, २२२, २२५, २२६, २५०
बलिओ १७१
बाइबिल १६१
बॉमगार्टेन ६९, १९४, १९५, २२५
बार्नेट १०३
ब्राउनिंग ६९, ८१, ८२
बिठोवेन १७१
बिनयान दे० लारेंस
बुद्धघोष ५१
बुलो २९
ब्रुग्हेल २४०
बेन ९
ब्रैडले १५२, १५६, १५७, २६३
ब्रैनर्सी २३६
बोसांके (बर्नार्ड) २२, २५, २६, १९८, २००, २४४—२५३, २७४, २७५

भ

भरतमुनि ६८, ६९, ९६, १०१